साधारण-मनोविज्ञान

[बी. ए. कक्षा के लिये]

(तृतीय परिवर्धित समुचित संस्करण)

लेखक

श्री राम सूरत लाल

एम० ए० (अंग्रेजी, मनोविज्ञान), एल० टी०
मनोविज्ञान-केन्द्र, उत्तर प्रदेश, प्रयाग

तथा

श्री राम गोपाल मिश्र

एम० ए० (गणित, मनोविज्ञान), एल० टी०
मनोविज्ञान-केन्द्र, उत्तर-प्रदेश, प्रयाग



प्रकाशक

पो० बा० ६६, गर्ग-ब्रदर्स, प्रयाग

प्रकाशक
गर्ग-ब्रदर्स
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण १९५२
द्वितीय संस्करण १९५६
तृतीय संस्करण १९६२

मूल्य ७॥)



मुद्रक
आर० एन० गर्ग
गर्ग प्रेस
१, कटरा रोड, प्रयाग।

प्राक्कथन

पिछले कुछ वर्षों में मनोविज्ञान के स्वरूप में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ है। आज के मनोविज्ञान ने अटकल और कल्पना की सीमा से पार होकर प्रयोगात्मक रीति पर अध्ययन किये जाने वाले अन्य विद्वानों की कोटि में अपने लिए एक आदरपूर्ण स्थान बना लिया है। नवीनतम प्रयोगों के आधार पर मनोवैज्ञानिक तथ्यों का निरूपण करने वाली अनेक सुन्दर पुस्तकें विदेशी भाषाओं में उपलब्ध हैं किन्तु हिन्दी में इस प्रकार की पुस्तकों के अभाव का अनुभव बहुत दिनों से किया जा रहा था। शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो जाने के कारण यह अभाव और भी व्यापक हो गया है। प्रस्तुत पुस्तक में इस अभाव को दूर करने का प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक दो उद्देश्यों को ध्यान में रखकर लिखी गई है, (१) मनोविज्ञान के सम्बन्ध में अनेक प्रचलित भ्रान्तियाँ दूर करते हुए सर्वसाधारण के सामने मातृ-भाषा में आधुनिक मनोविज्ञान के अर्वाचीन प्रयोगात्मक स्वरूप को रखना तथा (२) विद्यार्थियों के सम्मुख उनके पाठ्य क्रम की आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त एक सरल, सुग्राह्य तथा सुसंबद्ध पाठ्य पुस्तक प्रस्तुत करना। इस कार्य में हमें कहाँ तक सफलता मिली है इसका निर्णय पाठक ही कर सकेंगे।

इस पुस्तक की भाषा को यथा सम्भव बोधगम्य तथा परिमार्जित रखने का प्रयत्न किया गया है तथापि विषय की जटिलता तथा हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों की कमी के कारण यत्र तत्र दुरूहता का भास हो सकता है। जहाँ तक हो सका है हमने ऐसे पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग किये हैं जो प्रायः प्रचलित हो चले हैं। अँग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के उन पारिभाषिक शब्दों का भाषांतर करने के लिए जो अभी तक हिन्दी में अनूदित नहीं हैं हमने पारिभाषिक शब्दों के प्रामाणिक शब्द कोषों की सहायता ली है। कुछ शब्दों के हिन्दी-स्वरूप शब्द कोषों में उपलब्ध अथवा उपयुक्त न होने के कारण हमने अपनी समझ से प्रस्तुत किये हैं जिनके औचित्य का निर्णय समय ही कर सकेगा। इनसे भी बचे हुए शब्दों के

मौलिक स्वरूप को यथावत् ग्रहण कर लिया है। पाठकों की सुगमता के लिए पारिभाषिक शब्दों के अँग्रेजी-स्वरूप प्रत्येक पृष्ठ के नीचे दे दिये गये हैं।

इस पुस्तक में प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक तथ्यों के लिए हम किसी प्रकार की मौलिकता का दावा नहीं करते। यदि कुछ मौलिकता है तो वह केवल पाठ्य-विषय के प्रस्तुत करने में। मनोविज्ञान के विद्यार्थी होने के नाते हमें अंग्रेजी में लिखी गई अनेक पाठ्य-पुस्तकों को अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और हम उन सब लेखकों के आभारी हैं जिन्होंने ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से हमें प्रभावित किया तथा मातृ भाषा में यह पाठ्य-पुस्तक लिखने की प्रेरणा दी।

अन्त में हम अपने उन अनेक गुरुजनों तथा मित्रों के आभारी हैं जिन्होंने समय-समय पर विषय. भाषा, शैली आदि में आवश्यक संशोधन करने का परामर्श देकर पुस्तक की उपादेयता को बढ़ाया है।

लेखक

द्वितीय संस्करण

कुछ अध्याय जो प्रथम संस्करण में छूट गये थे इस परिवर्धित संस्करण में, विषय के एक अन्य अधिकारी विद्वान द्वारा लिखवा कर, जोड़ दिए गए हैं। यह परिवर्धन बी० ए० के छात्रों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किया गया है। आशा है छात्रगण इससे समुचित लाभ उठावेंगे। इन अध्यायों में व्यक्त विचारों का उत्तरदायित्व मूल लेखकों पर नहीं है।

प्रकाशक



विषय-सूची

अध्याय १

अध्याय २

अध्याय ३

अध्याय ४

अध्याय १९

अध्याय २०



साधारण-मनोविज्ञान

अध्याय-१

आधुनिक मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि

आधुनिक मनोविज्ञान के यथार्थ वैज्ञानिक स्वरूप को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसके ऐतिहासिक विकास का एक संक्षिप्त सिंहावलोकन कर लिया जाये। हमारी भाषा में मनोविज्ञान शब्द का वही भाव है जो अँग्रेजी भाषा में (Psychology) का माना जाता है। यह शब्द ग्रीक भाषा के (Psyche) तथा (logos) शब्दों से मिलकर बना है। इन शब्दों का अर्थ क्रमशः (Soul) अथवा आत्मन् तथा (discourse) अथवा संलाप होता है। अतः प्राचीन काल में इसके अन्तर्गत केवल 'आत्मन्' के स्वरूप, गति, उत्पत्ति तथा निलय सम्बन्धी आध्यात्मिक समस्याओं पर विचार किया जाता था। इससे स्पष्ट है कि उस समय मनोविज्ञान दर्शन-शास्त्र का केवल एक अंग मात्र समझा जाता था। उस समय के दार्शनिकों का विचार था कि यदि किसी प्रकार मनन तथा अन्तर्निरीक्षण[1] द्वारा 'आत्मन्' के वास्तविक स्वरूप को समझा जा सके तो फिर व्यवहार की व्याख्या करने में क्या कठिनाई हो सकती है।

१—Introspection.

लगभग ५०० बी० सी० के आस-पास ग्रीक दार्शनिकों ने 'आत्मन्' का स्वरूप व्यवहार तथा अनुभव का निरीक्षण तथा वर्णन करके समझने का प्रयत्न किया। यद्यपि इस रीति द्वारा बनाये गये उनके बहुत से अनुमान अब सारहीन सिद्ध हो चुके हैं किन्तु व्यवहार तथा अनुभव को जिस प्रकार विश्लेषणात्मक रूप में उन्होंने अध्ययन करने का प्रयत्न किया उसने हमारे आधुनिक मनोवैज्ञानिक ज्ञान पर पूरा प्रभाव डाला है। उन्होंने अपने विचारों का पूँजीभूत जो कोष छोड़ा उसने यथार्थ में मानसिक-दर्शन[1] अर्थात् मनस् के दार्शनिक अध्ययन का रूप धारण किया।

प्लेटो से पूर्व के कुछ ग्रीक दार्शनिक मनस को एक प्रकार की अन्तर्ज्योति[2], दूसरे उसको एक प्रकार का जल तथा कुछ उसको एक प्रकार की गति समझते थे। प्लेटो[3] (४२७-३४७ ई० पू०) ने मन और विचारों को एक समझा। उसके अनुसार विचार स्वयमेव मानव से प्रे विश्व में वर्तमान है। किन्तु अरस्तू[4] (३८४-३२२ ई० पू०) के विचारानुसार शरीर से अलग मन की कल्पना नहीं की जा सकती। वह तो यथार्थ में शारीरिक व्यापार मात्र है। जैसे-जैसे शरीर विज्ञान[5] का ज्ञान बढ़ता गया वैसे-वैसे अरस्तू की इस बात में अधिक सत्यता प्रतीत होने लगी कि व्यवहार तथा अनुभव यथार्थ में प्राणी के व्यापार हैं।

अरस्तू के बाद लगभग आठ शताब्दियों के मनोवैज्ञानिक विकास का कोई सुसम्बद्ध इतिहास न होने के कारण हमारा ध्यान पुनुरुत्थान[6] काल के एक महान् दार्शनिक डेकार्टे[7] (१५९६-१६५०) की ओर जाता है। डेकार्टे का विचार था कि प्राणी-मात्र की क्रियाएँ दो भागों में विभाजित की जा सकती हैं, एक वे जिनको यान्त्रिक[8] तथा दूसरी वे जिनको

१-Mental Philosophy. २-Inner flame. ३-Plato. ४-Aristotle. ५-Physiology. ६-Renaissance. ७-Decartes. ८-Mechanical.

बौद्धिक की संज्ञा[1] दी जा सकती है। बौद्धिक क्रियाएँ यान्त्रिक क्रियाओं से बिल्कुल भिन्न होती हैं। बौद्धिक क्रिया आत्मा का कार्य है। आत्मा अथवा मन और प्रकृति[2] एक दूसरे से स्वतन्त्र दो सत्ताएँ हैं जो आपस में एक दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं। इस दार्शनिक विचार को द्वैतवाद की संज्ञा दी गई।

इसके विपरीत स्पीनोजा[3] नाम के दार्शनिक का विचार था कि अन्ततोगत्वा मन और शरीर एक हैं। यह दोनों एक ही तत्त्व की दो अवस्थाएँ[4] हैं। इस सिद्धान्त को अद्वैतवाद कहते हैं।

डेकार्टे और स्पीनोजा के समान लाइबेनीज़[5] ने भी मन तथा शरीर के सम्बन्ध की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। उसका विचार था कि यह स्वीकार करना कि एक अभौतिक आत्मा भौतिक शरीर पर प्रभाव डालती है तभी सम्भव हो सकता है जब दोनों एक ही, आध्यात्मिक अथवा लौकिक, तत्त्व के बने हों। उसके अनुसार शरीर अपने यांत्रिक नियमों के अनुसार चलता है और मन अपने मानसिक नियमों के अनुसार चलता है। अतः शारीरिक क्रिया की व्याख्या के लिए यांत्रिक नियमों का सहारा लेना चाहिए और मानसिक क्रिया की व्याख्या के लिए मानसिक नियमों का। इस सिद्धान्त को शरीरात्मसमानान्तरता[6] की संज्ञा दी गई।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में हाब्ज़[7], लाक[8], बर्क्ले[9], ह्यूम[10], रीड[11], वोल्फ[12], बैन्थेम[13], तथा कान्ट[14] अन्य महत्वपूर्ण दार्शनिकों ने कार्य किया और अपनी रचनाओं द्वारा मनोविज्ञान की धारा को आगे बढ़ाया। इस सत्रहवीं शताब्दी में

१-Rational. २-Matter. ३-Spinoza. ४-Aspects. ५-Leibnitz. ६-Psycho-physical Parallelism. ७-Hobbes. ८-Locke. ९-Berkley. १०-Hume. १ -Reid. १४-Wolff. १२-Benthem. १३-Kant. १४-Associationism.

इँग्लैण्ड में साहचर्यवाद के सिद्धान्त का जन्म हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार जब एक ज्ञानेन्द्रिय[1] में एक प्रकार की उत्तेजना[2] का जन्म होता है और एक क्षण बाद जब दूसरी ज्ञानेन्द्रिय में दूसरी उत्तेजना का तो मस्तिष्क[3] में पहली उत्तेजना से उत्पन्न स्पन्दन होने वाले स्पन्दनों[4] के बाद ही दूसरी उत्तेजना से उत्पन्न स्पन्दन होते हैं। मस्तिष्क के अनेक भाग एक दूसरे से इस प्रकार से सम्बन्धित हैं कि फिर उसके पहली उत्तेजना के परिणाम स्वरूप मस्तिष्क के एक भाग में स्पन्दन होते ही दूसरे भाग में स्पन्दन होने लगता है। इस अवस्था में दूसरी उत्तेजना का होना बिल्कुल आवश्यक नहीं होता। यह साहचर्य अनेक प्रकार से स्थापित होता है। साहचर्यवाद के इस सिद्धान्त को मानसिक क्रियाओं का व्याख्यात्मक सिद्धान्त[5] समझा जाने लगा जब कि यथार्थ में वह केवल एक वर्णनात्मक[6] सिद्धान्त था।

इस काल का दूसरा महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त "शक्ति-मनोविज्ञान"[7] का है। यह कहा जा सकता है कि इस सिद्धान्त का जन्मदाता वोल्फ नाम का दार्शनिक था। उसका विचार है कि हमारी आत्मा की निश्चित और भिन्न-भिन्न अनेक शक्तियाँ हैं। आत्मा थोड़े समय के लिए प्रत्येक शक्ति का उपयोग करने लगती है। किन्तु फिर भी आत्मा का एकत्व बना रहता है। यह अनेक प्रकार की शक्तियाँ इच्छा-शक्ति, स्मरण-शक्ति, तर्कना-शक्ति आदि हैं।

मनोवैज्ञानिक अध्ययन का यह दार्शनिक स्वरूप वस्तुतः अबाधित गति से लगभग अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक चलता रहा। मानवीय ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में प्रयोगात्मक रीति से वैज्ञानिक तथ्यों का निरूपण बड़ी शीघ्रता-पूर्वक हो रहा था। शरीर-विज्ञान तथा अन्य भौतिक-विज्ञानों[8]

१-Sense Organs. २-Stimulus. ३-Brain. ४-Vibrations. ५-Explanatory Principle. ६-Descriptive. ७-Faculty Psychology. ८-Physics.

में बहुत उन्नति हो चुकी थी। इसके परिणाम स्वरूप जर्मनी के एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वुन्डट[1] का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने सन् १८७६ ई० में लीपज़िग[2] में प्रथम मनोवैज्ञानिक-प्रयोशाला स्थापित की। आधुनिक मनोविज्ञान के वर्तमान स्वरूप का जन्म दाता वुन्ड्ट को समझना चाहिये। इँगलैण्ड, अमेरिका तथा योरुप के अन्य उन्नतिशील देशों से अनेक मनोविज्ञान-वेत्ता उसके कदमों में इकट्ठे हुए। उससे दीक्षा पाकर उन्होंने अपने अपने देशों में जाकर अपने गुरु के तरीकों पर मनोविज्ञान का अध्ययन आरम्भ किया। यहीं से प्रयोगात्मक-मनोविज्ञान[3] का प्रारम्भ होता है। वुन्ड्ट ने न केवल प्रयोगात्मक क्षेत्र में ही काम किया वरन् उसने मनोविज्ञान के अन्य किसी भी पक्ष को अछूता न छोड़ा।

जबकि एक ओर वुन्ड्ट और उनके शिष्य टिचनर तथा कैटेल प्रयोगशाला में मनोविज्ञान का प्रयोगात्मक अध्ययन कर रहे थे दूसरी ओर इँग्लैण्ड में गाल्टन नामक वैज्ञानिक प्रमुखतः डार्विन के विकास-सिद्धान्त[4] का अध्ययन करने के साथ-साथ व्यक्तिगत अन्तर के मनोविज्ञान[5] की सृष्टि कर रहा था। उन्होंने सबसे पहले अंक-वैज्ञानिक[6] तरीकों द्वारा व्यक्तिगत अन्तर का अध्ययन किया।

गाल्टन ने कुछ काम स्मृति[7] पर भी किया था। इस क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य एबिन्गाँस[8] ने किया। उनके कार्य की विशद व्याख्या 'स्मृति' नाम के अध्याय में की जायगी।

उन्नीसवीं शताब्दी का एक अन्य प्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता विलियम जेम्स[9] था। वह भी वुन्ड्ट के समान ही प्रतिभाशाली था। उसने भी

१-Wundt. २-Leipzig. ३-Experimental Psychology. ४-Theory of Evolution. ५-Psychology of Individual Differences. ६-Statistical. ७-Memory. ८.Ebbinghaus. ९-William James.

अपनी प्रखर बुद्धि द्वारा मनोविज्ञान के लगभग प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया। उसकी महत्ता का अनुमान इस तथ्य के आधार पर लगाया जा सकता है कि इस समय भी जबकि मनोविज्ञान बहुत आगे बढ़ चला है अमेरिका के अनेक मनोविज्ञान-वेत्ता उसकी कृतियों को पढ़कर प्रोत्साहित होते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान ने वस्तुतः सबसे महत्वपूर्ण करवट सन् १६०४ ई० के आस-पास ली जबकि पावलोव[1] नाम के एक शरीर-वैज्ञानिक ने सापेक्षी-करण[2] का नियम स्थापित करके मानसिक क्रियाओं का भौतिक आधार खोज निकालने का प्रयत्न किया। पावलोव ने अपना यह सापेक्षी-करण का प्रयोग एक कुत्ते पर किया था।

पावलोव के सापेक्षीकरण-सिद्धान्त तथा डार्विन[3] के विकास वाद से प्रभावित होकर वाट्सन[4] नाम के मनोविज्ञान-वेत्ता ने मनोविज्ञान से मन अथवा चेतना को बिल्कुल निकाल फेंकने का प्रयत्न किया। अब तक मनोविज्ञान की परिभाषा किसी न किसी रूप में 'चेतना का अध्ययन[5]' ही रही थी, और इसके अध्ययन की एक प्रमुख रीति अन्तर्निरीक्षण थी, किन्तु वाट्सन को इसमें अनेक आपत्तियाँ मालूम हुई। उसका विचार था कि इससे हमें क्या मतलब कि चेतना के कितने अंग हैं और उसका क्या स्वरूप है। हमें केवल प्राणी के व्यवहार से मतलब होना चाहिए और मनोविज्ञान का प्रमुख विषय मानवीय व्यवहार का अध्ययन होना चाहिये। इस अध्ययन के लिए केवल विधेयात्मक[6] रीतियों का प्रयोग किया जाना चाहिये। उसके अनुसार मनोविज्ञान 'व्यवहार-विज्ञान'[7] ठहरा।

वाट्सन के समकालीन एक अन्य मनोविज्ञान-वेत्ता मेग्डूगल[8] का

१-Pavlov. २-Conditioning. ३-Darvin. ४-Watson. ५-Study of Consciousness. ६-Objective. ७-Psychology of behaviour. ८.Mc Dougall.

कहना था कि बिना मन अथवा अन्तः करण[1] के किसी प्रकार का मानवीय व्यवहार सम्भव नहीं है, अतः व्यवहार का यथेष्ट अध्ययन करने के लिए मन का अध्ययन आवश्यक है। उनके अनुसार "मनोविज्ञान मानवीय मन का विज्ञान है, उस दशा में जिस दशा में वह यथार्थ में स्थित है और क्रिया शील रहता है।" किन्तु इस पर भी अनेक आपत्तियाँ उठाई गईं। सबसे साधारण आपत्ति यह है कि मनोविज्ञान को स्थूल वैज्ञानिक स्वरूप देने के लिए 'मन' जैसे भ्रमात्मक सामान्य प्रत्यय[2] को नहीं ग्रहण किया जा सकता। अतः अब मेग्डूगल की परिभाषा को छोड़ दिया गया है। उसके 'मन' को मस्तिष्क का केवल एक 'क्रियात्मक-पक्ष' माना जाता है।

अब मनोविज्ञान का अध्ययन पूर्णतः विधेयात्मक वैज्ञानिक रीति से किया जाता है, मनोवैज्ञानिक नियम किसी दार्शनिक विशेष के मस्तिष्क की एकान्तिक उपज न होकर कठोर प्रयोगात्मक तथ्यों पर निर्धारित किए जाते हैं तथा मनोविज्ञान का एक सच्चा विद्यार्थी कोई भी तथ्य बिना किसी प्रयोगात्मक आधार के ग्रहण करने को तैयार नहीं होता है।

मनोविज्ञान का आधुनिक स्वरूप निर्धारित करने में वाट्सन के समान ही महत्वपूर्ण हाथ वर्थीमर,[3] कायलर[4] और कोफ्का[3] का है। प्रत्यक्ष-अध्ययन[5] में अनेक महत्वपूर्ण नियमों की खोज का श्रेय इन्हीं तीन सज्जनों को है। इनके सिद्धान्त गेस्टाल्टवाद[6] के नाम से प्रसिद्ध हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान की एक अन्य महत्वपूर्ण शाखा व्यक्तिगत अन्तर का मनोविज्ञान है। इसके अन्तर्गत मानवीय योग्यताओं का पता लगाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस क्षेत्र में बुद्धि-परीक्षा-साधनों[7] का चलन बड़ी शीघ्रता पूर्वक हुआ। इस सम्बन्ध में फ्रांस के इल्फ्रेड बिने[8] का नाम स्मरणीय है। उन्होंने सब से पहले बुद्धि-परीक्षा-साधन

१-Mind. २-Concept. ३-Wertheimer. ४-Kohler. ५-Koffka. ६-Study of Perception. ७-Gestalt Theory. ८-Tests of Intelligence.

की खोज की। स्पियरमैन तथा थर्सटन नाम के अन्य दो मनोविज्ञान-वेत्ता इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

बीसवीं शताब्दी के मनोविज्ञान में वियना[१] के एक प्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता फ्रायड्[२] का नाम सम्भवतः सबसे ऊँचा है। उसने मनोविज्ञान की वैज्ञानिक कार्य-कारण श्रृंखला में अचेतन[३] की कल्पना करके एक महत्वपूर्ण योग दिया है। इस कल्पना ने मनोविज्ञान में वही कार्य किया जो बीज गणित में ऋणात्मक अंकों की कल्पना ने किया है। उसका मनः विश्लेषण[४] का सिद्धान्त व्यक्तित्व[५] तथा असामान्य-मनोविज्ञान[६] में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

अन्त में हम अब मनोविज्ञान के उस स्वरूप की कल्पना करने का प्रयत्न करें जिस स्वरूप में वह इस समय सक्रियरूप में वर्तमान है। अब मनोविज्ञान मानवीय जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में प्रविष्ट हो गया है। शिक्षा-मनोविज्ञान[७], औद्योगिक मनोविज्ञान[८], सामाजिक मनोविज्ञान[९] व्यक्तित्व मनोविज्ञान, चिकित्सा-मनोविज्ञान[१०] तथा बाल-मनोविज्ञान, उसकी कुछ महत्वपूर्ण शाखाएँ हैं। इन सब का चरम उद्देश्य प्राणी के सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन के द्वन्द्व को समझते हुए उसके योग्य उचित दशाओं को उपलब्ध करना तथा उसको सुखी बनाना है। इंग्लैण्ड में व्यक्तिगत अन्तर के मनोविज्ञान पर विशेष ध्यान दिया गया है। अमेरिका में वाट्सन के प्रभाव से व्यवहार वाद का एक सुधरा हुआ स्वरूप क्रियात्मक मनोविज्ञान[११] के नाम से प्रचलित हो रहा है। व्यक्तित्व तथा सामाजिक मनोविज्ञान ने भी वहाँ अच्छी उन्नति की है। वहाँ गेस्टाल्टवाद का प्रभाव भी बहुत व्यापक रूप में स्थानीय-क्षेत्र-

---

१-Alfred Binet. २ Vienna. ३-Freud. ४-Unconscious. ५-Psycho-analysis. ६-Personality. ७-Abnormal Psychology. ८-Educational Psychology. ९-Industrial Psychology. १०-Social Psychology. ११-Clinical Psychology.

मनोविज्ञान[1] के नाम से प्रस्फुटित हुआ है। इस क्षेत्र में लेविन[3] का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इस मनोविज्ञान द्वारा वाह्य जगत तथा प्राणी के पारस्परिक सम्बन्ध की विशद व्याख्या का प्रयत्न किया जा रहा है।

मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि के इस संक्षिप्त वर्णन के बाद अब हम आधुनिक मनोविज्ञान के कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों का वर्णन करेंगे:—

(१) साधारण मनोविज्ञान[4] के अन्तर्गत मनोविज्ञान के मौलिक सिद्धान्त आते हैं। इसमें हम विशेषतः सामान्य प्रौढ़ मानव का अध्ययन करते हैं। अन्य बातों को दूसरी शाखाओं के लिए छोड़ दिया जाता है इसमें मुख्यतः इन विषयों का अध्ययन किया जाता है (अ) संवेदना[5] तथा प्रत्यक्ष[6] (आ) भावना[7] तथा संवेग[8] (इ) सीखना[8] तथा प्रेरणा[9] (ई) अवधान[10] तथा विचार[11]।

(२) शारीरिक मनोविज्ञान[12] में स्नायु-समवाय[13] तथा एण्डोक्रीन ग्रन्थियों[14] जैसी चीजों का अध्ययन होता है जिनके द्वारा मानव का मानसिक व्यवहार नियन्त्रित होता है।

(३) व्यक्तिगत अन्तर का मनोविज्ञान—इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

(४) औद्योगिक मनोविज्ञान में नौकरी के लिए चुनाव के तरीके, इस काम के लिए उचित परीक्षा-साधनों की खोज, चुने गये व्यक्तियों की दीक्षा के लिए उचित प्रबन्ध तथा कार्य कुशलता बढ़ाने के तरीके आदि का अध्ययन किया जाता है। संक्षेप में इसके अन्तर श्रमिक तथा उससे सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक वातावरण का अध्ययन किया जाता है।

१-Functional Psychology. २-Topographical Psychology. ३-Lewin. ४-General Psychology. ५-Sensation. ६-Perception. ७-Feeling. ८-Emotion. ९-Motivation. १०-Attention. ११-Thought. १२-Physiological Psychology. १३-Nervous System.

(५) बाल मनोविज्ञान में बालक के विकास, उसकी योग्यता तथा उससे सम्बन्धित संस्कार तथा वाह्य जगत[१] की समस्या का अध्ययन किया जाता है। इसमें बालक के उचित अभियोजन के उपयुक्त सामाजिक दशाओं पर भी विचार किया जाता है।

(६) शिक्षा-मनोविज्ञान में बालक का पाठशाला के वातावरण में मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। इसमें बाल-मनोवैज्ञानिक चिकित्सा मनोविज्ञान तथा सीखने और प्रेरणा के गत्यात्मक मनोविज्ञान[२] से भी सहायता ली जाती है।

(७) असामान्य-मनोविज्ञान में मानवीय व्यवहार की विषमता पर विचार किया जाता है। वे व्यक्ति जिनका व्यवहार सामान्य से हटकर कुछ अटपटापन लिए हुये होता है इस क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। इसका मानसिक-विकृति-विशेषज्ञता[३] से घनिष्ट सम्बन्ध है।

(८) गत्यात्मक मनोविज्ञान में मनःविश्लेषण द्वारा मानवीय व्यवहार की असामान्यता के अचेतन कारणों की खोज का प्रयत्न किया जाता है।

(९) चिकित्सा मनोविज्ञान में असामान्य व्यक्तियों को सामान्य बनाने के लिए उनपर क्रियात्मक मनोविज्ञान द्वारा स्थिर किये गये सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है।

(१०) समाज-मनोविज्ञान में व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। वर्तमान समाज-मनोविज्ञान पर गेस्टाल्टवाद की गहरी छाप पड़ी है।

—:०:※:०:—

१-Endocrine Glands. २-Environment. ३-Dynamic Psychology. ४-Psychiatry.

अध्याय—२

विषय प्रवेश

वाह्य-जगत में अनन्त शक्तियाँ सदैव गतिशील रहती हैं। किसी भी प्राणी विशेष पर इनमें से कुछ शक्तियों का प्रभाव पड़ता है और कुछ का नहीं। शक्तियों का प्रभाव पड़ने के परिणाम-स्वरूप उस प्राणी के व्यवहार में परिवर्तन होता है। मनुष्य ऐसा ही एक प्राणी है। वाह्य-जगत के साथ-साथ उसका एक अन्तर्जगत भी है। वाह्य-जगत के प्रभाव के परिणाम-स्वरूप उसके अन्तर्जगत में परिवर्तन होता है जो, यदि उसके बाहरी व्यवहार के रूप में प्रस्फुटित होता है, जिससे उलटकर वह पुनः प्रभावित होता है। इसी प्रकार जीवन चलता रहता है।

वाह्य-शक्तियाँ } → प्राणी → व्यवहार → नवीन परिवर्तन } → प्राणी

अब आओ हम इस जीवित मानव का वैज्ञानिक अध्ययन करें। इस अध्ययन का विषय मानव और उसके वाह्य-जगत का एक अत्यन्त जटिल समवाय[१] है। इस समवाय में होने वाली घटनाओं में एक निश्चित कार्य-कारण परम्परा है। वह इस प्रकार है कि वह एक उत्तेजना[२] किसी ज्ञानेन्द्रिय[३] को प्रभावित करती है, जिसके परिणाम-स्वरूप स्नायु-समवाय[४] में कुछ घटित होता है, और तब प्राणी कुछ करता है। मनोविज्ञान का प्रमुख उद्देश इसी जटिल समवाय को समझना है।

१-System. २-Stimulus. ३-Sense-organs.
४-Nervous-system.

परिभाषा तथा व्याख्या

मनोविज्ञान की परिभाषा

मनोविज्ञान से हमारा तात्पर्य उस विधायक-विज्ञान[1] से है जिसके अन्तर्गत हम सम्पूर्ण मानव की क्रियाओं का अध्ययन करते हैं।

मनोविज्ञान एक विधायक विज्ञान है

मानवीय ज्ञान की वह शाखा जो कार्य कारण शृंखला से जकड़ कर विधेयात्मक[2] तथा प्रयोगात्मक रीतियों से खोजे गए तथ्यों का निरूपण करती है, विज्ञान कहलाती है। वैज्ञानिक तथ्य-निरूपण काल्पनिकता से परे रहता है। आधुनिक मनोविज्ञान की ठीक यही दशा है। आज का मनोविज्ञान वेत्ता कमरे में बैठकर चारों ओर के किवाड़े बन्द करके अपने व्यक्तिगत अनुभवों का विश्लेषण करके व्यापक नियमों का निरूपण नहीं करता, जैसे कोई दार्शनिक किया करता है। वह स्वयं मानवीय क्षेत्र में उत्तर कर प्रयोग द्वारा तथ्यों की खोज करके तार्किक रूप में उनसे निकले हुए परिणामों को सब के सामने रखता है। उसको इससे कोई प्रयोजन नहीं कि उसके परिणाम नैतिक दृष्टि से ग्राह्य हैं, अथवा नहीं तथा उन तथ्यों को समाज में उस स्वरूप में रहने देना चाहिए या नहीं। 'क्या होना चाहिए और क्या नहीं ?' इस पर विचार करने का काम आदर्श-निधारक[4] विज्ञानों का है; जैसे नीति-विज्ञान[5]। 'क्या है और क्या होता है ?' इस पर विचार करने का काम विधायक-विज्ञान का है। मनोविज्ञान यही कार्य करता है, और इसी लिए वह एक विधायक विज्ञान है। एक एक उदाहरण द्वारा यह अन्तर बहुत स्पष्टतः समझ में आ जायगा। प्राण-संकट देखकर मनुष्य भयभीत हो जाता है यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। उसको भयभीत होना चाहिए या नहीं, किस दशा में हंसते हंसते प्राण दे देना चाहिए, और प्राण जैसी तुच्छ वस्तु की रक्षा के लिए भयभीत होने से क्या लाभ ? यह सब

१-Positive. २-Objective. ३-Experimental.
४-Normative. ५-Ethics.

बातें मनोविज्ञान के क्षेत्र के बाहर हैं। प्राण-संकट समुपस्थित होने पर आदर्श व्यवहार क्या होना चाहिए ? इस बात का उत्तर नीति-विज्ञान जैसे आदर्श निर्धारिक विज्ञान ही दे सकते हैं, मनोविज्ञान नहीं। मनोविज्ञान केवल भयभीत प्राणी की मानसिक दशा तथा व्यवहार की व्याख्या करके सन्तुष्ट हो जाता है।

संसार में अनेक प्राणी हैं किन्तु मनोविज्ञान केवल मानव का अध्ययन करता है। अब से कुछ समय पूर्व तक तो मनोविज्ञान मानव का केवल उन चेतन शक्तियों का अध्ययन करता था जिनकी सहायता से वह समाज में सामान्य जीवन व्यतीत करता है। केवल सामान्य मानव ही मनोविज्ञान-वेत्ता की खोज का विषय था। किन्तु अब मानव का समस्त चेतन अथवा अचेतन, सामान्य अथवा अतिसामान्य सभी व्यवहार मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय है। किन्तु मानवीय व्यवहार निश्चित करने वाली शक्तियाँ इतनी गहन होती हैं कि आजकल का मनोविज्ञान-वेत्ता यथेष्ट प्रयोगात्मक साधनों के अभाव में उनको नहीं समझ पाता है। विकास के नियम के आधार पर उसका अनुमान है कि यदि हम उन प्राणियों के व्यवहार को समझ सकें तथा नियम-बद्ध कर सकें जो कि विकास परम्परा में मानव की अपेक्षा कहीं कम जटिल है तो सम्भव है कि एक समय वह आये जब हम मानवीय व्यवहार को समझ सकेंगे तथा नियम-बद्ध कर सकेंगे। इसके परिणाम स्वरूप मनोविज्ञान-वेत्ता की प्रयोगशाला में चूहे, मेढक और कुत्ता जैसे जीव प्रवेश पा गये हैं। किन्तु इससे यह न समझा जाना चाहिये कि मनोविज्ञान अब मानव के अध्ययन से हट गया है। इन जीवों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन उद्देशप्राप्ति का साधन-मात्र समझना चाहिए। इस मनोवैज्ञानिक अध्ययन को जन्तु-मनोविज्ञान[1] कहते हैं। असली मनो-

मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय-मानव

१-Animal Psychology.

विज्ञान के अन्तर्गत मानवीय प्राणी का ही अध्ययन होता है। जन्तु मनोविज्ञान केवल एक सहायक साधन का काम देता है। यह बात आगे चल कर भली भाँति समझ में आ जाएगी।

मानव की क्रियायें

अनवरत परिवर्तन विश्व का स्वाभाविक गुण है। मानव प्रतिक्षण इस परिवर्तन में सक्रिय भाग लेता है। प्रतिक्षण वाह्य शक्तियाँ उसके तत्कालीन शक्ति-संतुलन[1] को भ्रष्ट करती रहती हैं। और वह उनसे प्रभावित होकर अपनी प्राण-शक्ति द्वारा एक नवीन शक्ति-संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न करता है। फलतः शक्ति-संतुलन को पुनः स्थापित करने के लिए वह अनेक व्यक्त अथवा अव्यक्त क्रियाएं करता है। मनोविज्ञान में हम इन्हीं क्रियाओं का अध्ययन करते हैं। एक बार एक अध्यापक कक्षा में गणित पढ़ा रहे थे। उस कक्षा का एक विद्यार्थी कभी काम नहीं करता था। उस दिन भी वह काम करके न लाया। अध्यापक उसके इस व्यवहार पर असन्तोष प्रकट कर रहे थे, यकायक उसके घर से समाचार आया कि उसके पिता का देहान्त हो गता। अध्यापक का सारा असंतोष काफूर हो गया। वे उस बालक के प्रति सहानुभूति तथा दया प्रदर्शित करने लगे। इस घटना का विश्लेषण करने से उपर्लिखित बात सरलता से समझ में आ जाएगी। बालक के पिता की मृत्यु का समाचार आने से पूर्व जो वाह्य शक्तियाँ जैसे बालक का अध्यापक के सामने होना, उसकी नोटबुक पर प्रश्नों के हलों का न होना, साथ के अन्य विद्यार्थियों की नोट-बुकों पर प्रश्नों के हल लिखे होना आदि, अध्यापक पर काम कर रहीं थीं। उनका संतुलन करने के प्रयत्न में वह बालक पर क्रोध कर रहे थे, किन्तु बालक के पिता की मृत्यु के समाचार ने उस सन्तुलन को भ्रष्ट कर दिया तथा अध्यापक को अन्य प्रकार से शक्ति-सन्तुलन के लिए प्रेरित किया। इस सम्पूर्ण घटना में भाग लेने वालों ने अलग-

१-Equilibrium.

अलग क्रियाएं की। मनोविज्ञान के अन्तर्गत हम इन सभी क्रियाओं का अध्ययन करते हैं।

मनोविज्ञान में सम्पूर्ण प्राणी द्वारा की गई क्रिया का अध्ययन किया जाता है। उसमें किसी अंग-विशेष की क्रिया का अध्ययन नहीं किया जाता। यदि किसी अंग का अध्ययन किया भी जाता है तो वह केवल सम्पूर्ण प्राणी के व्यवहार को अधिक स्पष्टता पूर्वक समझने के लिए। इसमें हम प्राणी को इकाई मान कर उसके समस्त अंगों की क्रिया का अध्ययन संगठित रूप में करते हैं। विभिन्न अंगों की क्रियाओं का यह संगठन एक मानसिक क्रिया है। अतः यह कहा जा सकता है कि मनोविज्ञान में मानव की मानसिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। ऊपर के उदाहरण से यह मानसिक क्रिया वाली बात स्पष्ट समझ में आ जाती है।

मानसिक क्रिया के तीन अंग माने गये हैं :—

साधारणतः उत्तेजना वाह्य जगत में व्याप्त शक्तियों के ऐसे परिवर्तन को कहते हैं जो किसी ज्ञानेन्द्रिय पर प्रभाव डालता है। आँख में

(१) उत्तेजना

प्रविष्ट होकर और उसके प्रभाव ग्रहणशील अंतःपटल (Retina) पर पड़कर प्रकाश एक उत्तेजना बन जाता है। ध्वनि अन्तःकरण[1] में स्थिति श्रवण सम्बन्धी स्नायु तक पहुँच कर ध्वनि एक उत्तेजना हो जाती है। इसी प्रकार त्वचा पर कोई बोझ, नासिका में सुगन्ध जिह्वा पर मिर्च यह सब उत्तेजना बन सकती है यदि वे यथार्थ में उत्तेजित करती हैं। वाह्य जगत में ज्ञानेन्द्रियों को साधारणतः प्रभावित करनेवाले परिवर्तन होते रहने पर भी यदि किसी व्यक्ति विशेष की ज्ञानेन्द्रियाँ उनसे प्रभावित नहीं होती तो वे परिवर्तन उसके लिये उत्तेजनाएँ नहीं बन सकती।

१—Inner ear.

मनोवैज्ञानिक प्रयोग शाला में बहुधा जब हम उत्तेजना की बात करते हैं तो उससे हमारा तात्पर्य प्रयोग की आवश्यकताओं से आबद्ध किसी पदार्थ-विशेष से होता है। व्यापक रूप में हम आन्तरिक उत्तेजना की भी कल्पना कर सकते हैं— जैसे भूख लगना। यह उत्तेजना प्राणी की शारीरिक आवश्यकताओं से उत्पन्न होती हैं। कभी-कभी मानसिक क्रिया के इस वाह्य कारण को परिस्थिति[१] भी कहते हैं जो साधारणतः उत्तेजना से अधिक जटिल होती है और व्यक्ति के अनुभव से सीमित रहती है। नेत्र के अन्तः पटल पर पड़नेवाला तेज प्रकाश एक उत्तेजना है किन्तु सड़क पर अंधकार में हॉर्न बजाती हुई, सामने से आती तेज रोशनी वाली मोटर एक परिस्थिति हो जाती है।

(२) आन्तरिक प्रक्रिया[२]

उत्तेजना अथवा परिस्थिति का प्रभाव प्राणी पर उसकी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप तत्सम्बन्धी विशिष्ट स्नायविक गति[३] होती है उनके परिवर्तनों के बाद उस गति का प्रभाव सुषुम्ना[४] नाड़ी तथा मस्तिष्क[५] पर पड़ता है। वहाँ पर अन्तर्वाहिनी गति के द्वारा वाहिर्गामिनी गति का निर्धारण होता है जिसके परिणामस्वरूप माँस-पेशियाँ गतिशील होती हैं अथवा ग्रंथियों[६] से रस निकालती हैं। इस सम्पूर्ण क्रिया को आन्तरिक-प्रक्रिया कहते हैं। उत्तेजना से लेकर प्रतिक्रिया तक के बीच का समय आन्तरिक प्रक्रिया का समय माना जाता है। एक ही उत्तेजना अथवा परिस्थिति का प्रभाव अनुभव के अनुसार अलग-अलग व्यक्तियों पर अलग अलग होता है। उत्तेजना का वाह्य स्वरूप अपरिवर्तित रहने पर भी आन्तरिक क्रिया में अन्तर हो जाता है। अपनी ओर तेजी से आती हुई फुटबाल को तुम मारने को बढ़ते ही किन्तु एक छोटा बालक उससे दूर भाग जाता है। आन्तरिक प्रक्रिया का स्वरूप

१—Situation. २—Intetnal Process. ३—Neural activity. ४—Spinal cord. ५—Brain. ६—Glands.

प्रतिक्रिया[1] के अधार पर निश्चित किया जाता है। तेजी से आती हुई फुटबाल ने तुम्हारे अन्दर दृढ़ता और छोटे बालक के अन्दर भय उत्पन्न किया; इसका स्पष्ट बोध इस बात से हो जाता है कि तुम उसको मारने को उद्यत हुये और छोटा बालक डर कर भाग गया।

प्रतिक्रिया मानसिक क्रिया का अन्तिम अंग है। प्रत्येक उत्तेजना का परिणाम प्रतिक्रिया होती है—आन्तरिक अथवा वाह्य। साधारणतः प्रतिक्रिया से उत्तेजना के वाह्य प्रभाव का अर्थ लिया जाता है। सीटी सुनने पर हाथ उठाना एक वाह्य प्रतिक्रिया है। उसके जटिल स्वरूप को व्यवहार[2] कहते हैं। व्यवहार में अनुभव और अर्थ की भावना भी सम्मिलित रहती है। वह आन्तरिक भी हो सकता है और वाह्य भी। साधारणतः जीवन में शुद्ध उत्तेजनाएँ अथवा प्रतिक्रियाएँ कम देखने में आती हैं। प्राणी को अधिकतर परिस्थितियों से पाला पड़ता है जिसके परिणाम स्वरूप वह व्यवहार करता है। उत्तेजनाओं अथवा प्रतिक्रियाओं का प्रयोग प्रयोगशाला में ही अधिक होता है जहाँ पर परिस्थिति को पूर्ण रूप से संयमित करके केवल एक ही उत्तेजना दी जाती है तथा उसकी प्रतिक्रिया का अध्ययन किया जाता है।

(३) प्रतिक्रिया

वह व्यक्ति अथवा जन्तु जो परिस्थिति से प्रभावित होकर व्यवहार करता है या किसी उत्तेजना के फलस्वरूप कोई प्रतिक्रिया करता है 'विषय' कहलाता है। हम इस पुस्तक में इसी सशरीर जीवित विषय की क्रियाओं का अध्ययन करेंगे।

विषय[3]

मनोविज्ञान तथा अन्य विज्ञान

मनोविज्ञान की परिभाषा की उपर्लिखित व्याख्या के बाद इसके विस्तार को समझना अत्यन्त सरल है। जैसा परिभाषा में कहा जा

१—Response. २—Behaviour. ३—Subject.

चुका है, मनोविज्ञान में प्राणी-जगत के विशिष्ट जीव मानव का अध्ययन किया जाता है। अतः यह जीव विज्ञान[१] की एक शाखा है। किन्तु जीव-विज्ञान की तरह हम इसमें यह अध्ययन नहीं करते कि शरीर कैसे बनता है, वह किस प्रकार जीवित रहता है और मनुष्य तथा अन्य जीवों के शरीर की बनावट में क्या अन्तर होता है। फिर भी मनोविज्ञान का जीव-विज्ञान से घनिष्ट संबंध है। इसके दो कारण हैं; प्रथम-जो कुछ हम करते हैं वह बहुत बड़ी सीमा तक इस बात पर निर्भर है कि हम किस प्रकार बने हुए हैं। द्वितीय—हम स्वयं भी पृथ्वी पर जीवन के विकास की उपज हैं और जीव-वैज्ञानिक हमें इस विकास को समझने में सहायता पहुंचाता है। मनोविज्ञान में आधुनिक दृष्टि-कोण विकासात्मक है। जीव-विज्ञान के अनुसार पृथ्वी पर जीवन के अनेक स्वरूपों में मानव स्वरूप काफी बाद का विकास है और उसकी मानसिक तथा शारीरिक क्षमताओं को भली प्रकार उस जीवन संघर्ष के द्वारा समझा जा सकता है, जिसमें होकर उसके पूर्वज अनेक जीव विकसित हुए हैं। यदि जीव-विज्ञान की पृष्ट-भूमि के आधार पर अध्य-यन किया जाय तो मानव-स्वभाव को समझना कहीं सरल हो सकता है। अतः मनोविज्ञान-वेत्ता जीव-विज्ञान की उन सब खोजों से पूरा लाभ उठाता है जो उसको सम्पूर्ण मानव का व्यवहार समझने में सहा-यता पहुँचाती है। इस क्षेत्र में मनोविज्ञान जीव विज्ञान से खूब स्वतंत्रता-पूर्वक सहायता लेता है।

दूसरी ओर मनोविज्ञान के अन्तर्गत हम मानव के सामाजिक व्यवहार का अध्ययन करते हैं। मानव केवल अपने इस रूप में विकसित होकर ही नहीं रह गया। उसने अपने विकास के साथ सभ्यता जैसी विचित्र चीज का भी विकास किया। इस सभ्यता का उसके प्रत्येक व्यवहार पर गहरा प्रभाव पड़ता है। सभ्य-मानव के जीवन

१—Biology.

का एक बहुत बड़ा भाग उसके समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों के आधार पर ही समझा जा सकता है। अतः मनोविज्ञान का समाज-विज्ञान[१] और अर्थशास्त्र से घनिष्ट सम्बन्ध है। मनोविज्ञान जीव-विज्ञान और इन सामाजिक विज्ञानों के मध्य में पड़ता है। वह इन सबसे प्राप्त ज्ञान का उपयोग करता है तथा इनको एक सामूहिक प्रयत्न करके मानव का संगठित स्वरूप सबके सामने रखना सिखाता है।

मनोविज्ञान तथा शरीर-विज्ञान[२]

मनोविज्ञान का शरीर विज्ञान से घनिष्ट सम्बन्ध है। इन दोनों विज्ञानों में हम जीवित प्राणी का अध्ययन करते हैं, किन्तु प्रत्येक दशा में हमारा उद्देश्य भिन्न रहना है। मनोविज्ञान में मानसिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है तथा शरीर-विज्ञान का उद्देश्य प्राणी के अन्दर हर समय होती रहनेवाली क्रियाओं को समझना है। इनमें से बहुत सी क्रियाएँ स्पष्टतः वाह्य-उत्तेजनाओं के फलस्वरूप होती हैं। अतः उनपर प्रकाश डालकर शरीर-विज्ञान मनोविज्ञान की सीमाओं को और विस्तृत करता है। एन्डोक्रीन[३] ग्रन्थियों के कर्म की खोज करके शरीर विज्ञान ने मनोविज्ञान-वेत्ताओं का संवेगों[४] के समझने में काफी सहायता पहुँचाई है। सीखने के सिद्धान्तों में अपूर्व परिवर्तन उत्पन्न करनेवाला प्रसिद्ध व्यक्ति पावलोव[५] एक शरीर-विज्ञान-वेत्ता ही था। शरीर विज्ञान का मनोविज्ञान से कितना घनिष्ट सम्बन्ध है यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि शरीरिक-मनोविज्ञान[६] नाम की मनोविज्ञान की एक अलग शाखा चल पड़ी है जो बहुत शीघ्रतापूर्वक उन्नति कर रही है।

मनोविज्ञान का विषय विस्तार

अन्य विषयों से मनोविज्ञान के सम्बन्ध का अध्ययन करने से

१—Social Science. २—Physiology. ३—Endocrine Glands. ४—Emotions. ५—Pavlov. ६—Physiological Psychology.

उसकी सीमाएँ भली प्रकार समझ में आ गई होंगी। अब हम उसके विषय-विस्तार पर विचार करते हैं।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, मनोविज्ञान में मानव की मानसिक क्रिया का अध्ययन किया जाता है। मानसिक क्रिया के उदाहरण हैं—सोचना, स्मरण करना, अनुभव करना, याद करना, कल्पना करना तथा निर्णय करना आदि। और अधिक व्यापक शब्दों में हम कह सकते हैं कि मानवीय क्रियाओं के अन्तर्गत अनुभवों का प्राप्त होना दृढ़ होना, स्मरण रहना, संगठित होना, महत्व निर्धारण करना तथा बाद के आचरण में पथ-प्रदर्शन के लिये उनका उचित उपयोग करना यह सब कुछ आ जाता है।

मैं अपनी मानसिक क्रियाओं को स्वयं अन्तर्निरीक्षण[1] द्वारा जान सकता हूं। मैं अपने सुख-दुख का अनुभव स्वयं कर सकता हूं। अन्तर्निरीक्षण द्वारा मैं उनसे सम्बन्धित मानसिक क्रियाओं को समझने का प्रयत्न कर सकता हूं। उस दशा में मनोविज्ञान अन्तर्निरीक्षण द्वारा व्यक्त की गई मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करता है।

अन्तर्निरीक्षण द्वारा किया गया अध्ययन पर्याप्त नहीं है क्यों कि जैसा मनः विश्लेषकों[2] का कहना है, बहुधा अन्तर्निरीक्षण के आधार पर किया गया निर्णय गलत भी होता है। मैं अपने दुःख का कारण कुछ समझता हूं और यथार्थ में कुछ और होता है। इस बात को एक चतुर मनोविज्ञान वेत्ता मेरे व्यवहार को देख कर सम्भवतः अधिक ठीक तरह समझ सकता है। दूसरी ओर हम किसी दूसरे के अनुभव का पूर्ण यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। वह केवल अनुमान द्वारा उसके व्यवहार से समझा जा सकता है। उसकी मानसिक क्रियाएँ उसके व्यवहार में प्रकट होती हैं। मैं उसके व्यवहार को देख सकता हूं और उसके आधार पर उसकी मानसिक क्रियाओं को समझ सकता हूं। नन्हें

---

१ —Introspection. २—Psycho Analyst.

बच्चे के रोने से माता अनुमान लगाती है कि बच्चा भूखा है। अतः मानसिक क्रियाओं को समझाने के लिए व्यवहार का अध्ययन भी मनोविज्ञान का एक विशेष अंग हुआ।

मानसिक क्रियाओं के साथ शारीरिक क्रियाएँ भी होती हैं। अतः मानसिक क्रियाओं को ठीक समझने के लिए उनसे सम्बन्धित शारीरिक क्रियाओं का भी समझना आवश्यक होता है। मानसिक क्रियाएँ उत्तेजना अथवा संवेदनाओं[1] पर निर्भर रहती हैं। और संवेदनाओं का अध्ययन करने के लिए शारीरिक क्रियाओं का अध्ययन आवश्यक है। आँख पर प्रकाश पड़ता है। प्रकाश-संवेदना वाहिनी स्नायु[2] द्वारा उसने उत्पन्न संवेदना मस्तिष्क तक पहुँचाई जाती है। तब प्रकाश का प्रत्यक्ष होता है। अतः शारीरिक क्रियाएँ भी मनोविज्ञान के अन्तर्गत आ जाती हैं। मनोविज्ञान में स्नायु समवाय माँसपेशियाँ[3] और ज्ञानेन्द्रियाँ सभी का अध्ययन किया जाता है।

मानसिक क्रियाएँ बहुधा उत्तेजना द्वारा होती हैं। उत्तेजना वाह्य पदार्थों से होती है। मनोविज्ञान में इन वाह्य पदार्थों का भी अध्ययन किया जाता है, उस रूप में नहीं जिस रूप में उनका अध्ययन भौतिक-शास्त्र[4] में किया जाता है वरन् उस रूप में जिस रूप में वे किसी व्यक्ति को दिखाई देते हैं। हम उन्हें मानसिक-पदार्थ[5] कह सकते हैं। अध्यापक के मानसिक पदार्थ तुम्हारे मानसिक पदार्थों से भिन्न हैं। अध्यापक के लिए यह पुस्तक तुम्हें ज्ञान देने का एक साधन है। तुम्हारे लिए यही पुस्तक ज्ञान प्राप्त करने का साधन है। यह अन्तर इसलिए होता है कि एक व्यक्ति के लिये एक पदार्थ एक अर्थ रखता है दूसरे के लिये दूसरा। मनोविज्ञान में उन मानसिक पदार्थों का भी अध्ययन किया जाता है।

१—Sensations. २—Optical Nerve. ३—Muscles.
४—Physics. ५—Mental objects.

मनोविज्ञान के अन्तर्गत मानवीय व्यवहार को समझने के लिए अन्य जीवधारियों के व्यवहार का अध्ययन भी किया जाता है। इस बात को विस्तारपूर्वक परिभाषा की व्याख्या करते समय समझाया जा चुका है।

आधुनिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत केवल सामान्य मानव की क्रियाओं का ही अध्ययन नहीं होता। वरन् अब तो सामान्य[१] मानव का व्यवहार समझने के लिये विक्षिप्त[२] तथा सनकी[३] दोनों का व्यवहार समझना भी आवश्यक समझा जाता है। इस दिशा में मनोविज्ञान के क्षेत्र का विस्तार करने के दो उद्देश्य हैं—पहला, सामान्य के व्यवहार पर प्रकाश डालना, और दूसरा,. मनोवैज्ञानिक रीतियों से यदि सम्भव हो सके तो विक्षिप्त तथा सनकी को ठीक करके उन्हें मानवीय समाज के उपयुक्त बनाना। इस प्रकार के अध्ययन को व्यक्तित्व[४] मनोविज्ञान कह कर पुकारा जाता है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र का विस्तार बड़ी शीघ्रता पूर्वक बढ़ रहा है। वर्तमान् सामाजिक समस्याओं का अध्ययन तथा उसके अन्तर्गत धार्मिक औद्योगिक, शिक्षा-सम्बन्धी, अन्य अनेक प्रकार की समस्याएँ आ जाती हैं। अब मानवीय मानसिक क्रियाओं को ठीक तरह समझने के लिए उन सब सामाजिक शक्तियों का समझना भी आवश्यक समझा जाता है जो उसके व्यवहार को निश्चित करती हैं।

मनोविज्ञान का उद्देश्य

मनोविज्ञान का चरम उद्देश्य मानवीय व्यवहार को नियन्त्रित करना तथा उसके विषय में भविष्यद्वाणी कर सकने की क्षमता प्राप्त करना है। किन्तु यह उद्देश्य तो इतना महान् है कि उस तक पहुँचने से पहले हमें कोई अन्य निश्चित उद्देश्य सामने रखना होगा। अतः हमारा निश्चित उद्देश्य है प्रत्येक मानसिक क्रिया का भली प्रकार वर्णन करना, उन सभी

१—Normal. २—Insane. ३—Neurotic. ४—Personality.

अंगों की पूर्ण व्याख्या करना जिन पर वह निर्भर है, तथा सभी मानसिक क्रियाओं में आपस में सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें किसी सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करना।

मनोवैज्ञानिक रीतियाँ

यह कहने की प्रथा हो गई है कि तथ्यों की खोज के लिए मनोविज्ञान में भी यही रीति प्रयोग की जाती है जो दूसरे विज्ञानों में अर्थात्, निरीक्षण[१], किन्तु मानसिक तथ्यों के स्वरूप की विचित्रता के कारण मनोवैज्ञानिक निरीक्षण दो प्रकार का होता है, एक तो केवल मनोविज्ञान में काम आनेवाला अन्तर्निरीक्षण, और दूसरा अन्य विधायक विज्ञानों में प्रयुक्त रीति से मिलता जुलता—व्यवहार निरीक्षण जिसका हम वाह्य निरीक्षण भी कह सकते हैं और जिसके द्वारा चेतना[२] के आधार-स्वरूप तथ्यों के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है। इन दोनों में से किसी भी प्रकार का निरीक्षण प्रयोगात्मक अथवा प्रयोगात्मक दशाओं में किया जा सकता है। अतः किसी प्रकार के निरीक्षण के पूर्व एक तीसरी रीति का प्रयोग किया जाता है जिसको प्रयोगात्मक रीति कहते हैं।

(१) अन्तर्निरीक्षण—अपनी मानसिक क्रियाओं के सीधे निरीक्षण का नाम अन्तर्निरीक्षण है। अन्य किसी भी प्रकार का निरीक्षण मनोविज्ञान की दृष्टि में परोक्ष निरीक्षण होता है। यदि कोई जीव विज्ञानवेत्ता, व्यवहार-निरीक्षण करता है तो उसके लिए वह निरीक्षण परोक्ष[३] नहीं होता। क्योंकि उसका उद्देश्य केवल उस व्यवहार का वर्णन करना ही होता है।

किन्तु दूसरी ओर एक मनोविज्ञान-वेत्ता, यदि व्यवहार निरीक्षण करता है तो उसके आधार पर तत्सम्बन्धी मानसिक क्रियाओं का अनुमान लगाता है। अतः उसके दृष्टिकोण से व्यवहार-निरीक्षण केवल एक परोक्ष-साधन होता है।

१—Observation. २—Consciousness. ३—Indirect.

अन्तर्निरीक्षण करने वाला व्यक्ति अपने किसी विशेष अनुभव के पूर्ण हो जाने पर पुनः ज्ञानात्मक विचार करता है। वह उस अनुभव का साधारण ज्ञानात्मक इकाइयों में विश्लेषण करने का प्रयत्न करता है। इस क्रिया में वह बीते हुए अनुभव को एक बार फिर चेतना में प्रमुख स्थान देता है। हमारे स्नायु-समवाय में एक विशेष प्रकार की उत्तेजना होने से हम दर्द अनुभव करते हैं। दर्द की संवेदना का अन्तर्निरीक्षण करने में हम उसको चेतना में प्रमुख स्थान देते हैं तथा उसको अनुभव का एक अंग मानकर उसके विषय में इस प्रकार विचार करने का प्रयत्न करते हैं जैसे किसी अन्य वस्तु के विषय में। संवेदना होने पर हम उसको अनुभव करते हैं किन्तु उसके विषय में अन्तर्निरीक्षण करने में हम उसे जानते हैं।

दोषः—अन्तर्निरीक्षण की रीति के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ उठाई जाती हैं:—

(१) अन्तर्निरीक्षण स्वयं एक मानसिक क्रिया होने के नाते उस मानसिक क्रिया का स्वरूप बदल देती है जिसका हम अन्तर्निरीक्षण करना चाहते हैं। मान लो किसी को बड़े जोर से क्रोध आ रहा है। जिस क्षण भी वह उस समय की मानसिक क्रिया को समझने का प्रयत्न करता है तो या तो क्रोध का स्वरूप ही बदल जाता है या वह बिल्कुल नष्ट हो जाता है। यदि बाद में वह फिर अपनी क्रोधावस्था की मानसिक क्रिया को बुलाने का प्रयत्न करता है तो परिस्थिति के बदल जाने के परिणाम स्वरूप तथा अनुभव का स्वरूप कुछ परिवर्तन हो जाने के कारण, वह असफल रहता है अतः वह क्रोध के उस अनुभव का सीधा निरीक्षण नहीं कर सकता।

(२) अन्तर्निरीक्षण वस्तुतः एक व्यक्तिगत रीति है। प्रत्येक मनोविज्ञान-वेत्ता केवल अपने ही अनुभवों का अन्तर्निरीक्षण कर सकता है। एक मनोविज्ञान-वेत्ता की मानसिक क्रियाएँ दूसरे की मानसिक क्रियाओं से भिन्न होती हैं, अतः, उनका अन्तर्निरीक्षण भी एक दूसरे से भिन्न

तथा अपने व्यक्तित्व की छाप लिए होता है। ऐसी व्यक्तिगत वस्तु के आधार पर व्यापक वैज्ञानिक नियम नहीं बनाये जा सकते।

(३) इसका प्रयोग केवल विशेष प्रकार से दीक्षित व्यक्ति ही कर सकते हैं। अतः इसका प्रयोग बालकों, सनकी तथा विक्षिप्त प्राणियों का अध्ययन करने में नहीं किया जा सकता। जन्तु-जगत तो इस रीति के बिल्कुल बाहर पड़ता ही है।

अन्तर्निरीक्षण वस्तुतः एक वर्णनात्मक रीति है। किन्तु उपर्लिखित कठिनाइयों के होते हुए भी समस्त मानसिक व्यापारों में इसका प्रयोग किया जाता है। उसकी वैज्ञानिक उपादेयता स्थिर करने के लिए यह आवश्यक है कि इसके साथ साथ वाह्य निरीक्षणात्मक रीतियाँ भी प्रयोग की जायें।

(२) *निरीक्षण*—हम दूसरों की मानसिक क्रियाओं का अनुभव उनके व्यवहार से लगाते हैं। नन्हा बालक माता को अपनी ओर आता देखकर बिस्तर पर पड़ा उछलता है, खिलखिलाकर हँसता है और ऐसा प्रयत्न करता मालूम होता है कि वह अभी कूद कर माँ की गोद में चला जायेगा। हम उसका यह व्यवहार देख कर यह अनुमान करते हैं कि वह प्रसन्न है। इस प्रकार का आचरण प्रसन्नता का द्योतक होता है। सांस्कृतिक-प्रभावों के कारण प्रौढ़ों में यह मौलिक व्यवहार कुछ संयत हो जाता है। प्रसन्न होने पर हम भी खिलखिलाकर हँसते हैं या केवल मुस्करा कर रह जाते हैं। अतः हम हँसने को प्रसन्नता का द्योतक मानते हैं। एक प्रकार से हम निरीक्षण में दूसरों के व्यवहार की व्याख्या अपने अनुभव के आधार पर करते हैं। इस रीति का प्रयोग बालकों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में विशेष रूप से किया जाता है।

दोषः—इस रीति में सबसे बड़ा दोष यह है कि बहुधा हम अपने अनुभवों को दूसरों का अनुभव समझने लगते हैं। बाल-मनोविज्ञान में जो सबसे बड़ी कठिनाई अनुभव होती है वह यही कि कोई मनोविज्ञानवेत्ता बालकों की तरह अनुभव नहीं कर सकता और बालक मनोविज्ञान-

वेत्ता की तरह अपने अनुभव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं कर सकता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए अक्सर मनोविज्ञान-वेत्ता अपने बचपन की याद करता है और उस स्मृति के आधार पर बाल व्यवहार का अनुमान लगाता है।

(२) दूसरा दोष पक्षपात[1] का है। पक्षपात से अनुमान की वैज्ञानिकता नष्ट हो जाती। अतः इस दोष से छुटकारा पाने के लिए मनोवैज्ञानिक निरीक्षक को पूर्णतः पक्षपात रहित होना चाहिये।

(३) कभी-कभी निरीक्षक को धोखा भी हो सकता है। सांस्कृतिक प्रभावों से परिणाम स्वरूप बहुधा हम अपने यथार्थ भावों को छिपा जाते हैं और उन्हें वाह्य व्यवहार में यथा सम्भव व्यक्त नहीं होने देते, जिसके परिणाम स्वरूप मनोविज्ञान-वेत्ता को हमारी यथार्थ मानसिक क्रियाओं का पता लगाने में बहुत कठिनाई होती है। इसीलिए निरीक्षण की रीति प्रौढ़ों के सम्बन्ध में असफलता रहती है। बालकों के ऊपर इस रीति का प्रयोग अधिक सफलता पूर्वक किया जा सकता है क्योंकि वह उस समय तक असलियत के छिपाने के तरीके नहीं सीख पाते हैं जिनमें उनके बड़े-बूढ़े दक्षता प्राप्त कर चुके होते हैं।

(३) *प्रयोग*—प्राकृतिक व्यापारों के वर्णन तथा भविष्य-कथन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विज्ञान में प्रयोगात्मक रीति सबसे उपयुक्त सिद्ध हुई है। प्रत्येक वैज्ञानिक अपना प्रयोग किसी एक परीक्षात्मक व्याख्या के आधार पर करता है। यह प्रारम्भिक व्याख्या अनुमान कहलाती है।

अधिकतर अनुमान केवल एक प्रश्न मात्र होता है और उसका विस्तार बहुत सीमित होता है। इस प्रकार का प्रत्येक अनुमान किसी अन्य व्यापक अनुमान अंग मात्र होता है। इस अनुमान की सत्यता की जाँच के लिये अनुमान की सभी शर्तों को ध्यान रखते हुए खोज की

१—Prejudice.

योजना तैयार की जाती है। अधिकतर यह योजना प्रयोग का स्वरूप धारण करती है जिसको दृढ़ता पूर्वक वश में रक्खी गई दशाओं अंतर्गत नियमित रूप से केवल एक दशा को परिवर्तन करके किया जाता है। अतः प्रयोग की सफलता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि बार-बार बदली जाने वाली एक दशा को छोड़ कर शेष दशाएँ ठीक वैसी ही रक्खी जाँय जैसी की प्रयोग के आरम्भ में थीं।

यदि ऐसी खोज के परिणाम विरोधात्मक नहीं होते तो अनुमान का समर्थन हो जाता है। वैज्ञानिक ढङ्ग से जाँच किये जा चुके उन अनेक अनुमान के आधार पर जिनमें आपस में कई सम्बन्ध है, एक और अधिक व्यापक अनुमान की कल्पना की जाती है तथा प्रयोग द्वारा उसका समर्थन करने के बाद उसको एक वैज्ञानिक नियम का स्वरूप दे दिया जाता है। जितने ही अधिक व्यापक अनुमान का हम वैज्ञानिक समर्थन कर सकते हैं उतने ही हम सत्य के अधिक समीप पहुंच जाते हैं।

जैसा अभी कहा जा चुका है, प्रयोग में अन्य दशाओं को दृढ़ता पूर्वक वश में रखकर केवल एक ही दशा को परिवर्तित किया जाता है। इस प्रकार परिवर्तन की जाने वाली दशा को हम स्वतंत्र चल राशि[१] और उसके प्रभाव को परतंत्र चल राशि[२] कहेंगे। मान लो तुम यह अनुमान लेकर चलते हो कि कमरे में प्रकाश की हालत ठीक न होने पर पढ़ने में अधिक गलतियाँ होती हैं। इस प्रयोग की आवश्यकतानुसार हर दशा में पढ़ने वाला प्रारंभ से अन्त तक एक ही व्यक्ति रहे। यथा सम्भव उसकी मानसिक दशा भी एक सी रहे। पढ़ी जाने वाली वस्तुओं में किसी प्रकार की भिन्नता न हो। परिवर्तन केवल प्रकाश की दशा में किया जाये और उसके परिणामस्वरूप पढ़ने की गलतियों की संख्या लिख ली जाए। इस प्रयोग में स्वतंत्र चल-राशि प्रकाश-तथा परतंत्र चल-राशि पढ़ने की गलतियाँ हुई।

१—Independent variable. २—Dependent variable.

उ१→		→प्र०१
उ२→	विषय	→प्र०२
स्व० च०, उ३→		→प्र०३ प० च० (अगु०)
(प्रकाश)		→प्र४
उ४→	(पाठक)	—प्र५
उ५→		

मनोविज्ञान में प्रयोग द्वारा हम मानसिक क्रियाओं के बीच गणनात्मक सम्बन्ध खोज सकते हैं। उसके साथ वाह्य उत्तेजनाओं का मानसिक क्रियाओं से सम्बन्ध खोजा जा सकता है। इस प्रकार प्रयोग द्वारा मनोविज्ञान लगभग एक तथ्यात्मक विज्ञान बन गया है।

दोषः—(१) समस्त दशाओं को यथेष्ट रूप से वश में नहीं किया जा सकता। मानवीय व्यापार इतने उलझे हुए हैं कि उनको सुलझा कर एक चल-राशि को अलग करना और केवल उसी में परिवर्तन करना अत्यन्त कठिन क्या, लगभग असम्भव सा है। अबतक केवल बहुत साधारण मानसिक क्रियाओं की व्याख्या प्रयोग द्वारा सम्भव हो सकी है।

(२) मनोवैज्ञानिक खोज का आधार मानव होने के कारण प्रयोगात्मक रीति की सफलता संकट में पड़ जाती है। मानव की मानसिक क्रियाओं को वश में करने की अब तक कोई रीति नहीं खोजी जा सकी हैं। वह अपनी प्रतिक्रियाओं के द्वारा प्रयोग करने वाले को धोखा भी दे सकता है। केवल साधारण प्रयोगों में ऐसा होने की कम सम्भावना रहती है। अपने ऊपर प्रयोग किए जाने के विचार से ही उसमें कुछ विरोधी भाव उठने लगते हैं। उनको व्यक्त न करते हुए भी सम्भव है कि थोड़ी देर प्रयोग होने के बाद उसमें उसे कोई रुचि न रहे। ऐसी दशा में उसकी प्रतिक्रियाओं के आधार पर कोई विश्वसनीय अनुमान नहीं बनाया जा सकता। इन तीन प्रमुख रीतियों के अतिरिक्त कुछ अन्य रीतियाँ और हैं, जिनका वर्णन इस पुस्तक की सीमा के बाहर पड़ता है।

—:❀:—

अध्याय–३

मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के शारीरिक अवयव

(१) प्रतिक्रिया-यन्त्र

व्यवहार तथा अनुभव की दशाओं को पूर्णतः समझने के लिये प्राणी की शारीरिक रचना तथा उसकी गतिविधि का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता पूर्ति के लिए केवल उन अवयवों को समझ लेना पर्याप्त है जिनके द्वारा प्राणी की मानसिक क्रिया सम्भव होती है। इन अवयवों का अध्ययन हम दो भागों में करेंगे, इस अध्याय में स्नायविक तथा क्रियात्मक अवयवों का तथा पाँचवें में ज्ञानेन्द्रियों का। प्रथम प्रकार के अवयवों के तीन वर्ग होते हैं—(१) ग्राहक[१]—जिनसे प्राणी में उत्तेजना की क्रिया आरम्भ होती है, (२) स्नायुसमवाय—जिसमें संवेदना प्रचारण[२] की विशिष्टता होती है, (३) प्रभावक[३]—जिनके द्वारा प्रतिक्रिया होती है। इन तीनों को सामूहिक रूप में प्रतिक्रिया यन्त्र[४] भी कह सकते हैं।

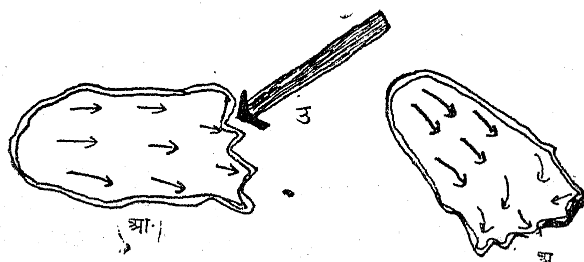
स्नायविक तथा क्रियात्मक अवयव

उत्तेजना—ग्राहक—स्नायु समवाय—प्रभावक—प्रतिक्रिया।

१—Receptors. २—Propagation ३—Effectors. ४—Response Mechanism.

प्रतिक्रिया-यन्त्र का विकास

विकास परम्परा में मानव का स्थान अन्य प्राणियों की अपेक्षा बहुत ऊँचा है और अपने से नीचे जीवधारियों की अपेक्षा उसका प्रतिक्रिया-यन्त्र अत्यन्त जटिल है। यदि हम इस यन्त्र के क्रमिक-विकास को समझ लें तो हमें वाह्य-जगत में व्याप्त शक्तियों का मानव से प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध समझने में सुगमता होगी।



उत्तेजित किये जाने पर अमीबा की प्रतिक्रिया

चित्र सं० १

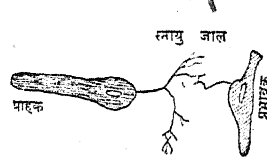
हमारा शरीर अगणित कोषाणुओं[१] के मिलने से बना है। अमीबा[२] नामक सूक्ष्म जीव में केवल एक कोषाणु होता है। उसमें उत्तेजना ग्रहण करने, उसको प्रचारित करने तथा प्रतिक्रिता आदि के लिए विशिष्ट अंग नहीं होते, किन्तु वह भी वाह्य जगत् में व्याप्त शक्तियों से प्रभावित होता है। प्रकाश उत्तेजना के फल स्वरूप उसका रुख बदलता देखा गया है।

विकास में विशिष्टता-विहीन अमीबा से ऊपर प्रतिक्रियात्मक अवयवों में विशिष्टता प्राप्त स्पाञ्ज[३] नामक जीव आता है। इसका स्वरूप माँसपेशी के कोषाणु जैसा होता है और उत्तेजना होने पर उसमें प्रति-

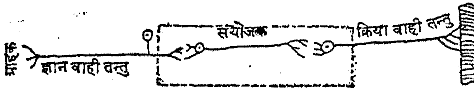
१—Cell. २—Amoeba. ३—Sponge.

क्रिया होती है। उत्तेजना तथा प्रतिक्रिया दोनों के लिए प्रयुक्त ऐसे कोषाणु को स्वतन्त्र-प्रभावक[१] भी कहते हैं। तत्पश्चात् विकीर्ण स्नायु-जाल[२] युक्त विशिष्ट ग्राहक-प्रभावक समवाय आता है। ऐनीमोन[३] जैसे सामुद्रिक जीवों में पाया जाता है। इसके बाद कीड़ों मकोड़ों में पाया





अ स्वतन्त्र प्रभावक   आ—ग्राहक-प्रभावक समवाय



चित्र सं० २—ई ग्राहक-संयोजक-प्रभावक

जाने वाला केन्द्रीय-स्नायु-समवाय आता है, जिसको हम ग्राहक संयोजक प्रभावक समवाय भी कह सकते हैं। यही समवाय अत्यन्त जटिल स्व-रूप में मनुष्य में भी मिलता है। अब आगे इस ग्राहक-संयोजक प्रभा-वक समवाय के प्रत्येक अंग का अलग अलग वर्णन किया जाएगा।

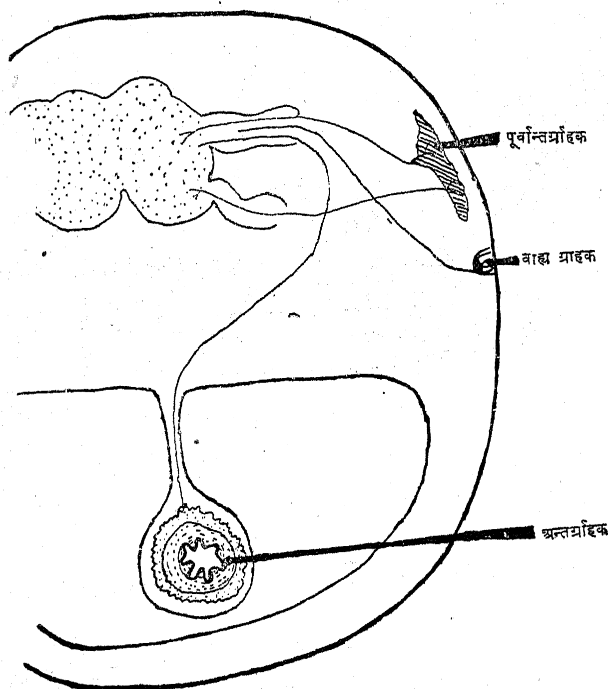
ग्राहक

प्राणी ग्राहकों द्वारा वाह्य जगत् से उत्तेजना पाता है। यह तीन प्रकार के होते हैं— बाह्य ग्राहक

(१) वाह्य ग्राहक[४] — यह शरीर के धरातल पर इस प्रकार स्थिति होते हैं कि वाह्यजगत की शक्तियों का उन पर सरलतः प्रभाव पड़ जाता

१—Independent Effector. २—Neuralnet ३—Anemone. ४—Exteroceptors.

है। इस प्रकार के ग्राहकों का उदाहरण हमारे नेत्र की पुतली के धरातल पर स्थिति ग्राहक कोषाणु हैं।



पूर्वान्तग्राहक

चित्र सं० ३—विभिन्न प्रकार के ग्राहक

(२) पूर्वान्त ग्राहक[2]

यह ग्राहक शरीर तत्व[1] में प्रत्येक स्थान पर व्याप्त हैं। इस प्रकार के ग्राहक-कोषाणुओं का एक विशेष उदाहरण मांस-पेशियों में स्थित संवेदना कोषाणु[3] हैं जो उनमें गति होने से उत्तेजित होते हैं।

१—Bodily tissues. २—Proprioceptors. ३—Sensory cells.

(३) अन्तर्ग्राहक[1]

यह ग्राहक हमारे आमाशय तथा आँतों के अन्दर की सतह पर पाये जाते हैं और अन्तरावयव-संवेदनाएँ ग्रहण करते हैं।

यह सभी प्रकार के ग्राहक ज्ञान-वाही नाड़ी-तन्तुओं[2] के बाहरी सिरों से समान रूप से जुड़े रहते हैं। इन ज्ञान-वाही नाड़ी-तन्तुओं का वर्णन स्नायु-समवाय के अन्तर्गत किया जाएगा।

संयोजक अथवा स्नायु-समवाय

स्नायु समवाय की बनावट अत्यन्त जटिल है। यह उत्तेजना और प्रतिक्रिया के बीच संयोजक का कार्य करता है। इसकी सबसे प्रमुख

स्नायु-समवाय की स्वाभाविक क्रियाएँ

क्रिया शरीर के अनेक अवयवों की क्रियाओं का इस प्रकार समन्वय करना है कि वे एक इकाई के रूप में सङ्गठित क्रिया करें। लिखने की क्रिया में मेरा मस्तिष्क सोचता जा रहा है, कलम हाथ पकड़कर लिखने का काम कर रहा है और आँखें देखती जा रही हैं। क्या कभी विचार किया है कि यह संगठन कैसा विचित्र संगठन है और किस प्रकार हमारा शरीर एक इकाई के रूप में कार्य करता है? यथार्थ में यह सब हमारे स्नायु-समवाय के सुव्यवस्थित होने के कारण ही सम्भव होता है। पक्षाघात के रोगियों का यह स्वाभाविक संगठन भ्रष्ट हो जाता है। यही कारण है कि वे अनेक क्रियाएँ इच्छा रहते हुए भी नहीं कर पाते इसका बहुत मामूली सा अनुभव हमें तब होता है, जब कभी बैठे बैठे हमारा पैर सो जाता है या सुन्न हो जाता है। उस समय हमें कैसा आश्चर्य होता है कि यह क्या हुआ, हम पैर कहीं रखना चाहते हैं और पड़ता कहीं है! स्नायविक क्रिया की निम्न विशेषताएँ होती हैं —

१—Interoceptors. २—Afferent neurones.

(अ) स्नायु आवेग[1] का ऐसा वितरण कि एक ही उत्तेजना के फलस्वरूप शरीर के अनेक अंगों में प्रतिक्रिया होती है। यदि किसी शिशु की पैर की उँगली में धीरे से पिन चुभा दी जाये तो वह उछल पड़ता है और उसके हाथ पैर सब हिलने लगते हैं। इस प्रकार की प्रतिक्रिया उत्तेजना की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक हो सकती है।

वितरण[2]

(आ) अनेक उत्तेजनाओं का ऐसा संसरण कि जिससे एक ही क्रिया होती है। संसरण से हमारा तात्पर्य उस व्यवस्था से है जिसमें भिन्न-भिन्न श्रोतों से आने वाली उत्तेजनाएँ विषय को एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया की ओर ले जाती हैं। आँख से बच्चे को गिरता देखकर और कानों से उसके रोने की आवाज सुनकर माँ उसको उठाने को दौड़ती है।

संसरण[3]

(इ) क्रमशः कई बार की उत्तेजना के बाद समष्टीकरण के फलस्वरूप क्रिया होती है। यथेष्ट समष्टीकरण की अनुमान परिस्थित में प्रतिक्रिया नहीं होती। मान लो तुम ध्यान-पूर्वक इस पुस्तक को पढ़ रहे हो तुम्हारी माता किसी कार्य वश तुम्हें आवाज़ देती हैं। तुम्हारे न सुनने पर लगातार कई आवाजें दे डालती हैं। एकाएक तुम्हारा ध्यान उनकी आवाज की ओर जाता है और तुम कह उठते हो "हाँ"। साथ ही तुम्हें यह भी ध्यान आता है कि इस अन्तिम आवाज से पहले भी मैंने कई आवाजें सुनीं किन्तु मेरा ध्यान उनकी ओर न मालूम क्यों नहीं गया? जब तक आवाज रूपी उत्तेजनाओं का यथेष्ट समष्टीकरण नहीं हो पाया तुम्हें आवाज नहीं सुनाई दी। जब उत्तेजना कई बार दोहराई जा चुकी तो समष्टीकरण के परिणाम स्वरूप प्रतिक्रिया हुई।

समष्टीकरण[4]

१—Neural Impulse. २—Distribution. ३—Convergence. ४—Summation.

अन्य अवयवों में साथ-साथ क्रिया होने या एक साथ होने वाली अनेक उत्तेजनाओं के परिणाम स्वरूप क्रिया विशेष सरल अथवा प्रबल हो जाती है। इस प्रकार के सरलीकरण अथवा प्रबलीकरण का एक सुन्दर उदाहरण घुटने की सहजक्रिया[२] का प्रयोगात्मक अध्ययन करते समय मिलता है। यह देखा गया है कि घुटने की सहज-क्रिया सम्बन्धी उत्तेजना के साथ-साथ यदि बहुत जोर का शब्द भी किया जाए तो उसके परिणाम स्वरूप घुटना पहले की अपेक्षा अधिक जोर से हिल जाता है।

सरलीकरण[१] अथवा प्रवलीकरण

सामान्यतः होने वाली प्रतिक्रिया भी कभी-कभी आप से आप बन्द हो जाती है प्रायः आते आते छींक रुक जाती है।

निरोध[३]

(ऊ) कभी कभी एक ही उत्तेजना के फलस्वरूप कुछ मांस-पेशियाँ में एक प्रकार की क्रिया होती है तथा कुछ में दूसरे प्रकार की। काँटा चुभने पर पैर फौरन उठ जाता है किन्तु उसी समय दूसरा पैर शरीर का बोझ सँभाल लेता है।

अन्योन्यशक्ति प्रदान[४]

(२) प्रत्येक मानसिक क्रिया किसी न किसी स्नायविक क्रिया से अनुबन्धित[५] होती है। इसी को शरीरात्म सामानान्तरता भी कहते हैं। हमारे समस्त मानसिक व्यापार मस्तिष्क में होने वाली कार्य कारण श्रृंखला से जकड़ी हुई स्नायविक घटनाओं के साथ साथ उसी क्रम में होते हैं जिस क्रम में उत्तेजना प्रतिक्रिया क्रम से बद्ध स्नायविक घटनाएँ होती हैं। पढ़ने के लिए पुस्तक खोलते ही वे स्नायविक क्रियाएँ हमारे मस्तिष्क में फौरन होने लगती हैं जिनके परिणाम-स्वरूप हमें शब्दों का प्रत्यक्ष ज्ञान होने लगता है। इस प्रत्यक्ष के होने के साथ हमारी पढ़ने

१—Facilitation. २—Reflex action. ३—Inhibition. ४—Reciprocal Innervation. ५—Correlated.

की मानसिक क्रिया भी चल पड़ती है और जिस क्रम में स्नायविक क्रियाएँ होती रहती हैं उसी क्रम में मानसिक क्रियाएँ भी होती हैं। अतः हम कह सकते हैं कि प्रत्येक मानसिक क्रिया किसी न किसी स्नायविक क्रिया से अनुबन्धित होती हैं।

(३) सब कुछ सीखना और आदतें बनाना स्नायु समवाय के किसी न किसी संशोधन[1] से अनुबन्धित हैं। तुम मनोविज्ञान सीख रहे हो, इसके परिणाम स्वरूप तुम्हारे स्यानु-समवाय में कुछ संशोधन हो रहा है। जो व्यक्ति इसको नहीं पढ़ रहा है उसके स्यानु-समवाय में तुम्हारे जैसा संशोधन भी नहीं हो रहा है। यह स्नायविक संशोधन का ही परिणाम है कि 'ऐटेन्शन' शब्द को सुनकर हाथ में दही का बर्तन लिये जाता हुआ सिपाही एकदम तनकर सीधा खड़ा हो गया और उसके हाथ से दही का बर्तन गिर पड़ा। "ऐटेन्शन" उत्तेजना पाने पर तनकर खड़े होने की प्रतिक्रिया की उसकी आदत पड़ गई थी। उसके स्नायु-समवाय में ऐटेन्शन—तनकर खड़ा होना, यह मार्ग संशोधित रूप में बन चुका था अतः उसके हाथ से दही गिर गया। इसी को स्नायविक संशोधन कहते हैं। व्यापक रूप में इस प्रकार का संशोधन हर समय हमारे स्यानु-समवाय में होता रहता है जिसके परिणाम स्वरूप हमारे अनुभव का क्षेत्र भी क्रमशः बढ़ता जाता है।

नाड़ी-तन्तु

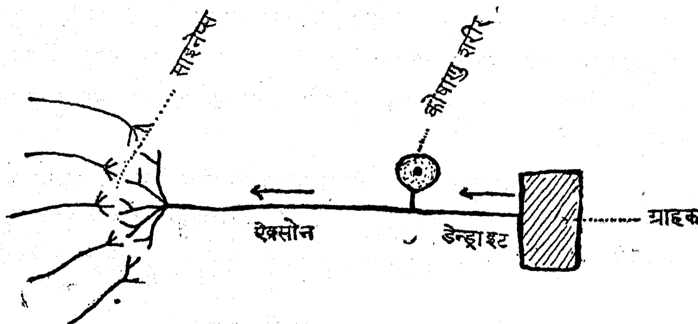
स्नायु-समवाय रेशों की तरह के करोड़ों महीन तन्तुओं से मिलकर बना है। इन महीन रेशों को नाड़ी-तन्तु[2] कहते हैं। मोटी मोटी नाड़ियाँ इन्हीं अनेक नाड़ी-तन्तुओं के मिलने से बनती हैं। केवल हमारे मस्तिष्क में लगभग ९,०००,०००,०००,०००, नाड़ी तन्तु है। शेष शरीर में कई हजार गुने नाड़ी-तन्तु वर्तमान हैं।

१—Modification. २—Neurone.

नाड़ी-तन्तु के भाग—इसके तीन भाग होते हैं :—

(१) कोषाणु शरीर[१]—यह नाड़ी तन्तु का सबसे महत्वपूर्ण भाग होता है। यह बल्ब जैसी आकृति का होता है और नाड़ी-तन्तु के एक सिरे के समीप होता है। इसमें नाड़ी-तन्तु का जीवन-तत्व रहता है। इसका कार्य कोषाणु को स्वस्थ तथा जीवित रखना होता है।

(२) ऐक्सोन[२]—नाड़ी-तन्तु का दूसरा भाग ऐक्सोन कहलाता है। यह एक बहुत लम्बा और महीन रेशा होता है। यह भूरे रंग का होता है। इसमें बहुधा कई शाखाएँ भी होती हैं। इसका अधिकतर भाग एक मोटे सफेद तत्व से ढँका रहता है। वह एक इंच से लेकर पाँच इंच तक की लम्बाई का होता है। इसका कार्य आवेग को कोषाणु शरीर से विलग ले जाना होता है।



चित्र सं० ४—नाड़ी-तन्तु की बनावट

(३) डेन्ड्राइट[३]— यह कोषाणु से निकले हुए महीन छोटे रेशे होते हैं जो दूसरे स्नायु कोषाणुओं से आवेग ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक नाड़ी तन्तु के तीन भाग होते हैं— डेन्ड्राइट, कोषाणु शरीर और ऐक्सोन। नाड़ी-कोषाणु शरीर

१—Cell Body. २—Axone. ३—Dendrite.

डेन्ड्राइट द्वारा अन्य नाड़ियों से आवेग ग्रहण करके ऐक्सोन द्वारा दूसरे नाड़ी-कोषाणु शरीर के पास भेज देता है।

साइनैप्स[1]—वह स्थान जहाँ पर एक नाड़ी-तन्तु दूसरे नाड़ी-तन्तु से जुड़ता है, साइनैप्स कहलाता है। प्रत्येक साइनैप्स के एक ओर ऐक्सोन और दूसरी ओर डेन्ड्राइट रहता है। अतः ऐक्सोन से आया हुआ आवेग डेन्ड्राइट तक पहुँच जाता है। यह आवेग भी विद्युत् आवेग की तरह चलता है और साइनैप्स पर पहुँचकर उसी प्रकार ऐक्सोन से डेन्ड्राइट को जाता है जिस प्रकार विद्युत्-जनित चिन्गारी एक तार से बहुत समीप के दूसरे तार पर पहुँच जाती है यद्यपि उन तारों के सिरे जुड़े हुए नहीं होते। यूँ कहना चाहिए कि आवेग को एक स्थान से दूसरे स्थान को कूदना पड़ता है। प्रत्येक साइनैप्स पर एक ही ओर आवेग (ऐक्सोन से डेन्ड्राइट की ओर को) जा सकता है। यही कारण है कि कुछ नाड़ी-तन्तु केवल एक ओर को आवेग वहन करते हैं और कुछ दूसरी ओर को। सदैव एक ही साइनैप्स से अनेक नाड़ी-तन्तु संयुक्त रहते हैं।

केन्द्र[2]—कई कोषाणु-शरीर, डेन्ड्राइट और ऐक्सोन के इकट्ठे बँधे होने से केन्द्र बनते हैं। इन केन्द्रों को नाड़ी-गुत्थियाँ[3] कहते हैं। इस प्रकार की नाड़ी-गुत्थियों के उदाहरण सुषुम्ना नाड़ी तथा मस्तिष्क हैं।

नाड़ी-तन्तुओं के भेद—यह तीन प्रकार के होते हैं—

(१) क्रिया-वाही नाड़ी-तन्तु[4]—इन तन्तुओं के डेन्ड्राइट मेरु-दण्ड या मस्तिष्क में रहते हैं तथा ऐक्सोन मांस पेशियों में जाते हैं। स्वभावतः इनका कार्य मस्तिष्क सुषुम्ना-नाड़ी से चले हुए आवेग को किसी मांस-पेशी तक पहुँचाना है।

१—Synapse. २—Centres. ३—Ganglia. ४—Efferento-Motor neurones.

(२) ज्ञान-वाही नाड़ी-तन्तु[१]—इसके डेन्ड्राइट किसी ज्ञानेन्द्रिय में रहते हैं तथा ऐक्सोन सुषुम्ना-नाड़ी अथवा मस्तिष्क में जाते हैं। स्वभावतः इनका कार्य आवेगों को ज्ञानेन्द्रिय से मस्तिष्क अथवा सुषुम्ना-नाड़ी की ओर ले जाना होता है।

(३) संयोजक नाड़ी-तन्तु[२]—इनके ऐक्सोन तथा डेन्ड्राइट दोनों सुषुम्ना नाड़ी अथवा मस्तिष्क में रहते हैं। इनका कार्य इन केन्द्रों में एक स्थान से दूसरे स्थान को आवेग ले जाना होता है।

स्नायु समवाय के विभाग

नाड़ी-तन्तु की बनावट तथा भेद समझ लेने के बाद अब तुम्हें स्यानु-समवाय के विभाग समझने में सुविधा होगी। स्नायु-समवाय के साधारणतः दो विभाग माने गये हैं :—

(१) केन्द्रीय स्नायु-समवाय[३]—जिसके दो भाग होते हैं—

(अ) संयोजक नाड़ी-मंडल।[४]

(आ) मस्तिष्क-सुषुम्ना-नाड़ी-तन्तु।[५]

(२) स्वतन्त्र-नाड़ी-मण्डल[६]—जिसके भी दो भाग होते हैं—

(अ) कापालिक-अनुत्रिका[७] नाड़ी-तन्त्र अथवा सपिंगल नाड़ी-मण्डल।

(आ) माध्यमिक अथवा अनुकंपिक नाड़ी[८] मंडल।

१—Afferent or Sensory neurones. २—Connective or associative neurones. ३—Central nervous System. ४—Peripheral nervous system. ५—Cerebro-Spinal system. ६—Autonomous nervous system. ७—Cranio-Sacral. ८—Sympathetic.

अब अगले पृष्ठों में स्नायु-समवाय के प्रत्येक विभाग की बनावट तथा क्रियाओं का वर्णन किया जायगा। सबसे पहले केन्द्रीय स्नायु समवाय के दोनों भागों को अलग-अलग समझने का प्रयत्न करो।

संयोजक-नाड़ी-मंडल

इसके अन्तर्गत—(१)मांस पेशियों तथा ज्ञानेन्द्रियों में स्थित समस्त ज्ञान-वाही नाड़ी-तन्तु तथा क्रिया-वाही और ज्ञान-वाही नाड़ी तन्तुओं के डेन्ड्राइट, (२) कापालिक नाड़ियों[1] के बाहर जोड़े और उनकी शाखाएँ तथा (३) सुषुम्ना-सम्बन्धी नाड़ियों के इकतिस जोड़े तथा उनकी शाखाएँ आती हैं।

हमारी मानसिक क्रियाओं का वाह्य-स्वरूप इस संयोजन नाड़ी-मण्डल द्वारा निर्धारित होता है। उत्तेजना आरम्भ होने के बाद की सभी क्रियाएँ पहले इसी नाड़ी-मण्डल में होती है। किन्तु इसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, यह अपनी क्रियाओं के लिए पूर्णतः मस्तिष्क सुषुम्ना-नाड़ी-तन्त्र पर निर्भर रहता है और इसीलिए साधारणतः इसको न मानकर मस्तिष्क-सुषुम्ना नाड़ी तन्त्र को ही केन्द्रीय-नाड़ी तन्त्र के नाम से पुकारते हैं।

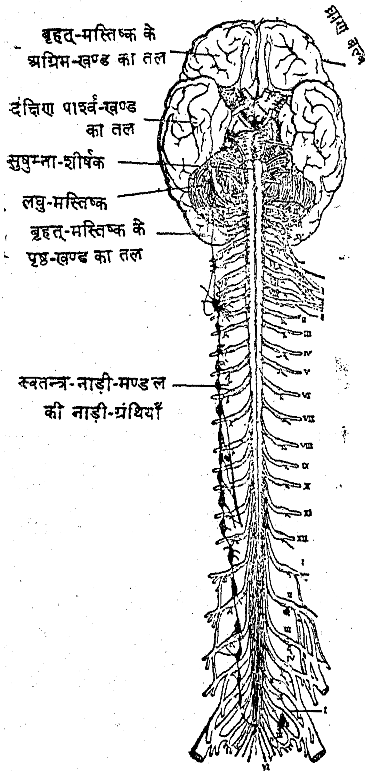
मस्तिष्क सुषुम्ना-नाड़ी-तन्त्र—जैसा शीर्षक से स्पष्ट है, बस नाड़ी मण्डल के दो भाग हैं:—

(१) सुषुम्ना-नाड़ी।[2] (२) मस्तिष्क।[3]

सुषुम्ना—यह नाड़ी बहुत से नाड़ी-तन्तुओं से मिलकर बनी हुई एक

१—Cranial Neurones. २—Spinal cord. ३—Brain.

मोटी रस्सी की तरह गोल और लम्बी होती है। तथा दण्ड[1] के अन्दर रहती हैं।



चित्र सं० ५—मेरु-दण्ड तथा मस्तिष्क

इसके दो मुख्य व्यापार हैं:—(१) साधारण प्रक्षिप्त क्रिया अथवा सहज क्रिया[2] उत्तेजना प्राप्त होते ही तुरन्त अधिकतर अज्ञात रूप से प्रतिक्रिया हो जाने को सहज क्रिया कहते हैं। उदाहरण के लिए मान लो तुम बैठे पढ़ रहे हो एकाएक तुम्हारे साथी ने तुम्हारे हाथ में पिन चुभा दी। तुम्हारा हाथ तुरन्त ही तुम्हारे जाने बिना पहले हट जाता है और तब तुम्हें मालूम होता है कि किसी ने मेरे हाथ में पिन चुभाई। इस प्रकार की सहज क्रिया के उदाहरण हमें रात दिन मिलते रहते हैं। उत्तेजना प्राप्त होते ही ज्ञानवाही नाड़ियों द्वारा उसकी संवेदना सुषुम्ना में पहुँचती है और यहाँ संयोजक नाड़ी-तन्तुओं द्वारा क्रिया-वाही नाड़ी पर आवेग बनकर पहुँच जाती है जिसके परिणाम स्वरूप मांस पेशियों की क्रिया हो जाती है। इस प्रकार की क्रिया में मस्तिष्क का कोई भाग नहीं रहता।

१—Vertebral column. २—Reflex action.

(२) ज्ञान-वाही नाड़ियों से प्राप्त आवेगों को उच्च केन्द्रों[१] तक पहुँचाना तथा उनसे प्राप्त आवेगों को क्रिया-वाही नाड़ियों द्वारा मांस पेशियों तक पहुँचाना। मान लो पिन चुभने से उत्पन्न वेदना अत्यन्त तीव्र है, तो सम्भव है तुम चिल्ला भी पड़ो और पिन चुभानेवाले को मारने को भी झपटो। स्पष्ट है कि इस समस्त क्रिया में मस्तिष्क ने भी भाग लिया।

मस्तिष्क

सुषुम्ना नाड़ी के ऊपर कपाल[२] में स्थित समस्त स्नायु समवाय को साधारणतः मस्तिष्क कहते हैं। इसके तीन मुख्य भाग होते हैं :—

(१) *सुषुम्ना तथा छोटे मस्तिष्क के बीच का भाग अथवा मध्य मस्तिष्क* इसमें सुषुम्नाशीर्ष[३] तथा थैलेमस[४] नाम के दो भाग हैं :—

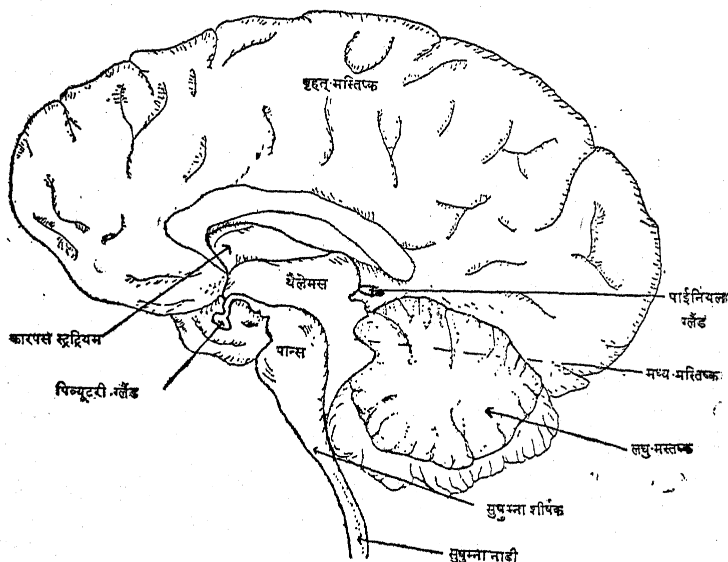
(अ) सुषुम्ना-शीर्षक—सुषुम्ना नाड़ी के ऊपर कुछ मोटे लगभग एक इंच लम्बे भाग को सुषुम्ना शीर्षक कहते हैं। यह सर में होने वाली सहज क्रियाओं का और हृदय गति तथा श्वास क्रिया जैसी महत्व-पूर्ण क्रियाओं का केन्द्र है।

(आ) थैलेमस—यह अंडे की तरह गोल श्नायविक ग्रन्थि के रूप में वृहद् मस्तिष्क[५] के गोलर्द्धों के बीच नीचे की ओर स्थित है। यहाँ पर मस्तिष्क में जाने वाले समस्त ज्ञान तन्तुओं के साइनैप्स रहते हैं। अतः केवल वही सम्वेदनाएँ मस्तिष्क तक पहुँच पाती हैं जो इसको पार कर लेती हैं, अन्य वहीं नष्ट हो जाती हैं।

(२) *लघु मस्तिष्क-सुषुम्ना-शीर्षक* के पीछे केन्द्रीय स्नायु-समवाय के मुख्य भाग से कुछ हटकर दो गोलार्द्धों के रूप में स्थित है। यह शरीर की चेष्टाओं को समन्वित करता है। यह माँस पेशियों की प्रतिक्रियाओं

१—Higher Centres. २—Cranium. ३—Medulla. ४—Thalamus. ५—Cerebrum.

का बहुत बड़ा केन्द्र होता है, विश्राम तथा कार्य दोनों दशाओं में तुल्यावस्था बनाए रखता है तथा झटके से होनेवाली चेष्टाओं को यथा सम्भव एक सार [१] बनाता है। यह लघु-मस्तिष्क के व्यापार का ही प्रभाव है कि तुम बैठे बैठे जिस स्थित में चाहो गर्दन को रखकर पुस्तक पढ़ते



चित्र सं० ६—मानवीय मस्तिष्क की बनावट

रहते हो और तुम्हारा ध्यान न होने पर भी तुम्हारी गर्दन काफी समय तक उसी दशा में रह जाती है। क्या बैठकर पढ़ते समय बैठे रहने के लिए तुम्हें कोई प्रयत्न करना पड़ता है? सम्भवतः नहीं, तुम शायद यह सोचते भी नहीं हो कि तुमको बैठने की दशा में शरीर को सन्तुलित रखना है, किन्तु फिर भी शरीर सन्तुलित रहता है यह सब कुछ लघु-मस्तिष्क के कारण सम्भव होता है।

१—Smooth.

(३) बृहत् मस्तिष्क—साधारण भाषा में मस्तिष्क से हमारा तात्पर्य बृहत्-मस्तिष्क होता है। यह मानवीय शरीर का सब से महत्व-पूर्ण अंग है और विकास परम्परा में अन्य जन्तुओं के मस्तिष्कों की अपेक्षा सब

चित्र सं० ८ मानवीय कार्टक्स का वाम-गोलार्द्ध

से अधिक विकसित रूप में विद्यमान है। वर्तमान व्यवहार-वादी मनोविज्ञानवेत्ताओं ने अपनी समस्त शक्ति इसके व्यापारों को समझने में लगा रक्खी है। उनका विचार है कि हमारे समस्त मानसिक व्यवहार

की मूल पर हमारा वृहत्-मस्तिष्क है। एक समय था जब कि इसको मन का केन्द्र माना जाता था और यह समझा जाता था कि यहाँ बैठकर हमारा मन अनेक विचारों को गढ़ता है तथा मानसिक व्यापारों को चलाता है।

वृहत्-मस्तिष्क का स्थान तथा बनावट

हमारा वृहत्-मस्तिष्क कपाल में लघु मस्तिष्क तथा सुषुम्ना-शीर्षक आदि के ऊपर उनसे मिला हुआ वर्तमान है। यह कपाल के अन्दर की बहुत कुछ जगह घेरे हुए है। साथ के चित्र को देखकर इसकी बनावट समझने का प्रयत्न करो। यह दो गोलार्द्धों में बँटा हुआ है। दाहिनी ओर का गोलार्द्ध अधिकतर शरीर के बाम अंगों से सम्बन्धित है और बाईं ओर का शरीर के दक्षिण अंगों से।

वृहत्-मस्तिष्क का धरातल जगह-जगह से उभरा हुआ और घुमावदार[1] होता है। उसके बाहरी ओर भूरे रंग के पदार्थ[2] की एक पतली परत होती है। इस बाहरी परत को कॉर्टेक्स[3] अतवा आवरण कहते हैं। यह आवरण स्नायु-समवाय का प्रमुख संचालक होता है। इस आवरण के अन्दर करोड़ों ऐक्सोन हैं। इनके ऊपर श्वेत परत होने के कारण यह सब सामूहिक रूप में श्वेत-पदार्थ[4] कहलाते हैं। बहुत अधिक घूमा हुआ तथा जगह-जगह पर उभरा होने के कारण वृहत्-मस्तिष्क के धरातल का क्षेत्रफल बहुत अधिक होता है। उभरे हुए भागों के बीच दरारें[5] होती हैं। कुछ बड़ी दरारें वृहत्-मस्तिष्क के मुख्य क्षेत्रों को एक दूसरे से अलग करती हैं। यह दरारें वृहत् मस्तिष्क को चार भागों में बाँटती हैं :—

(१) पृष्ठ खण्ड[6]—यह वृहत्-मस्तिष्क का पीछे का भाग होता है और दृष्टि तथा नेत्र-गति से सम्बन्धित होता है।

१—Convoluted. २—Grey matter. ३—Cortex. ४—White matter. ५—Fissures. ६—Occipital lobe.

(२) पार्श्व-खण्ड[1]—यह ठीक कान के ऊपर दोनों ओर होता है और सुनने से सम्बन्धित होता है।

(३) शिखा खण्ड[2]—यह पृष्ठ-खण्ड के ऊपर तथा अग्रिम-खण्ड के पीछे होता है और गति, स्पर्श और पीड़ा आदि की संवेदनाओं से सम्बन्धित होता है। इसको स्पर्श-संवेदना-क्षेत्र भी कहते हैं।

(४) अग्रिम-खण्ड[3]—यह वृहत्-मस्तिष्क का आगे का खण्ड होता ऐच्छिक गति[4] से सम्बन्धित चेष्टा-क्षेत्र[5] भी कहते हैं। इस क्षेत्र में शरीर में स्थित कर्मेन्द्रियों[6] के क्रम से बिल्कुल उलटा क्रम होता है। पैर की अँगुलियों का चेष्टा-केन्द्र हाथ की अँगुलियों के चेष्टा-केन्द्र से ऊपर होता है। इसी तरह दाहिने हाथ का चेष्टा-केन्द्र बाँयी ओर और बाँये हाथ का चेष्टा-केन्द्र दाहिनी ओर होता है। अग्रिम-खण्ड में अनेक साहचर्य्य-क्षेत्र भी होते हैं। इन खण्डों के बीच की दो दरारें मुख्य हैं। अग्रिम-खण्ड तथा शिखा-खण्ड के बीच की दरार को रोलैण्डो की दरार[7] तथा अग्रिम और शिखा खण्डों को पार्श्व-खण्ड से अलग करने वाली दरार को साइल्वियस की दरार[8] कहते हैं।

वृहत्-मस्तिष्क मानसिक-क्रियाओं का सबसे महत्व-पूर्ण केन्द्र है। इसमें स्थित नाड़ी-तन्त्र इतनी जटिलतापूर्वक व्यवस्थित हैं कि उनके पारस्परिक सभी सम्बन्धों को पूर्णतः समझ सकना अब तक सम्भव न हो सका है। साधरणतः इसके तीन प्रमुख व्यापार माने जाते हैं :—

वृहत्-मस्तिष्क के व्यापार

(१) संवेदनात्मक[9] व्यापार
(२) साहचर्य्यात्मक[10] ,,
(३) क्रियात्मक[11] ,,

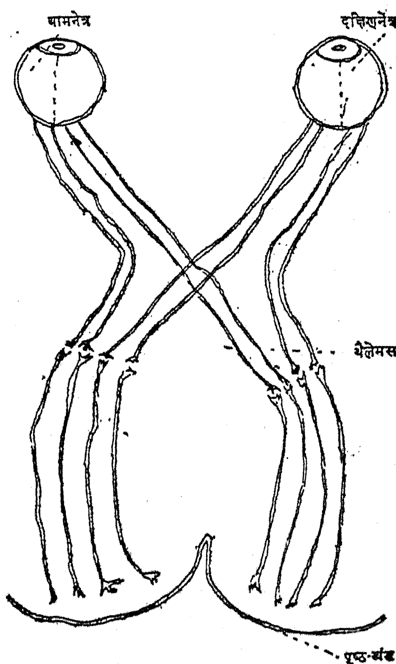
१—Temporal lobe. २—Parietal lobe. ३—Frontal lobe. ४—Voluntary movement. ५—Motor area. ६—Motor organs. ७—Fissure of Rollands. ८—Fissure of Sylvius. ९—Sensory. १०—Associative. ११—Motor.

संवेदनात्मक व्यापार

कार्टेक्स के पृष्ठ, शिखा और पार्श्व-खण्डों में विशिष्ट संवेदना क्षेत्र हैं। ग्राहकों से आनेवाली संवेदनाओं का प्रभाव इनपर पड़ता है जिसके फलस्वरूप दृश्यात्मक,[1] श्रवणात्मक[2] तथा देहात्मक[3] अनुभव होते हैं।

दृश्यात्मक अनुभव

जैसा पहले कहा जा चुका है वृहत्-मस्तिष्क के पृष्ठ-खण्ड में दृष्टि केन्द्र होता है दृष्टि-ग्राहकों से चले हुए समस्त आवेग इसी क्षेत्र में आते हैं। पृष्ठ-खण्ड का दाहिना भाग प्रत्येक नेत्र के दाहिने आधे भाग की सवेदनाएँ ग्रहण करता है तथा बाँया भाग प्रत्येक नेत्र के बाँए आधे भाग की। यदि पृष्ठ खण्ड का दाहिना भाग नष्ट कर दिया जाता है तो दोनों नेत्रों के दाहिने आधे भाग की दृष्टि जाती रहती है। पूर्णान्धता दोनों भागों के नष्ट होने पर होती है। पृष्ठ-खण्ड में किसी प्रकार की खराबी हो जाने पर बहुधा वाह्य उत्तेजना न रहने पर भी तरह-तरह के रंग तथा प्रकाश दिखाई देते हैं। एक रोगी का पृष्ठ-खण्ड आपरेशन द्वारा खोल लिया गया। इस खण्ड



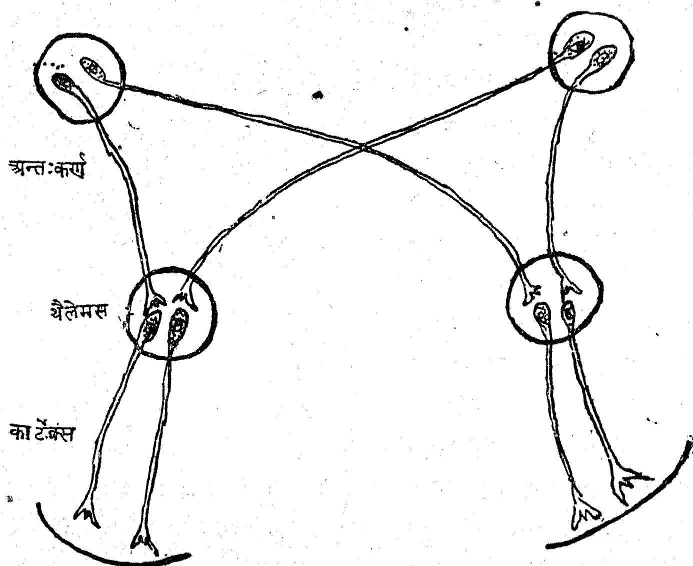
चित्र सं० ८—दृष्टि-नाड़ियों का मार्ग

१—Visual. २—Auditory. ३—Somaesthetic.

को विद्युत द्वारा उत्तेजित करने पर उसे लाल तथा नीली कोई चीज दिखाई दी दूसरे स्थान को उत्तेजित करने पर उसे 'तारा' दिखाई दिया।

श्रवणात्मक अनुभव

श्रवण ग्राहकों से चले हुए आवेगों के पार्श्व खण्ड में पहुँचने पर सुनने का अनुभव होता है। दोनों कानों से चले हुए स्नायु दोनों पार्श्व खण्डों को जाते हैं अतः किसी एक पार्श्व खण्ड के खराब हो जाने से कोई पूरी तौर से बहरा नहीं हो सकता। पूर्ण बहरापन दोनों पार्श्व खंडों के श्रवण-क्षेत्रों के पूर्णतः नष्ट होने पर होता है। बिजली द्वारा श्रवण-क्षेत्रों के



चित्र सं० ८—श्रवण-नाड़ियों का मार्ग

उत्तेजित किए जाने पर प्राणी को अनेक प्रकार की भनभनाहट जैसी ध्वनि सुनाई देती है।

शीर्ष-खंड का वह भाग जो ठीक रोलेन्डो की दरार के पीछे स्थित है वाह्य-ग्राहकों तथा पूर्वान्तग्रहिकों द्वारा प्राप्त देह-चेष्टात्मक[2] संवेदनाओं का अनुभूति-केन्द्र है। इसको देहात्मक-संवेदना-केन्द्र भी कहते हैं। सामान्यतः वाह्य-ग्राहकों द्वारा प्राप्त ताप और स्पर्श तथा शरीर के हिलने डुलने का अनुभव इसी क्षेत्र में होता है। शरीर के दाहिनी ओर के अंगों से चलने वाले आवेगों का प्रभाव इस खंड के वाम भाग पर तथा बाँयी ओर से चलने वाले आवेगों का प्रभाव इस खंड के दक्षिण भाग पर होता है। प्रयोग द्वारा देखा गया है कि इस खंड के वाम भाग को बिजली द्वारा उत्तेजित करने पर विषय को दक्षिण अंगों में गति का अनुभव होता है। गन्ध, स्वाद, दृष्टि, श्रवण, तथा पीड़ा आदि के अनुभव का इस क्षेत्र से कोई सन्बन्ध नहीं मालूम होता। पीड़ा का सम्बन्ध थैलेमस से होता है क्योंकि बहुधा देखा गया है कि वृहत्-मस्तिष्क के काटे जाने पर भी रोगी को पीड़ा अनुभव नहीं हुई है। इसी प्रकार बहुधा शीर्ष-खंड के नष्ट हो जाने पर भी स्पर्श तथा ताप का अनुभव थैलेमस सयोजकों द्वारा होता रहता है।

देहात्मक अनुभव[1]

साहचर्य्यात्मक व्यापार

संवेदना ग्रहण करने के साथ वृहत्-मस्तिष्क का दूसरा तथा सम्भवतः सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यापार सयाजक-नाड़ी-तन्तुओं द्वारा संवेदनाओं को संयुक्त[3] करना, सश्लिष्ट[4] करना तथा उस प्रयत्न के परिणाम स्वरूप आवश्यक संशोधन[5] करना है। यह क्रिया आजीवन चलती रहती है और इसी के परिणाम स्वरूप प्राणी सीखता, पुराने अनुभवों को स्मरण करता तथा सोचता है। बोलना, पुनः स्मरण करना तथा

१—Somaesthesis. २—Kinaesthetic. ३—Connecting. ४—Integrating. ५—Modification.

विचार करना—इन सब के लिए भी कार्टेक्स में विशिष्ट क्षेत्र पाए जाते हैं।

प्रत्येक परिस्थिति के परिणाम स्वरूप साहचर्य्य-क्षेत्रों में सशोधन होता है। इन साहचर्य्य-क्षेत्रों में विकार आ जाने से प्राणी को उस परिस्थिति के महत्व की अनुभूति होना बन्द हो जाती है। वाक्-भ्रंश[1] नामक रोग में रोगी बोलना भूल जाता है। बोलने के सभी अन्य शारीरिक अवयव ठीक रहने पर भी वह बोल नहीं सकता, कारण यह है कि बोलना सीखने में जो भी सशोधन उसके कार्टेक्स में हुआ था वह नष्ट हो गया। अब वह अस्पष्ट वाणी तो बोल सकता है किन्तु सार्थक शब्द नहीं बोल सकता। यदि केवल श्रवणात्मक वाणी-क्षेत्र[2] नष्ट हो जाता है तो रोगी सुनी हुई वाणी को नहीं समझ पाता। ऐसी दशा में रोगी सुनता सब कुछ है किन्तु उसको समझ नहीं पाता। वह बोल और लिख सकता है। उसके लिए केवल बोली हुई भाषा निरर्थक हो जाती है। इसी तरह वाक्-भ्रंश और भी कई प्रकार का हो सकता है इस तरह के रोगी पुनः सिखाए जाने पर फिर कुछ बोलना सीख जाते हैं। यह बात न केवल वाक् चेष्टा के लिए ही कही जा सकती है वरन् अन्य चेष्टाओं के लिए भी सत्य है। एक दो वर्ष की बालिका छत से सर के बल पृथ्वी पर गिर गई। उसके पूर्ण मस्तिष्क को चोट पहुँची, विशेषतः अग्रिम खण्ड को। गिरने के साथ ही वह सब कुछ भूल गई। आठ दिन बाद अस्पताल से वापिस आने के बाद भी उसकी मानसिक दशा ठीक चार माह के बच्चे जैसी थी। बिठाने पर उसकी गर्दन एक ओर को ढुलक जाती थी। वह बोलना बिल्कुल भूल गई। ओठ चलाती थी किन्तु आवाज नहीं निकलती थी। एक ओर के सब अंग बिल्कुल बेकार हो गए।

धीरे धीरे उसने फिर से बोलना, बैठना तथा चलना सीखा किन्तु

१—Aphasia. २—Speech area.

एक बात इसमें विशेष हुई। उन सब बातों को जिनको सीखने में यथार्थ में दो वर्ष लगे थे। वह लगभग दो माह में सीख गई। इसका कारण यह है कि वे संशोधन जो एक बार मस्तिष्क में हो जाते हैं जीवित रहते हुए पूर्णतः कभी नष्ट नहीं हो पाते। दूसरी ओर छत से गिरने से पूर्व की मानसिक तथा शारीरिक पूर्ण स्वस्थता उसमें अब तक नहीं आ पाई है, यद्यपि वह लगभग आठ वर्ष की हो चुकी है। एक बार मस्तिष्क के विभिन्न क्षेत्रों को चोट पहुँच जाने पर उनमें काफी समय के लिए विकार आ जाता है जो पुनः सीखने के परिणाम स्वरूप धीरे धीरे दूर होता है।

ऐसा भी देखा गया है कि मस्तिष्क के किसी भाग को क्षति पहुँचाने के परिणाम स्वरूप कोई कोई व्यक्ति पढ़ना लिखना आदि भूल जाते हैं तथा फिर से शिक्षा देने पर वे फिर यह काम दुबारा सीख लेते हैं। इसका कारण यह माना जाता है कि अवशिष्ट मस्तिष्क में उस काम से सम्बन्धित संशोधन हो जाते हैं।

इस सम्बन्ध में जानवरों पर अनेक प्रयोग किए गए हैं। उनके अग्रिम-खण्ड के अनेक भाग काटकर देखा गया है कि उनकी सीखने की क्रिया पर कैसा प्रभाव पड़ता है। बहुधा एक भाग काट देने पर सीखी हुई क्रिया को वह जानकर भूल जाता है किन्तु फिर सिखाए जाने पर सीख लेता है। इससे ऊपर कही गई बात का समर्थन होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मस्तिष्क में उस क्रिया के लिए नया साहचर्य्य-केन्द्र स्थापित हो जाता है।

साधारणतः बन्दर तथा बन मानुसों को यह याद रहता है कि एक से दो प्यालों में से किस के नीचे भोजन छिपा है। प्रयोग द्वारा यह देखा गया है कि उनकी यह स्मरण-शक्ति अग्रिम-खण्ड के बाहर के अन्य खंडों को नष्ट कर देने पर भी पूर्ववत् बनी रहती है तथा अग्रिम-खंड के दोनों ओर के भागों में से थोड़ा-थोड़ा नष्ट कर देने पर भी स्मरण-शक्ति पूर्णतः नष्ट नहीं होती। इसका परिणाम यह होता है कि वह जीव बहुत समय तक बात का याद नहीं रख सकता। व्यक्तित्व पर भी इसका

प्रभाव पड़ता है। सामान्य जन्तुओं के समान इस प्रकार के जन्तु में फुर्ती और उत्साह देखने में नहीं आते। वह कुछ उदासीन सा हो जाता है।

मानव पक्ष में यह देखा गया है कि साहचर्य्य-क्षेत्र का बहुत बड़ा भाग काट देने पर भी बुद्धि,[1] स्मृति[2] और तर्कना[3] परीक्षा आदि में उसके प्राप्तांकों में कोई कमी नहीं आती है। जब अग्रिम-खंड में दोनों ओर से बहुत बड़े हिस्से काट दिए गए तो रोगी हाल की बीती हुई घटनाओं को भूलने लगा यद्यपि उसको बचपन की घटनाएं भली प्रकार याद रहीं। उसकी तर्कना-शक्ति पर भी इसका प्रभाव अच्छा न पड़ा। उसके विचार अस्पष्ट तथा योजना-शक्ति क्षीण हो गई। इस सम्बन्ध में निम्न उदाहरण उद्धृत किया जाता है जिसको पढ़कर भली प्रकार समझ में आ जाएगा कि मानसिक व्यवहार में अग्रिम-खंड का कितना महत्व पूर्ण स्थान है :—

एक बार एक बुद्धिमान् व्यक्ति के अग्रिम-खंड में एक फोड़ा हो गया। उस फोड़े को ठीक करने के लिए अग्रिम-खंड का एक बहुत बड़ा भाग काट देना पड़ा इस आपरेशन के फल-स्वरूप रोगी के व्यक्तित्व में परिवर्तन हो गया। आपरेशन से पहले वह रोगी गम्भीर और शान्त था। आपरेशन के बाद वह बहुत डींग मारने लगा। अब उसको अपने कुटुम्ब वालों की भावनाओं का पहले जैसा ख्याल नहीं रहा था। उसमें संश्लेषण की शक्ति कुछ कम हो गई, किन्तु फिर भी बीज गणित के प्रश्न वह कर लेता था और यदि कहा जाता था तो कविता भी याद कर लेता था।

इससे स्पष्टतः यह सिद्ध होता है कि अग्रिम-खंड मनुष्य के समस्त मानसिक जीवन पर सूक्ष्म-प्रभाव डालता है। उसका प्राणी के संवेगात्मक प्रेरणात्मक,[4] तथा बौद्धिक व्यवहार से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है।

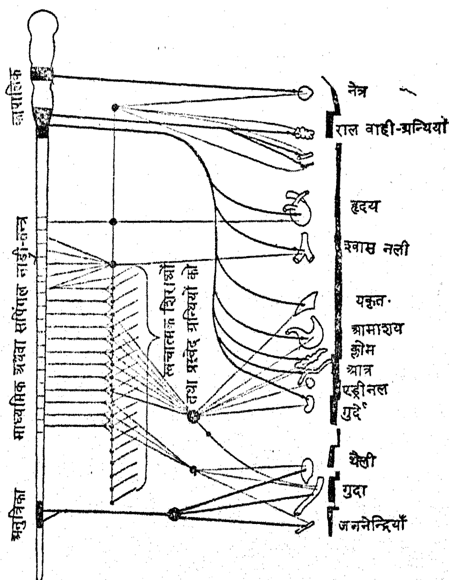
१—Intelligence test. २—Memory test. ३—Reasoning-test. ४—Motivational.

एक प्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता ने जानवरों पर अनेक प्रयोग करके कई महत्वपूर्ण बातें सिद्ध की हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि कार्टेक्स का प्रत्येक भाग समान रूप से शक्तिशाली होता है और प्रत्येक क्रिया में सम्पूर्ण कार्टेक्स भाग लेता है, संवेदनाओं के स्वरूप के अनुसार यह बात दूसरी रही कि कोई भाग अधिक तथा कोई भाग कम। कार्टेक्स का कोई भाग ऐसा नहीं होता जो अपरिहार्य कहा जा सके। इसका प्रयोगात्मक प्रमाण यह है कि एक चूहे के मस्तिक का पूर्ण पृष्ठ-खंड काट देने पर भी उसको फिर से प्रकाश की मात्रा में अन्तर समझ लेना सिखाया जा सका।

स्वतन्त्र-नाड़ी-मण्डल[1]

इस नाड़ी-मण्डल का हमारे जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है और प्रयत्न करने पर भी हम इसको अपनी इच्छा से रोक नहीं सकते। यह स्वतन्त्र रूप से अपना कार्य करता रहता है।

स्वतन्त्र-नाड़ी-मंलड पूर्णतः क्रियात्मक-नाड़ी-मण्डल है। यह हमारे शरीर के अन्दर के समस्त प्राण-धारक[2] अवयव को चलाता रहता है तथा मेरु-दण्ड से जुड़ा हुआ स्थित है। इसके दो भाग हैं :—



चित्र सं० ६—स्वतन्त्र-नाड़ी-मण्डल

१—Autonomic nervous system. २—Vital.

(१) *कापालिक-अनुत्रिका-नाड़ी-तन्त्र*[1]—चित्र देखने से पता चलता है कि कापालिक ऊपर के भाग को तथा अनुत्रिका नीचे के भाग को कहते हैं। कापालिक से चलने वाली नाड़ियाँ आमाशय की दीवार, हृदय, फेफड़ों आदि को जाती हैं अनुत्रिका से चलने वाली नाड़ियाँ जननेन्द्रिय, गुर्दे, गुदा आदि को जाती हैं। इन दोनों को मिला कर सपिंगल-नाड़ी-मण्डल भी कहते हैं।

(२) *माध्यमिक अथवा अनुकम्पिक-नाड़ी-मण्डल*[2]— इससे भी उन सभी अवयवों को नाड़ियाँ जाती हैं जिनको सपिंगल नाड़ी-मण्डल से जाती हैं। यह नाड़ी मण्डल ऊपर वाले नाड़ी-मण्डल के विपरीत कार्य करता है। यह संवेगात्मक दशा में क्रिया-शील होता है। जिस समय प्रथम नाड़ी-तन्त्र की क्रिया शीलता कुछ बढ़ जाती है तो माध्यमिक नाड़ी-तन्त्र के आवेग नष्ट हो जाते हैं। दूसरी ओर जब मध्यमिक की क्रियाशीलता बढ़ती है तो सपिंलग की घट जाती है। माध्यमिक के क्रियाशील होने से साधारण रसों का प्रवाह कम हो जाता है, आमाशय की क्रिया धीमी हो जाती है, तथा हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। क्रोध अथवा दुःख आदि की दशा में यही नाड़ी-तन्त्रक्रिया शील हो जाता है। अतः क्रोध की दशा में हमारी शारीरिक क्रियाओं में जितने भी परिवर्तन होते हैं वे सब माध्यमिक नाड़ी-मण्डल के व्यापार के द्योतक हैं। जब प्राणी शान्त और चैन में होता है तो सपिंगल नाड़ी-तंत्र अपना सामान्य कार्य करके जीवन-शक्ति को बढ़ाने वाले रसों के प्रवाहित होने में सहायता पहुँचाता है।

प्रभावक[3]

वे कोषाणु[4] अथवा कोषाणु-समूह जिनकी सहायता से प्राणी व्यवहार अथवा चेष्टा करता है प्रभावक कहलाते हैं। वे मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—(१) माँस पेशियाँ[5] तथा (२) ग्रन्थियाँ[6]।

१—Cranio-sacral-nervous-system. २—Sympathetic-nervous-system. ३—Effectors. ४—Cell. ५-Muscles. ६—Glands.

माँस-पेशियाँ—माँस-पेशियाँ तीन प्रकार के कोषाणुओं से बनी होती हैं—

(१) रेखा युक्त-पेशी-कोषाणु[१]

इस प्रकार के पेशी कोषाणुओं में तीन प्रकार के कोषाणुओं से होती हैं। विकास परम्परा में इस प्रकार के कोषाणुओं वाली पेशियाँ स्निग्ध पेशियों के बाद आती हैं और उनकी अपेक्षा कहीं अधिक लम्बी होती हैं। यह सुषुम्ना-मस्तिष्क नाड़ी-मण्डल के द्वारा नियंत्रित होती हैं और प्राणी की इच्छानुसार फैलती या संकुचित होती हैं। इस प्रकार की पेशियाँ हाथ पैर आदि में जगह-जगह पर मौजूद हैं।

(२) स्निग्ध-पेशी-कोषाणु[२]

यह विकास परम्परा में सबसे प्राचीन पेशी-कोषाणु माने जाते हैं। इनका स्वरूप ढरकी[३] जैसा होता है। इस प्रकार के कोषाणु वाली पेशियाँ आँतों तथा आमाशय की दीवारों में रहती हैं। इनको स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल से उत्तेजना मिलती है जिसके परिणाम स्वरूप यह स्वतन्त्रता-पूर्वक हर समय काम करती रहती हैं।

(३) हृत्पेशी-कोषाणु[४]

यह कोषाणुहृदय की पेशी में होते हैं। यह एक विशेष प्रकार की पेशी होती है और इसमें रेखा-युक्त पेशी की तरह समानान्तर रेखाएं नहीं होती। यह भी स्निग्ध-पेशी के समान स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल से नियन्त्रित होता है। पहली प्रकार की पेशियाँ ऐच्छिक[५] तथा दूसरी तथा तीसरी प्रकार की पेशियाँ अनैच्छिक[६] कहलाती है।

ग्रन्थियाँ—कोषाणुओं की एक विशेष रचना को ग्रन्थि कहते हैं। शारीरिक प्रक्रिया में इसका प्रमुख व्यापार रस स्राव है। क्रिया-वाही-

---

१—Striped muscle cell. २—Smooth muscle cell. ३—Spnidle. ४—Cardiac cell. ५—Voluntary. ६—Involuntary.

नाड़ी-तन्तुओं से जुड़े होने के कारण तथा उनके उत्तेजित होने पर रस-स्राव की क्रिया करने के कारण वे प्रभावक समझी जाती हैं।

हमारे शरीर में अनेक ग्रन्थियाँ विद्यमान हैं। वे दो वर्गों में विभाजित की जा सकती है—(१) नलिकामयी ग्रन्थियाँ[१] तथा (२) नलिका विहीन ग्रन्थियाँ[२] यहाँ हम केवल नलिकामयी ग्रन्थियों का वर्णन करेंगे। नलिका-विहीन-ग्रन्थियों का संवेग[३] से घनिष्ट सम्बन्ध है, अतः उनका वर्णन संवेगों के साथ किया जायगा।

नलिकामयी ग्रन्थि उस ग्रन्थि को कहते हैं जिसका रस उसमें जुड़ी नलिका द्वारा शरीर के किसी विवर[४] में आता है। हमारे शरीर में इस प्रकार की निम्न ग्रन्थियाँ हैं :—

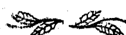
(१) राल वाही ग्रन्थि[५] (२) आमाशय रस वाही ग्रन्थि[६] (३) यकृत[७] (४) क्लोम[८]—यह सब ग्रन्थियाँ पाचन में सहायक अनेक रासायनिक रस देती हैं।

(५) अश्रु-ग्रन्थियाँ[९]—अधिक रोने पर नेत्रों को आँसू अन्यथा उन्हें साधारण मात्रा में रस देती है।

(६) प्रस्वेद ग्रन्थियाँ[१०]—यह ग्रन्थियाँ प्रस्वेद प्रवाहित कर के शरीर का ताप-क्रम संतुलित रखती हैं।

(७) गुर्दे[११]—यह शरीर से व्यर्थ पदार्थ निकालने में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं।

(८) काम-ग्रन्थियाँ[१२]—यह सन्तानोत्पादन के लिए रस प्रदान करती हैं।



१—Duct glands. २—Ductless glands. ३—Emotion. ४—Cavity. ५—Salivary Glands. ६—Gastric Glands. ७—Liver. ८—Pancreas. ९—Tear Glands. १०—Sweat Glands. ११—Kidneys. १२—Sex Glands.

अध्याय-४

संवेदना

हम द्वितीय अध्याय में देख चुके हैं कि विश्व में व्याप्त अनन्त शक्तियों से प्रभावित होकर प्राणी उत्तेजना-आन्तरिक प्रक्रिया-प्रतिक्रिया की शृंखला में जकड़ा हुआ विभिन्न प्रकार का व्यवहार करता है। वह अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ द्वारा वाह्य-संसार से सम्पर्क स्थापित करता है। जिस शक्ति के द्वारा उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ वाह्य-संसार से उत्तेजना ग्रहण करने को प्रस्तुत रहती हैं तथा जिसके द्वारा उसके अन्य अंग गतिशील रहते हैं, उसको प्राण- शक्ति[1] की संज्ञा दी जाती है। इस प्राण-शक्ति के कारण उसकी ज्ञानेन्द्रियों के ग्राहक-कोषाणु हर समय सजग रहते हैं। उनमें आवेग-उत्पादक-शक्ति उसी प्रकार सन्निहित रहती है जिस प्रकार एक विस्फोटक पदार्थ में। वह शक्ति वाह्य-जगत से उत्तेजना रूपी चिंगारी पाते ही इधर-उधर फैलने लगती है और नाड़ियों द्वारा केन्द्रीय स्नायु-समवाय की ओर जाती है। नाड़ी-तन्तुओं द्वारा प्रसारित होने वाली शक्ति को विद्युत्-रासयनिक[2] शक्ति कहते हैं।

इस शब्द का प्रयोग पीछे कई जगह किया गया है। बाल की खाल निकालने वाले दार्शनिकों ने इसके स्वरूप तथा परिभाषा को अनेक प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया है। संवेदना को मनो-वैज्ञानिक-प्रक्रिया की इकाई माना है। यदि केवल एक नाड़ी-तन्तु को एक उत्तेजना द्वारा केवल एक बार उत्तेजित किया जाए तो

संवेदना

१—Vital force. २—Electro-chemical.

उसमें होने वाली विद्युत् रासायनिक गति के परिणाम-स्वरूप जो मानसिक प्रक्रिया होगी उसको संवेदना कहते हैं। संवेदनाएँ ज्ञान-वाही नाड़ी-तन्तुओं द्वारा प्रसारित होती हैं। संवेदनाओं के गन्तव्य स्थान केवल वे नाड़ी-ग्रन्थियाँ हैं जो अन्तर्गामी विद्युत्-रासायनिक आवेगों को वहिर्गामी विद्युत्-रासायनिक आवेगों में बदलती हैं।

यथार्थ में शुद्ध संवेदना केवल कल्पना का विषय है। साधारण जीवन में प्राणी को शुद्ध संवेदना कभी नहीं होती। हम प्रत्यक्ष के विश्लेषण द्वारा संवेदना का पता लगाते हैं। जन साधारण के लिये एक सुन्दर दृश्य केवल एक दृश्य मात्र होता है। चित्रकार के लिए वही दृश्य विभिन्न रंगों के धब्बों का एक सुन्दर विन्यास होता है जिसका यथोचित विश्लेषण करके वह उस दृश्य को चित्रित करता है। संवेदना के विद्यार्थी का काम इससे भी बढ़कर है। वह न केवल रंग के धब्बों को देखता है वरन् विभिन्न रंगों के गुण तथा प्रभाव का भी अध्ययन करता है। संवेदना किस प्रकार होती है? उसमें परिवर्तन होने का आधार क्या है? क्या अलग-अलग उसकी दशाएँ ज्ञात की जा सकती हैं और उनको किस प्रकार नापा जा सकता है? ज्ञानेन्द्रिय तथा ज्ञान-तन्तुओं में क्या घटित होता है? यह भौतिक रासायनिक अथवा यांत्रिक घटनाओं पर किस प्रकार निर्भर होता है? हम इन्हीं सब प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए इस अध्याय में संवेदना तथा अगले में ज्ञानेन्द्रियों का वर्णन करेंगे। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर से संवेदना के नियम निर्धारित होते हैं।

उत्तेजना, जैसा पहले कहा जा चुका है, वाह्य-जगत में व्याप्त शक्ति के किसी भी ऐसे परिवर्तन को कहते हैं जिसके प्रभाव से किसी ज्ञानेन्द्रिय के ग्राहकों में गति होती है। उत्तेजना के द्वारा संवेदना उत्पन्न होती है। उत्तेजना की अनुपस्थिति में संवेदना की कल्पना नहीं की जा सकती है। हम कह सकते हैं कि उत्तेजना संवेदना की जननी होती है। सुई चुभने पर पीड़ा होती है। सुई चुभना उत्तेजना हुई और पीड़ा संवेदना।

उत्तेजना तथा संवेदन

संवेदना के धर्म[1]—संवेदना कई प्रकार से बदल सकती है। यह परिवर्तन उसके विस्तार की अनेक दिशाओं में हो सकता है। संवेदना अनुभव करने वाला उसका यथेष्ट वर्णन तभी कर सकता है जब वह प्रत्येक दिशा में होने वाले परिवर्तन का मान ठीक-ठीक आँक सके। परिवर्तन की यही संभव दिशाएँ संवेदना के धर्म कहलाते हैं।

मान लो किसी जन्मांध व्यक्ति को एकाएक बिल्कुल ठीक दिखाई देने लगता है और उसको लाल वर्ण दिखाया जाता है। इस एकाकी अनुभव से उसको संवेदना के धर्मों का कुछ ज्ञान न हो सकेगा, किन्तु हम शीघ्र ही उसको दिखा सकते हैं कि उनमें से कुछ, यथार्थ में क्या हैं। पहले रंग परिवर्तन द्वारा उस वर्ग के गुण[2] में परिवर्तन करके हम उस मनुष्य को बता सकते हैं कि इस प्रकार का परिवर्तन करने से उस वर्ग की संवेदना केगुणात्मक धर्म में परिवर्तन होता है। उस वर्ग के रंग की चमक में परिवर्तन करके हम संवेदना के तीव्रता[3]-धर्म में परिवर्तन कर सकते हैं। फिर हम उस वर्ग को बड़ा या छोटा करके उसके व्यापकता[4]-धर्म में परिवर्तन कर सकते हैं। दिखाए जाने का समय घटा या बढ़ा कर सत्ता-काल[5] रूपी धर्म में परिवर्तन कर सकते हैं। इस प्रकार देखते हैं कि संवेदना के चार धर्म माने गये हैं—गुण, तीव्रता, व्यापकता तथा सत्ता-काल। किन्तु इन चार के अतिरिक्त और भी बहुत से धर्म हो सकते हैं क्योंकि जितनी प्रकार से संवेदना को बदला जा सकता है सन्भवतः उतने ही उसके धर्म हो सकते हैं।

श्रवण-संवेदना के अतिरिक्त प्रत्येक अन्य प्रकार की संवेदना कुछ प्राथमिक[6] गुणों पर आधारित होती है जिनके मिलने से अन्य गौण[7] गुणों की सृष्टि होती है। दृष्टि-संवेदना में सात प्राथमिक गुण होते हैं—लाल, पीला, हरा, नीला, श्वेत, धूसरित और काला शेष सभी रंग उन्हीं सात रंगों से मिलकर बनते हैं।

गुण

१—Attributes of sensation. २—Quality. ३—Intensity. ४—Extensity. ५—Duration. ६—Primary. ७—Secondary.

इसी प्रकार श्रवण, गन्ध, स्वाद, देहात्मक-संवेदना आदि के भी अलग-अलग प्राथमिक गुण हैं जिनका वर्णन उपयुक्त स्थान पर किया जाएगा।

किसी ज्ञानेन्द्रिय से सम्बन्ध रखने वाली संवेदना के प्राथमिक गुणों के अतिरिक्त प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय से सम्बन्धित संवेदना का एक अलग गुण होता है। उदाहरणतः दृष्टि-संवेदना गन्ध-संवेदना से भिन्न होती है यथार्थ में शरीर-विज्ञान वेत्ता इस प्रकार के संवेदनात्मक गुणों का कोई संतोषजनक सिद्धान्त अब तक स्थिर नहीं कर पाये हैं। जैसा हम पिछले अध्याय में कार्टेक्स का वर्णन पढ़ते समय देख चुके हैं, इस समय विभिन्न प्रकार की संवेदना की व्यख्या इस आधार पर की जाती है किप्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय सेज्ञानवाही नाड़ियाँ कार्टेक्स के अलग-अलग उन भागों को जाती हैं जिनमें विभिन्न संवेनाओं की अनुभूति की विशिष्टता है। यथार्थ में हम नेत्रों से नहीं देखते, हम कार्टेक्स के उस भाग से देखते हैं जिसको हम दृष्टि-क्षेत्र कहते हैं और जिससे नेत्र से चलने वाली ज्ञानवाही नाड़ियाँ जुड़ी रहती हैं।

संवेदना के गुण से हमें पता लग जाता है कि कौन से नाड़ी-तन्तु उत्तेजित हुए हैं। तीव्रता विस्तार तथा सत्ता काल केवल यह बताते हैं कि वे नाड़ी-तन्तु किस प्रकार क्रिया कर रहे हैं।

सामान्यतः संवेदना की तीव्रता दो बातों पर निर्भर होती है :—

तीव्रता

(१) उत्तेजना की शक्ति तथा (२) उत्तेजित किए जाने वाले नाड़ी-तन्तुओं की संख्या।

(१) उत्तेजना की शक्ति के बढ़ने से संवेदना की तीव्रता बढ़ती है। धीरे से पिन चुभाने से कम तथा जोर से चुभाने से अधिक पीड़ा होती है। किसी नाड़ी-तन्तु को यदि बार-बार उत्तेजित किया जाए तो उत्तेजित की शक्ति बढ़ जाती है और उसके साथ संवेदना की तीव्रता भी। एक बार उत्तेजित किए जाने पर प्रत्येक नाड़ी-तन्तु डेन्ड्राइट के द्वारा आये हुए आवेग को ऐक्सोन द्वारा आगे बढ़ाकर कुछ क्षण के लिए संज्ञा-शून्य हो जाता है तथा उस समय किसी अन्य उत्तेजना को ग्रहण नहीं

करता। किंतु यदि उत्तेजना की शक्ति अधिक होती है तो नाड़ीतन्तु की संज्ञा-शून्यता का समय[1] घट जाता है और उस पर एक के बाद दूसरा आवेग अधिक शीघ्रता-पूर्वक चलने लगता है जिसके परिमाण-स्वरूप संवेदना की तीव्रता बढ़ जाती है।

(२) जितने ही अधिक नाड़ी-तन्तुओं को उत्तेजित किया जाता है संवेदना उतनी ही अधिक तीव्र होती है। अधिक शक्तिशाली एक ही उत्तेजना द्वारा अधिक नाड़ी-तंतु उत्तेजित होते हैं जिसके परिणाम-स्वरूप संवेदना की तीव्रता बढ़ जाती है अथवा थोड़ी शक्ति वाली अनेक उत्तेजनाओं द्वारा अलग-अलग नाड़ी-तन्तुओं को उत्तेजित करने पर भी संवेदना की तीव्रता बढ़ जाती।

इसके साथ-साथ तीव्रता ज्ञानेन्द्रिय की संवेदन-शीलता पर भी निर्भर होती है। हमारे नेत्र विभिन्न लम्बाई की अगणित विद्युत् चुम्बकीय लहरों में से केवल उन लम्बाई की लहरों से उत्तेजित होते हैं जिनके मिश्रित प्रभाव को प्रकाश कहते हैं। इसी प्रकार हमारे कान केवल थोड़ी सी विभिन्न आवृत्ति वाली ध्वनियाँ सुन पाते हैं शेष नहीं। केवल दो निश्चित सीमाओं[2] के बीच की शक्ति वाली उत्तेजनाओं से संवेदना होती है। नीचे की सीमा से कम अथवा ऊपर की सीमा से अधिक शक्ति वाली उत्तेजनाओं का ज्ञानेन्द्रियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार उत्तेजना की शक्ति का संवेदना की तीव्रता से घनिष्ट सम्बन्ध है।

संवेदना की व्यापकता उत्तेजना से प्रभावित क्षेत्र पर निर्भर होती है। महीन और थोड़ी सी जगह में लिखे हुए *अक्षर* को पढ़कर क्या वही संवेदनाएँ होती हैं जो खूब बड़ा और अधिक जगह से लिखे हुऐ '*अक्षर*' को पढ़ कर होती है? संवेदना की व्यापकता उसकी तीव्रता से भिन्न होती है। '*अक्षर*' के प्रत्येक भाग से प्रक्षिप्त होने वाली लहरें उसी लंबाई की हैं जिस

व्यापकता

1—Refractory period. 2—Threshold.

लंबाई की 'अक्षर' के प्रत्येक भाग से प्रक्षिप्त होने वाली अतः दोनों की तीव्रता समान है किन्तु 'अक्षर' ने कम और 'अक्षर' ने अधिक क्षेत्र घेरा है। अतः इन दोनों की व्यापकता में अन्तर है।

सत्ताकाल

संवेदना का सत्ताकाल इस बात पर निर्भर होता है कि उसका प्रभाव मस्तिष्क में कब तक ठहरता है। कोई संवेदना बहुत थोड़ी देर ठहरती है और कोई कुछ अधिक देर। सूर्य की ओर आँख ले जा कर तुरन्त हटा लेने से एक संवेदना होती है और उसकी ओर कुछ क्षण तक देखने से दूसरी।

संवेदना-धर्मों पर विचार करने के बाद अब हम विभिन्न संवेदनाओं का अध्ययन करेंगे। साधारणतः संवेदनाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है। (१) ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित संवेदनाएँ तथा (२) अन्तरावयव संवेदनाएँ[१]।

पहले हम दूसरे प्रकार की संवेदनाओं का वर्णन करते हैं। पहले प्रकार की संवेदनाओं का वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

अन्तरावयव संवेदना से हमारा तात्पर्य उस संवेदना से है जो प्राणी के शरीर की साधारण आवश्यकताओं से सम्बन्धित होती है। भूख प्यास, सर दर्द, आदि कुछ इस प्रकार की संवेदनाएँ हैं। अन्तरावयव-संवेदनाएँ दो प्रकार की मानी जाती है (१) एक तो वे जिनके लिये कोई निश्चित स्थान नहीं मालूम होता जैसे बेचैनी अथवा आराम की संवेदनाएँ (२) दूसरी वे जो शरीर के किसी आन्तरिक अवयव से सम्बन्ध रखती हैं। जैसे भूख (आमाशय), प्यास (मुख तथा कण्ठ) और सर दर्द (मस्तिष्क)।

आमाशय की दीवारों के सिकुड़ने तथा फैलने से भूख लगती है। उदर खाली रहने पर यह क्रिया बहुत बढ़ जाती है उस दशा में पेट में चूहे कूदने लगते हैं। साधारणतः ऐसा कम होता है। सम्भवतः विशुद्ध

1—Organic Sensations.

शारीरिक भूख का अनुभव केवल अकाल में मरने वाले व्यक्तियों को ही होता है। खाने की इच्छा होना दूसरी बात है और कस कर भूख लगना दूसरी बात। खाने की इच्छा अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकती है। बढ़िया मसालों की सुगन्ध आने पर मुँह में पानी भर आता है। और भूख का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार की भूख शुद्ध भूख नहीं कहला सकती।

भूख

प्यास का सम्बन्ध हमारे मुख तथा कण्ठ के अन्दर की त्वचा से है। बहुत प्यास लगने पर इस सम्पूर्ण भाग में बड़ी खुश्की महसूस होती है। जब कभी रालवाही ग्रन्थियों से मुख तथा कंठ की त्वचा को नम रखने के लिए आवश्यक रस स्राव नहीं हो पाता है तभी प्यास लगने लगती है। पसीना बनकर या अन्य किसी प्रकार से जितना अधिक पानी शरीर से निकल जाता है, प्राणी को उतनी ही अधिक प्यास लगती है। यही कारण है कि गर्मियों में जाड़ों की अपेक्षा अधिक पानी पीने की आवश्यकता रहती है।

प्यास

पीड़ा-संवेदना का वर्णन अगले पाठ में किया जायगा।

संवदनाओं के मिश्रण को हम दो भागों में बाँट सकते हैं :—एक पूर्ण और दूसरा अपूर्ण। पूर्ण मिश्रण में संवेदनायें इस प्रकार मिल जाती हैं कि उनका अलग करना कठिन है, परन्तु अपूर्ण मिश्रण में ऐसा नहीं होता। पूर्ण मिश्रण में प्रत्येक संवेदना का गुण समाप्त हो जाता है जिसके कारण उसका पहचानना कठिन हो जाता है। अपूर्ण मिश्रण में प्रत्येक संवदना के गुण अलग अलग जाने जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, नींबू के शर्बत में उसका स्वाद, शीतलता, गंध आदि कई गुणों का मिश्रण रहता है परन्तु ध्यान देने पर उन संवेदनाओं का अलग-अलग अनुभव करना बहुत कठिन नहीं है। ताप में गर्मी, ठण्डक और दर्द तीनों से संबंधित संवेदनाओं का मिश्रण अपूर्ण होता है।

संवेदनाओं के मिश्रण

जिन क्रियाओं का आधार किसी बाह्य वस्तु की प्रेरणा पर रहता है उन्हें सहज-क्रिया कह सकते हैं। आग से छू जाने पर अपने हाथ को तुरंत हटा लेते हैं। आँख में कुछ पड़ने की संभावना होते ही पलकें बन्द हो जाती हैं। परन्तु कुछ क्रियायें अचेतन रूप में भी हुआ करती हैं जिनका ज्ञान सामान्य अवस्था में नहीं रहता। हृदय की गति, श्वास-प्रश्वास, रक्त-वाहन आदि ऐसी क्रियायें हैं। अतः सहज क्रियाओं का आधार मानसिक न होकर शारीरिक होता है। इनके लिए किसी प्रवर्त्तक की आवश्यकता पड़ती है। इनकी गति इतनी तीव्र होती है कि तत्संबंधित संवेदना का अनुभव करना कठिन हो जाता है। इसी आधार पर संवेदना और सहज-क्रिया को भिन्न समझा जा सकता है। सहज-क्रिया द्वारा शरीर के नाड़ी-मंडल पर स्वभावतः प्रभाव पड़ता है। किसी बाह्य प्रवर्त्तक से उत्पन्न प्रतिक्रिया से संवेदना का अनुभव होता है। किसी भी प्रवर्त्तक के मिलने पर पहले संवेदना का अनुभव होता है। प्रत्यक्षीकरण की क्रिया इसके बाद आती है।

संवेदना और सहज-क्रिया

परन्तु सहज-क्रियाओं में मस्तिष्क का सहयोग इतना गतिशील नहीं होता। अतः उनका ज्ञान हमें नहीं हो पाता। संवेदना का रूप मानसिक होता है, परन्तु सहज क्रियायें शारीरिक होती हैं। कुछ क्रियाओं में संवेदना और सहज क्रिया का मिश्रण रहता है जैसे छींकना, खाँसना आदि। छींकना या खाँसने पर कुछ संवेदना का भी अनुभव होता है। इसका कारण यह है कि जब शरीर की स्वाभाविक क्रियाओं में कुछ बाधा पहुँचती है तो छींकना या खाँसने की क्रिया होने लगती है।

यहाँ पर यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि संवेदना और सहज-क्रिया दोनों स्वभाविक क्रियायें हैं। छूना, सूँघना आदि क्रियाओं को सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। ज्ञानेन्द्रियों के उत्तेजित होने पर संवेदना का अनुभव होता है। बालक धीरे-धीरे इनको अनुभव करने

लगता है। वास्तव में ज्ञान होने के पूर्व ही संवेदनाओं का कार्य चलता रहता है। बाद में इनका अनुभव होने लगता है।

संवेदनाओं के द्वारा हमें ज्ञान प्राप्त होता है। किसी वस्तु को जानने के पहले हमें संवेदना का अनुभव होता है। जेम्स के अनुसार संवेदना के द्वारा हम किसी वस्तु के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस ज्ञान के पहले हमें वस्तु का परिचय प्राप्त होता है। परिचय के पश्चात ही हम वस्तु के गुणों को जानते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के प्रभावित होने पर हमें केवल वस्तु से संबंधित संवेदना ही नहीं प्राप्त होती परन्तु किसी विशेष दिशा की ओर चलने की प्रेरणा भी मिलती है। इस प्रकार किसी वस्तु को जानने के लिए हमें पहले संवेदना का सहारा लेना पड़ता है। संवेदना के गलत होने पर वस्तु का ठीक ज्ञान नहीं होता। इसी को भ्रम कहा जाता है।

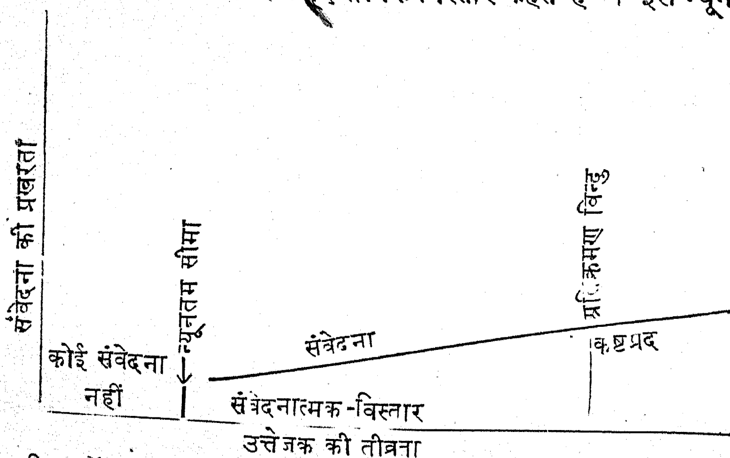
संवेदनाओं का महत्व

सभी जीवित प्राणियों की अपनी कुछ सीमायें होती हैं। कुछ वस्तुयें उनको प्रभावित करती हैं और कुछ नहीं। क्षीण प्रकाश को देखना या क्षीण ध्वनि को सुनना कठिन है। परन्तु प्रकाश या ध्वनि के तीव्र होने पर उनका अनुभव करना आसान है। देखने या सुनने आदि क्रियाओं की 'न्यूनतम सीमा होती है जिसे संवेदना की 'न्यूनतम सीमा' या 'सीमान्तक परिमाण'[2] कहते हैं। अतः सीमान्तक परिमाण का अर्थ हुआ—उत्तेजक की वह न्यूनतम प्रखरता जहाँ पर व्यक्ति को तज्जनित उत्तेजना का भान होना आरम्भ हो जावे। उदाहरणार्थ यदि एक व्यक्ति की आँखें बन्द करके उसकी हथेली पर एक मिली ग्राम का भार रख दिया जाय तो उसे उस भार की उपस्थिति का कुछ भी पता न चलेगा किन्तु यदि उसी भार को हम थोड़ा-थोड़ा करके बढ़ाते जाय तो एक किसी भार पर उस व्यक्ति को भार की संवेदना प्राप्त होने लगेगी। इसी भार को भार की संवेदना

सीमायें[1]

1—Thresholds. 2—Threshold of sensation.

का सीमान्तक परिमाण या न्यूनतम सीमा कहेंगे। इसी प्रकार दृष्टि तथा श्रवण सम्बन्धी संवेदनाओं की भी न्यूनतम सीमा निर्धारित की जा सकती है। अंग्रेजी के थ्रेशोल्ड (Threshold) शब्द का अर्थ होता है चौखट। जिस प्रकार कमरे के दरवाजे में लगी चौखट कमरे की सीमा निर्धारित करती है। उसी प्रकार संवेदना की सीमा निर्धारण सीमान्तक परिमाण द्वारा होता है। यदि उत्तेजक की प्रखरता को हम बढ़ाते ही जायँ तो एक स्थान पर वह संवेदना कष्टप्रद हो जायगी। अधिक तीव्र उत्तेजक संवेदना के स्थान पर कष्टदायक हो जाते हैं। इसी प्रखरता को जहाँ पर उत्तेजक कष्टदायक होने लगते हैं संवेदन सीमा का अतिक्रमण बिन्दु[1] कहते हैं। सीमान्तक परिमाण और अतिक्रमण बिन्दु, के बीच के मध्यान्तर को संवेदनात्मक-विस्तार कहते हैं[2]। इस न्यूनतम



सीमा में समयानुसार परिवर्तन भी होता रहता है। सीमा को निर्धारित करने के लिए उसको मापना आवश्यक है। क्योंकि किसी भी प्रयोगात्मक विज्ञान द्वारा निर्धारित परिणामों की सत्यता उसके उस विषय को मापने

1—Upper limit of Sensation. 2—Range of Sensibility.

की योग्यता पर निर्भर होती है। यही कारण है कि सीमा का रूप गणनात्मक[1] है।

विभिन्न समस्याओं के अध्ययन के पश्चात् यह ज्ञात हुआ कि न्यूनतम सीमा दो प्रकार की हो सकती है—पूर्ण सीमा[2] और सम्बन्धित सीमा[3]। पूर्ण सीमा उत्तेजक[4] का वह रूप है जो कि सामान्य रूप से जाना जा सकता है। संबंधित सीमा का सामान्य रूप से ज्ञान दो उत्तेजकों के भेद से होता है। दोनों प्रकार की सीमाओं को मापना मनोविज्ञान की एक प्रमुख समस्या है। इनके मापने के लिए विभिन्न विधियों का प्रयोग किया जाता है। इनके आधार पर किए गये निर्णयों का विज्ञान के लिए बहुत महत्त्व है। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति टेलीफोन कार्यालय में कार्य करने के लिए प्रार्थना-पत्र देता है। स्पष्ट है कि उसकी सुनने की शक्ति सामान्य होनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि उसकी शब्द की पूर्ण सीमा सामान्य से ऊपर नहीं होनी चाहिए। चूँकि ऐसे कार्य में सुनने की शक्ति का बड़ा महत्त्व है इसलिए उसकी पूर्ण सीमा सामान्य स्तर पर ही होना चाहिए।

पिछली लड़ाई में सीमाओं की परीक्षा के लिए कई विधियों का प्रयोग किया गया। सामान्यतः पूर्ण सीमा को जानने के लिए उसकी तुलना सामान्य स्तर से करने की आवश्यकता पड़ती है। इस तुलना के आधार किसी कार्य के लिए उपयुक्त वस्तु का चुनाव किया जा सकता है। ध्वनि के संबंध में प्रत्येक की पूर्ण सीमा में भिन्नता पायी जाती है। संबंधित सीमा को जानने के लिए दो उत्तेजकों के भेद को जानने की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार मनोविज्ञान में सीमाओं के विषय के अध्ययन करने का बड़ा महत्त्व है।

हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर बाह्य वस्तुओं का प्रतिक्रियात्मक रूप में प्रभाव पड़ता है। परन्तु प्रतिक्रिया का ज्ञान सदैव नहीं होता। बहुत

1—Statistical. 2—Absolute threshold. 3—Relative or differential threshold 4—Stimulus.

धीमे या बहुत तेज उत्तेजकों से हम बहुत कम प्रभावित होते हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रभावित होने की अपनी एक सीमा[1] होती है।

वेबर-फेचनर संवेदना सिद्धान्त

अधिक तीव्र उत्तेजक कष्टदायक होते हैं। जिस सीमा में उत्तेजक कष्टप्रद हो जाते हैं उन्हें 'संवदना की सीमा का अतिक्रमण बिन्दु'[2] कहते हैं। संवदना सीमा का अतिक्रमण 'बिन्दु' और 'चेतन-बिन्दु' या 'सीमा' के बीच के मध्यान्तर को 'संवेदनात्मक-विस्तार'[3] कहा जाता है।

जर्मन शरीर-विज्ञान-शास्त्री वेबर के मतानुसार 'संवेदना सीमा का अतिक्रमण बिन्दु' और 'चेतना-बिन्दु' के अन्तर्गत उत्तेजक की जितनी

वेबर-सिद्धान्त

अधिक तीव्रता होगी, संवेदना भी उसी अनुपात में बढ़ जाती है। कभी-कभी उत्तेजक की तीव्रता में वृद्धि इतनी कम होती है कि उसका ज्ञान प्राप्त करना कठिन है। उदाहरणार्थ, यदि एक सेर तौल की किसी वस्तु में एक तोला का भार और बढ़ा दिया जाय तो उसको जानना कठिन होगा। उत्तेजक को अनुभव करने के लिये उसकी एक सीमा होती है। अतः यदि उसके प्रभाव का अनुभव करना है तो उसे एक ऐसी मात्रा तक बढ़ाना पड़ेगा जिससे कि उसको जाना जा सके। उत्तेजक को बढ़ाने के लिए एक नियम के अनुसार चलना होगा। अर्थात् मौलिक उत्तेजक[4] की तीव्रता के किसी निश्चित अंश को ही उस तीव्रता को बढ़ाने के लिए जोड़ना पड़ेगा। शरीर पर यदि ५० तोले का भार रखा हुआ है तो जब तक कम से कम २½ तोले का भार अधिक नहीं बढ़ाया जाता तब तक अधिक दबाव का अनुभव नहीं होता। इससे यह ज्ञात होता है कि जब तक मौलिक उत्तेजक के कम से कम लगभग बीसवें भाग नहीं जोड़ा जाता तब तक वृद्धि का ज्ञान नहीं हो पाता।

1— Threshold. 2— Point of inner limit of Sensation. 3— Range of Sensibility. 4— Original Stimulus.

फेचनर ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन दूसरे ढंग पर किया है। उसके अनुसार अंकगणित के क्रम से विकासगति[1] में संवेदना की तीव्रता को बढ़ाने के लिए उत्तेजक की तीव्रता को ज्यामिति क्रमविकास[2] की गति के अनुसार बढ़ाना होगा। अर्थात् संवेदना को बढ़ाने के लिए उत्तेजक की तीव्रता में एक स्थिर भाग को जोड़ना होगा। उदाहरणार्थ. स, स + २ स + ३, वाले संवेदना-क्रम को ज्ञात करने के लिए उत्तेजक का क्रम उ, उ × २, उ × (२)[2] होना चाहिए। इस प्रकार संवेदना का रूप योगात्मक क्रम अथवा अंकगणित के क्रम से तथा उत्तेजक की तीव्रता का रूप गुणात्मक अथवा ज्यामिति-विकास-क्रम के अनुसार चलता है। दूसरे शब्दों में "किसी संवेदना की तीव्रता में योगात्मक क्रमवृद्धि करनी चाहिये। संवेदना, उत्तेजना के लागरिथ्म के हिसाब से बढ़ती है।"[3]

फेचनर सिद्धान्त

$$\text{च} = \text{Log}^{-1}\left(\frac{\text{२}}{\text{अ}}\right)$$

जहाँ (अ) कोई अचल राशि है।

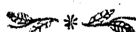
वेबर-फेचनर सिद्धान्त कुछ सीमाओं के भीतर ही ठीक होता है। तापक्रम के सम्बन्ध में सिद्धान्त का प्रयोग ठीक रूप में नहीं होता। परन्तु शरीर की मांसपेशियों, दबाव, ध्वनि आदि सम्बन्धी संवेदना उत्तेजक के निश्चित अंश के बढ़ जाने पर ही तीव्र होती है। परन्तु यह सिद्धान्त ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि पचास तोले में ढाई तोले का योग उतनी

सिद्धान्त की आलोचना

1— Arithmetical progression. 2— Geometrical progression.

3— To increase the intensity of a stimulus in arithmetical progression, the stimulus must be increased in geometrical progression—the sensation increases as the logarithm of the stimulus.

आसानी से संवेदित नहीं किया जा सकता जितना कि पचास छटाँक में ढाई छटाँक का योग अनुभव किया जा सकता है। 'न्यूनतम सीमा' के 'अतिक्रमण बिन्दु' के विस्तार में यह नियम ठीक उतरता है। इसके विपरीत 'न्यूनतम सीमा' की ओर हम संवेदना का अधिक अनुभव करते हैं परन्तु बहुत अधिक वृद्धि हो जाने पर संवेदना की मात्रा कम होती जाती है, क्योंकि अत्यधिक तीव्र उत्तेजक हमें कष्टदायक हो जाता है।



अध्याय-५

मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के शारीरिक अवयव

(१) ज्ञानेन्द्रियां

१—दृष्टि

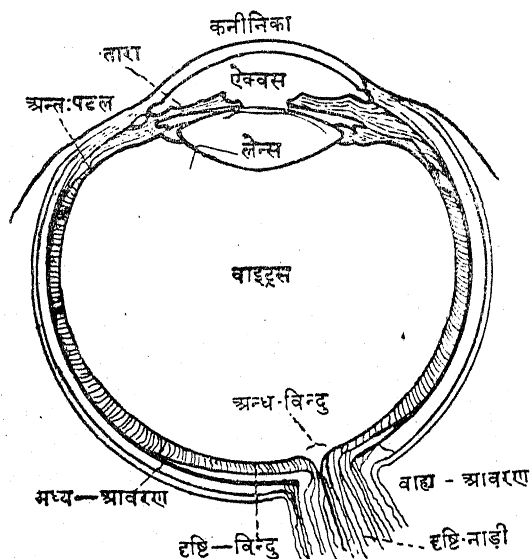
अध्याय ३ में हम देख चुके हैं कि कार्टेक्स के पृष्ठ-संख्या को उत्तेजित करने से दृष्टि संवेदना होती है। इस खण्ठ से निकलने वाली नाड़ी-तन्तु नेत्रों में स्थित ग्राहकों से जुड़े रहते हैं। अतः हमारे नेत्र वाह्य-जगत् में व्याप्त शक्तियों में से केवल उन शक्तियों से प्रभावित होते हैं जिनका गुण प्रकाश कहलाता है। प्रकाश की कमी में हमारी आँख ठीक काम नहीं कर सकती। हम क्या देखते हैं, यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर होता है कि कितनी शक्ति अथवा किस लम्बाई की प्रकाश लहर हमारे नेत्र को उत्तेजित करती है। प्रकाश-जनित उत्तेजनाओं का अध्ययन करने के लिये नेत्र की बनावट का समझ लेना आवश्यक है।

नेत्र की बनावट

नेत्र-गोलक[१] में एक वाह्य-आवरण[२] होता है जिसके रेशे श्वेत तथा कुछ कठोर होते हैं। यह नेत्र-गोलक के आन्तरिक भागों की रक्षा करता है तथा नेत्र-गोलक के स्वरूप को बिगड़ने नहीं देता है। यह सामने की ओर पारदर्शी[३] होता है और कनीनिका[४] कहलाता है। पुतली का स्वरूप बिगड़ जाने से दृष्टि पर बुरा

१—Eye-boll. २—Selerotic coat. ३—Transparent. ४—Cornea.

प्रभाव पड़ता है जिसको दूर करने के लिये चश्मा पहना जाता है। इस वाह्य पटल के अन्दर मध्य-आवरण[1] होता है। यह रक्त शिराओं का एक जाल सा होता है। इस छिद्र पर एक रंगीन माँस-पेशी लगी रहती है जो आँख के लेन्स और वाह्य आवरण के बीच में स्थित रहती है।



चित्र सं० ११—नेत्र की बनावट

इस मांस-पेशी को आँख का तारा[2] कहते हैं। इसका प्रमुख व्यापार लेन्स[3] पर पड़ने वाले प्रकाश को संयमित करना है। यह आवश्यकतानुसार सिकुड़ती तथा फैलती रहती है। मध्य-आवरण में बहुत गहरे रंग का एक परत होता है जो तारे को छोड़ अन्य किसी स्थान से आँख में के अंत:पलट[4] पर प्रकाश नहीं आने देता।

१—Choroid coat. २—Iris. ३—Lens. ४—Retina.

तारे के नीचे लैन्स रहता है। यह छोटी-छोटी मांस-पेशियों द्वारा नेत्र-गोलक से जुड़ा रहता है। इसमें आवश्यकतानुसार अधिक अथवा कम उन्नतोदर[१] होने की शक्ति होती है जिससे कि प्रकाश की किरण ठीक तरह झुककर तथा संग्रहीत होकर अन्त:पटल पर पड़ सकें। कनीनिका तथा लेन्स के बीच की जगह में तथा लेन्स और अन्त: पटल के बीच विशेष प्रकार के शरीर-रस भरे रहते हैं जो नेत्र को स्वस्थ रखने में सहायता पहुँचाते हैं।

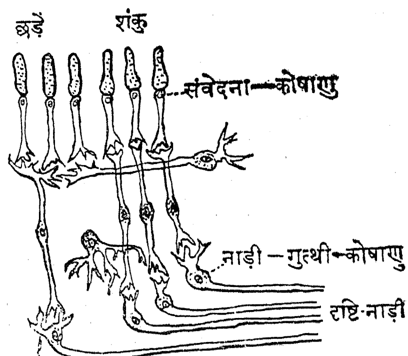
नेत्र का सब से आश्चर्यजनक तथा आवश्यक भाग अन्त:पटल या रेटिना होता है। इसके सात परत होते हैं जिनमें कई प्रकार के नाड़ी-कोषाणु होते हैं। यह नाड़ी-कोषाणु दृष्टि-नाड़ी[२] से जुड़े रहते हैं। अन्त: पटल पर प्रकाश पड़ने से दिखाई देने की उत्तेजना होती है। सम्पूर्ण अन्त: पटल से एक सा नहीं दीखता। इस पर ठीक तारे के समान एक दृष्टि-केन्द्र[३] होता है जिस पर संग्रहीत प्रकाश पड़ने पर सबसे साफ दिखाई देता है। दृष्टि-केन्द्र से थोड़ा हट कर उस स्थान पर जहाँ कि दृष्टि नाड़ी आँख से मिलती है अन्ध-बिन्दु[४] होता है। कहा जाता है इस बिन्दु पर प्रकाश पड़ने पर वस्तु नहीं दिखाई देती; किन्तु पेरीमीटर[५] नामक यंत्र द्वारा प्रयोग करके देखा गया है कि अन्ध-बिन्दु से किसी वस्तु को देखा जा सकता है किन्तु उसका स्वरूप विकृत हो जाता है।

अन्त:पटल यथार्थ में मस्तिष्क का ही प्रसारित भाग होता है। वह उन्हीं तन्तुओं से बनता है जो बुदबुदावस्था[६] में बालक के मस्तिष्क से बाहर की ओर निकल आते हैं। इसमें स्थित ग्राहक दो प्रकार के रूपान्तरित नाड़ी-तन्तु होते हैं (१) शंकु अथवा कोन[७] तथा (२) छड़ अथवा रॉड[८]।

१—Aqous and vitreous. २—Optic nerve. ३—Fovea. ४—Blind spot. ५—Perimeter. ६—Embryonic stage. ७—Cone. ८—Rod.

रंग दिखाई देने के लिये शंकु आवश्यक होते हैं किन्तु तेज प्रकाश में वर्ण रहित वस्तु भी इनसे दिखाई देती है। मनुष्य में वर्णान्धता का कारण बहुधा शंकुओं अथवा उनके स्नायविक जोड़ों में कुछ खराबी होने के कारण होती है।

शंकु



चित्र सं० १२—शंकु छड़

दृष्टि-केन्द्र के आसपास सबसे अधिक शंकु होते हैं। जैसे-जैसे अन्तःपटल पर दर्शन केन्द्र से दूर होते जाते हैं शंकु कम होते जाते हैं और छड़ें बढ़ती जाती हैं। अन्तःपटल के नीले-पीले क्षेत्र के बाहर कदाचित् कोई भी शंकु नहीं होता। सारे अन्तःपटल में लगभग ७०,००,००० शंकु होते हैं।

मनुष्य तेज प्रकाश में शंकुओं द्वारा देखता है किन्तु जैसे-जैसे प्रकाश घटता जाता है शंकुओं की संवेदन-शीलता[1] कम होती जाती है और छड़ों की संवेदन-शीलता बढ़ती जाती है। यह छड़ें दृष्टि-केन्द्र पर बिल्कुल नहीं, उसके आसपास सबसे कम तथा अन्तःपटल के किनारों पर सबसे अधिक होती हैं। छड़ों की दृष्टि वर्णहीन[2] होती है। यदि एक रंगीन वस्तु पर पड़ने वाला प्रकाश हम धीरे-धीरे घटाते जाँये तो एक स्थल आता है जहाँ कि रंग दिखाई देना बन्द हो जाता है किन्तु वस्तु फिर भी दिखाई देती रहती है। ठीक उस समय हमारे शंकु काम करना बन्द कर देते हैं और हमारी दृष्टि पूर्णतः छड़-दृष्टि[3] हो जाती है। इस बात की सत्यता का अनुभव हमें गोधूलि-बेला में होता है जब कि धीरे-धीरे हमारे

छड़

१—Senstivity. २—Achromatic. ३—Rod-vision.

नेत्रों की दृष्टि शंकु-दृष्टि से छड़ दृष्टि में बदलती जाती है। इस व्यापार को वैज्ञानिक रूप देने वाले के नाम पर इसे पर्किञ्जे-व्यापार[१] कहते हैं।

नेत्र के इन अंगों के साथ-साथ बाहर के आक्रमणों से उनकी रक्षा करने के लिये पलक, उनको धोते रहने के लिये अश्रु ग्रन्थियाँ तथा प्रत्येक नेत्र-गोलक को घुमाने के लिये ६ माँस पेशियाँ अन्य सहायक अंग हैं। जो प्राणी को दृष्टि-लाभ में सहायता पहुँचाते हैं।

दृष्टि-संवेदना

देखने की उत्तेजना का वाह्याधार बहुत छोटी लम्बाई की विद्युत-चुम्बकीय[२] तरंगे होती हैं सूर्य के प्रकाश में अनेक लम्बाई की तरंगे मिली रहती हैं यदि एक समपार्श्व[३] धूप में रक्खा जाए तो उसमें से होकर निकलने वाली किरणे अलग-अलग लम्बाई की तरंगों में बँट जाती हैं जिसके परिणान स्वरूप भिन्न भिन्न रंग दिखाई देते हैं। यह रङ्ग एक विशेष क्रम में दिखाई देते हैं और उनको वर्ण पट[४] के रंग कहते हैं। यह क्रम लहर की लम्बाई से निर्धारित होता है।

साधारणतः आँख से देखी जा सकने योग्य सब से लम्बी प्रकाश की लहर से लाल तथा सबसे छोटी प्रकाश की लहर से गहरे बैगनी रङ्ग की उत्तेजना होती है। उनके बीच में लहर की लम्बाई के अनुसार क्रमशः पीले, हरे, मूँगिया और नीले रङ्ग की उत्तेजनाएँ आती हैं। पदार्थ में जिस लम्बाई की लहर परावर्तित करने का गुण होता है उसी रङ्ग का वह दीखता है। दीखने वाले रङ्गों की लहरों की लम्बाई से अधिक या कम लम्बी परावर्तित[५] लहरें अदृष्ट हो जाती हैं। अधिक लम्बाई की लहरों का उदाहरण रेडियो की लहरें तथा कम लम्बाई की लहरों का उदाहरण ऐक्सरे हैं आदमी के अन्तः पटल से केवल थोड़ी सी ही लहरें दिखाई

१—Purkinge-phenomenon. २—Electro-magnetic.
३—Prism. ४—Spectrum. ५—Reflect.

देती हैं। किन्तु उन थोड़ी सी लहरों के परिणाम स्वरूप ही लगभग ४०,००० तरह के रङ्गों की कल्पना की जा चुकी है।

देखने की स्वभाविक क्रिया में हमारी आँख तक किसी भी क्षेत्र से केवल एक ही लम्बाई की प्रकाश की लहर नहीं पहुँचती है। हम जो कुछ भी देखते हैं उसमें बहुधा अनेक लम्बाई की लहरें मिली रहती हैं। सूर्य के प्रकाश में वर्ण पट के सभी भागों की लहरें मिली रहती हैं। जिसके परिणाम स्वरूप वह श्वेत दीखता है। दीपक का प्रकाश कुछ पीला होता है क्योंकि वर्ण पट की लहरों में से उस प्रकाश में मध्य भाग की लहरें सबसे अधिक शक्तिशाली होतीं हैं। इस प्रकार प्रकाश में अनेक लम्बाई की लहरों के मिश्रण से अन्तर पड़ता है। उसके साथ प्रकाश की संवेदना पर उसकी तीव्रता का भी प्रभाव पड़ता है। अतः प्रकाश की उत्तेजना में तीन कारणों से अन्तर पड़ता है (१) लहर की लम्बाई[१] (२) शुद्धता[२] (३) विस्तार[३] इन तीनों से दृष्टि संवेदना के क्रमशः तीन तत्वों का निर्णय होता है (१) रङ्ग[४] (२)सिक्तता[५] (३) दीप्ति[६]।

रंग

लहर की लम्बाई से रङ्ग का निर्णय होता है। यदि हम विभिन्न रङ्गों की लहर को लम्बाई के अनुसार क्रमशः एक वृत्त की परिधि पर चित्रित करें तो लाल रङ्ग से चल वर्ण पट के अनेक रंगों में होते हुए गहरे बैगनी रंग तक पहुंच कर उस रंग की अनेक आभाओं[७] में होते हुए हम फिर लाल रंग पर वापिस आ जाते हैं। याद रक्खो यह प्रदर्शन केवल काल्पनिक है क्योंकि साधारणतः हम कहीं भी विशुद्ध रङ्ग नहीं देखते। मनोविज्ञान में केवल चार मुख्य रङ्ग माने गये हैं—लाल, नीला, हरा, पीला इनको आपस में काले सफेद सहित मिलाने पर अनेक प्रकार के रङ्ग बनाये जा सकते हैं।

१—Wave-length. २—Purity. ३—Aurity. ४—Hue. ५—Saturation. ६—Brightness. ७—Shades.

प्रकाश की उत्तेजना का स्वरूप भिन्न भिन्न लम्बाई की लहरों के सम्मिश्रण से प्रभावित होता है। एक सी दीप्ति वाली अनेक लम्बाई की लहरों के भिन्न भिन्न अनुपात में मिलने से भिन्न भिन्न प्रकार की गहराई के रंग की उत्तेजना होती है। जितना ही अधिक सम्मिश्रण होता है उतनी ही कम सिक्तता होती है। न तो बहुत अधिक सिक्त रंग का दीप्ति युक्त होना आवश्यक है और न बहुत दीप्ति युक्त रङ्ग का अधिक सिक्त होना। पूर्णतः सिक्त तथा दीप्ति-रहित प्रकाश-उत्तेजना से भूरे रङ्ग का आभास होता है। सिक्तता का चित्रण वर्ण-वृत्त की परिधि के समस्त बिन्दुओं से केन्द्र की ओर खींचे जाने वाले अर्ध व्यासों पर किया जा सकता है। किसी रङ्ग की सिक्तता उसमें उसी दीप्ति का भूरा रङ्ग मिलाने से घटाई जा सकती है।

सिक्तता

किसी पदार्थ की दीप्ति उससे चलने वाली लहरों के विस्तार पर निर्भर होती है। मनोविज्ञान में दीप्ति प्रकाश की उस तीव्रता को कहते हैं जो हमारे नेत्र को अनुभव होती है। तेज धूप में चल कर जब कोई एकायक अंधेरे सिनेमा-हाल में प्रविष्ट होता है तो थोड़े समय तक उसे कुछ नहीं दिखाई देता है। धीरे धीरे वह अपने आस पास की वस्तुओं को देखने लगता है। यथार्थ में इस बीच में उन वस्तुओं में किसी प्रकार की दीप्ति न बढ़कर उसके नेत्र के अन्तः-पटल के शंकुओं की क्रिया-शीलता घट गई और छड़ों की क्रिया-शीलता बढ़ गई जिसके परिणाम स्वरूप वह उन वस्तुओं को देखने लगा। इसको *अंधकार-अनुशीलन*[1] कहते हैं। इसी प्रकार एक दम किसी बहुत अंधेरी जगह से तीव्र प्रकाश में आने पर कुछ क्षण के लिये आँखें चकाचौंध हो जाती है और कुछ नहीं दिखाई देता। प्रकाश-बिन्दु छड़ों से हट कर शंकुओं पर आता है और जब शंकु क्रिया-शील हो जाते हैं तो हम तेज प्रकाश में भी देख सकते हैं और काम

दीप्ति

१—Dark adaptation.

कर सकते हैं। इसको *प्रकाश-अनुशीलन*[१] कहते हैं। इस समय भी वाह्य-तीव्रता न बदल कर नेत्र में ही परिवर्तन होता है। अतः दीप्ति का सम्बन्ध वाह्य-तीव्रता से कम तथा हमारे नेत्रों की संवेदन-शीलता से अधिक होता है। सफेद कागज कम प्रकाश में भी सफेद ही दीखता है। दीप्ति का चित्रण एक सरल रेखा पर चकाचौंध करने वाले प्रकाश से घटते-घटते भूरे रङ्ग पर होकर पूर्ण अंधकार तक किया जा सकता है। श्वेत, काले की अपेक्षा अधिक दीप्ति पूर्ण होता है।

रङ्ग, सिक्तता और दीप्ति का चित्रण एक ही आधार पर स्थित ऐसे दो बराबर शंकुओं द्वारा किया जा सकता है जिनके शीर्ष एक दूसरे के विपरीत हों। अधिक से अधिक सिक्तता वाले तथा तटस्थ[२] दीप्ति वाले रंग उस वृत्त पर चित्रित किये जाते हैं जिस पर दोनों शंकु मिलते हैं। शंकुओं के एक शीर्ष पर विशुद्ध श्वेत तथा दूसरे पर विशुद्ध काला समझना चाहिये। श्वेत और काले को मिलाने वाली रेखा से दीप्ति का निर्णय होता है। इस रेखा के मध्य विन्दु पर तटस्थ भूरा रंग समझना चाहिये।

ऊपरकी व्याख्या के आधार पर दृष्टि-संवेदना को दो भागों में बाँटा जा सकता है: (१) वर्णहीन प्रकाश की संवेदना तथा (२) वर्णात्मक[३] प्रकाश की संवेदना।

वर्णहीन-प्रकाश-संवेदना शंकुओं की श्वेत-काली शीर्ष रेखा से तथा वर्णात्मक प्रकाश की संवेदना इन शंकुओं के अन्य सब स्थलों से चित्रित होती है।

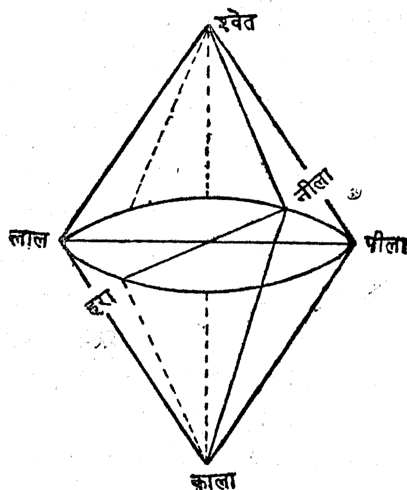
यह तुम पढ़ चुके हो कि अन्तः पटल का प्रत्येक भाग रंग अथवा प्रकाश के लिए समान रूप से संवेदन-शील नहीं होता। इसके साथ साथ

नेत्र का अन्तः पटल तथा रंग

अन्तःपटल का कुछ भाग एक रंग की संवेदना ग्रहण करता है तथा दूसरा भाग दूसरे रंग की। रंग की संवेद-शीलनता के अनुसार अन्तः पटल को छः भागों में बाँटा

१—Light Adaptation. २—Neutral. ३—Chromatic.

जा सकता है। यह भाग एक दूसरे के अन्दर पड़ते हैं। सबसे भीतर की ओर दृष्टि-बिन्दु के आस पास का क्षेत्र हरे रंग का क्षेत्र होता है, किन्तु दृष्टि-बिन्दु प्रत्येक रंग की संवेदनाओं के लिए समान रूप से संवेदन-शील होता है और अधिकतर देखने का काम हम इसी बिन्दु द्वारा करते हैं। यही कारण है कि हम अपने अन्तः पटल की इस क्षेत्र-गत विचित्रता को अनुभव नहीं कर पाते। इसका पता केवल प्रयोग शाला में चलता है जहाँ पर उदाहरणार्थ नीले क्षेत्र से देखने पर लाल रंग भी भूरा दीखता है।



चित्र सं० १३—वर्ण शंकु

वर्ण-सम्वेदना के सम्बन्ध में अन्य मनोवैज्ञानिक व्यापार

मनोवैज्ञानिक प्रयोग-शाला में वर्ण संवेदना के अनेक व्यापारों के संबन्ध में खोज की गई है। उनमें से वर्णान्धता[१], वर्ण समिश्रण[२], अनु-प्रतिबिम्ब[३] तथा समकालीन विरोध[४] के व्यापार मुख्य हैं।

वर्णान्धता—यह एक नेत्र-दोष होता है। साधारणतः अन्तः पटल के बाहरी क्षेत्रों से देखने पर सभी में वर्णान्धता होती है जिसका बध साधारण व्यवहार में न होकर मनोवैज्ञानिक प्रयोग-शाला में होता है। वर्णान्ध दृष्टि को छड़ दृष्टि कहा जा सकता है वस्तुतः शंकुओं द्वारा

१—Colour blindness. २—Colour-mixer. ३—After-image. ४—Simultaneous contrast.

वर्ण बोध होता है, अतः शंकु दृष्टि की अनुपस्थिति को वर्णान्धता कहते हैं। यह दोष स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक मिलता है। यह अधिकतर जन्म जात होता है। कभी कभी आँख में चोट लग जाने से भी उत्पन्न हो जाता है। वर्णान्धता पूर्ण अथवा आंशिक[1] होती है। हर दशा में यह पूर्णतः असाध्य होती है।

पूर्ण वर्णान्धता

इस दशा में प्राणी को केवल वर्ण हीन प्रकाश की संवेदना होती है। उसको पदार्थों में केवल दीप्ति भेद का बोध होता है और समस्त संसार धूसरित[2] दीखता है। जिस प्रकार सभी रंग फोटो में धूसरित दीखते हैं उसी तरह उसके अन्तः पटल पर भी प्रत्येक रंग से केवल धूसरित संवेदना होती है। उसके लिए चमकती हुई हरी घास से वही संवेदना होती है जो चमकते हुये पीले फूल से।

आंशिक वर्णान्धता

यह दो प्रकार की होती है:—(१) लाल-हरा-वर्णान्धता[3] तथा (२) नीला-पीला-वर्णान्धता[4] मनोविज्ञान-वेत्ताओं का विचार है कि दूसरे प्रकार की वर्णान्धता कभी देखने में नहीं आती। लाल हरा वर्णान्धता में प्राणी को केवल नीला-पीला और सिक्तता तथा दीप्ति के आधार पर इनकी भिन्न-भिन्न अभायें दीखती हैं। उसको लाल-हरी श्रेणी के रंग नहीं दिखाई देते।

वर्णान्धता का पता बहुत से व्यक्तियों को प्रौढ़ होने तक नहीं लगता। वे अनेक रंगों को पहचानने के अन्य नेत्र संबंधी इशारे निकाल लेते हैं जिनकी सहायता से बहुत से साधारण रंगों का नाम ठीक-ठीक बता देते हैं। उनके इस दोष को प्रयोगात्मक विधि से मालूम किया जा सकता है। वर्णान्धता का दोष व्यक्ति को अनेक व्यवसायों के अनुपयुक्त कर

१—Partial. २—Grey. ३—Red-Green-Blindness. ४—Yellow-Blue-Blindness.

देता है। इसी लिये अब व्यवसाय-निर्देशन[१] में इस दोष को पता लगाने के लिये वर्णान्धता-परीक्षा-साधनों[२] का प्रयोग किया जाता है। वर्णान्धता का वैज्ञानिक अध्ययन उन व्यक्तियों की सहायता से अधिक भली प्रकार हो सका है जिनकी एक आँख वर्णान्ध तथा दूसरी सामान्य होती है।

वर्ण-सम्मिश्रण—वर्ण-सम्मिश्रण से हमारा तात्पर्य दो या दो अधिक रंगों को मिला कर एक नवीन रंग बनाना होता है। इस क्रिया का प्रयोग चित्रकार हर समय करता रहता है। उसे यथेष्ट ज्ञान होता है कि किन रंगों के मिलाने से वांछित रङ्ग प्राप्त किया जा सकता है। प्रत्येक सम्मिश्रण की सिक्तता तथा दीप्ति भी यथेष्ट मात्रा में क्रमशः भूरा तथा श्वेत या काला मिलाने से बढ़ाई या घटाई जाती है। यों साधारणतः हम जितने रङ्ग देखते हैं वे सभी मिश्रित होते हैं। मिश्रित रङ्गों को गौण रङ्ग[३] समझा जाता है। यथार्थ में देखा जाय तो प्रत्येक रङ्ग अपने लिये प्राथमिक[४] ही होता है। गुलाबी रङ्ग में पीला और लाल मिले रहते हैं। किन्तु आँख से देखने पर उसमें न पीला दिखाई देता है और न लाल, गुलाबी, गुलाबी ही होता है किन्तु फिर भी कुछ रंग दूसरों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होते हैं तथा उनको देखने से उनमें दूसरे रंगों की झलक बिल्कुल नहीं मालूम होती। ऐसे रंग प्राथमिक रंग कहलाते हैं। कुछ मनोविज्ञान-वेत्ताओं का विचार है कि यह चार हैं—लाल, हरा, नीला और पीला इन चारो रंगों को भिन्न-भिन्न अनुपात में मिला कर हम अन्य सब रंग बना सकते हैं। जिनको दीप्ति तथा सिक्तता को काले, श्वेत और भूरे रंग से घटाई अथवा बढ़ाई जा सकती है। लाल हरे का और हरा लाल का, नीला पीले का और पीला नीले का परिपूरक[५] कहलाते हैं। यंग हेमहाट्ज़[६] का विचार है कि केवल लाल, हरा और नीला यही तीन

१—Vocational guidance. २—Tests of colour-blindness.
३ - Secondary colours. ४—Primary. ५—Complementary.
६—Young-Helmhotz.

प्राथमिक रंग होते हैं। शेष सब रंग इन्हीं रंगों के मिलने से बनते हैं। वर्ण-सम्मिश्रण की प्रयोगात्मक व्याख्या के लिये वर्ण-मिश्रण[1] यंत्र का प्रयोग किया जाता है। हमारे अन्तःपटल में रंग की उत्तेजना का प्रभाव उत्तेजक पदार्थ की दृष्टि से ओझल हो जाने पर भी एक दो क्षण तक बना रहता है। वर्ण-मिश्रण यंत्र में इसी तथ्य से लाभ उठाया जाता है।

भिन्न-भिन्न रंग के दो गोल टुकड़े लगाकर उसके मंडल को गति पूर्वक घुमाने से एक तीसरे प्रकार के रंग की संवेदना होती है। इसकी सहायता से वर्ण-सम्मिश्रण के निम्न नियम स्थिर किये गये हैं :—

(१) यदि परिपूरक रंगों का यथेष्ट अनुपात में मिलाया जाता है तो उससे उसी दीप्ति की धूसरित-संवेदना होती है जिस दीप्ति के परिपूरक रङ्ग हैं अर्थात् यथेष्ट मात्रा में हरा-लाल अथवा नीला-पीला मिलने से भूरा रङ्ग बन जाता है।

(२) यदि दो ऐसे रङ्गों को मिलाया जाय जो आपस में परिपूरक नहीं है तो उत्पन्न संवेदना से एक ऐसे रंग का बोध होगा जो वर्ण-वृत्त पर उन दोनों रंगों के बीच पड़ता है जैसे लाल और पीला मिलाने से बैंगनी रंग मिलता है।

(३) यदि उन सम्मिश्रणों को जिनसे धूसरित संवेदना होती है मिलाया जाय तो उसके परिणाम स्वरूप होने वाली संवेदना भी धूसरित होगी। अर्थात् यदि हम नीला-पीला, हरा-लाल, उसी मात्रा में मिलायें जिस मात्रा में परिपूरक रंगों के मिलाने पर धूसरित संवेदना होती है तो इस नये सम्मिश्रण से भी धूसरित संवेदना होगी।

अनुबिम्ब :—इस व्यापार को अनुसंवेदना[2] भी कहते हैं। उत्तेजक पदार्थ के नेत्र के सामने से हट जाने के बाद भी अन्तःपटल पर कुछ स्नायविक तथा रसायनिक क्रिया होती रहती है जिसके परिणाम स्वरूप अनुसंवेदना अर्थात् कारण हट जाने पर भी संवेदना होती रहती है। यह

१—Colour mixer. २—After sensation.

क्रिया बहुत समय तक नहीं चलती। अतः अनुबिम्ब का व्यापार क्षणिक होता है। यदि एकाएक अंधेरे कमरे में १०० वाट के बल्ब के प्रकाश से आँख को एक क्षण के लिये उत्तेजित करके उसे बुझा दिया जाय तो कमरे की दीवाल पर एक दम बल्ब का पीला-पीला तन्तु दिखाई देता है। इस प्रकार के अनुबिम्ब को सम-अनुबिम्ब[१] कहते हैं। यह अनुबिम्ब आँख बन्द करके भी देखा जा सकता है। यह अनुबिम्ब उत्तेजना के जैसे ही रंग तथा दीप्ति का होता है।

लाल रंग की उत्तेजना का समानुबिम्ब भी लाल होगा। यदि उत्तेजना बहुत तीव्र होती है तो समानुबिम्ब कुछ अधिक समय तक ठहरता है और कष्टदायक हो जाता है फिर उसका रंग धीरे-धीरे फीका पड़ जाता है। इसी व्यापार के परिणाम स्वरूप हम सिनेमा-हाल में शीघ्रता पूर्वक परावर्तित गति का भ्रम करते हैं।

जब प्रकाश जनित समानुबिंब लुप्त हो जाता है तो उसके स्थान पर विषमानुबिंब[२] की संवेदना होती है। यह संवेदना उत्तेजना के नष्ट हो जाने के कुछ क्षण बाद प्रकट होती है और फिर कुछ क्षण तक रहती है। इसका रंग तथा दीप्ति उत्तेजना के रंग तथा दीप्ति के परिपूरक होते हैं। यदि उत्तेजना चमकीले लाल रंग की है तो विषमानुबिंब धुँधले हरे रंग का होगा।

अनुबिम्ब सम्बन्धी प्रयोग तुम इस प्रकार कर सकते हो—लाल कागज के एक छोटे वर्गाकार टुकड़े को लेकर किसी चमकीले श्वेत कागज पर रखो। फिर तेज़ प्रकाश में लगभग तीस सेकन्ड तक उसकी ओर आँख गड़ा कर देखते रहने के बाद उस टुकड़े को हटा लो। तुम्हें फौरन ही उस टुकड़े का समानुबिंब दिखाई देगा और फिर विषमानुबिंब दिखाई देने लगेगा। इस विषमानुबिम्ब का आकार तुम इच्छानुसार श्वेत कागज़ के समीप अथवा उससे दूर आँख करके बढ़ा अथवा घटा

१—Positive after-image. २—Negative after-image.

सकते हो। इस प्रकार का विषमानुबिम्ब कितनी देर तक ठहरेगा यह इस बात पर निर्भर है कि उत्तेजना में कितनी तीव्रता थी उसने कितनी देर तक अन्तःपटल को उत्तेजित किया तथा देखने वाले की दृष्टि कैसी है। एक बार दिखाई देने लगने पर विषमानुम्बिब को किसी भी दिखाई देने वाले स्थान पर परावर्तित कर सकते हो। कागज़ पर हरे विषमानुविंब को क्रमिक विरोध[1] भी कहते हैं।

समकालीन विरोध—यदि भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग के कागजों पर भूरे रंग के कागज़ के कुछ टुकड़े रक्खे जाएँ तो जैसे रंग का कागज़ भूरे रंग के टुकड़े के नीचे होगा वह उस रंग के परिपूरक रंग की झलक देता है। पीले कागज़ पर रक्खा भूरा टुकड़ा नीला दीखता है। यदि उसके ऊपर महीन झिल्ली कागज़ रख कर देखा जाए तो यह प्रभाव और भी स्पष्टतापूर्वक मालूम होता है। इस प्रकार मूल रंग के साथ साथ परिपूरक रंग की झलक दीखने को समकालीन विरोध कहते हैं।

श्रवण

वाह्य-जगत से ज्ञानात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का दृष्टि के समान ही महत्वपूर्ण दूसरा साधन कान है। कान के अन्दर स्थित ग्राहक वायु-मण्डल में व्याप्त ध्वनि-लहरों को ग्रहण करने में विशिष्टता प्राप्त किए होते हैं। इसके विषय में तुम पहले पढ़ चुके हो कि यह ग्राहक किस प्रकार ज्ञानवाही नाड़ी-तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क के पार्श्व-खण्डों से जुड़े रहते हैं। श्रवण-संवेदना को एक प्रकार की सूक्ष्म-स्पर्श-संवेदना समझना चाहिए। ध्वनि का वायु से सम्बन्ध है। वायु पर जब किसी प्रकार प्रहार होता है तो उस स्थान पर वायु ठीक उसी प्रकार सिकुड़[2] जाती है जैसे लचीली वस्तु दबाने से छोटी हो जाती है। प्रहार की शक्ति समाप्त हो जाने पर सिकुड़ी हुई वायु फिर फैलती[3] है। उस फैलने की क्रिया का

१—Successive Contrast. २—Condensation. ३–Rarefaction.

प्रभाव चारों ओर की हवा पर पड़ता है जिसके परिणाम स्वरूप चारों ओर की वायु सिकुड़ती है। यह सिकुड़ने और फैलने की क्रिया वायु के एक भाग से दूसरे भाग पर चलती हुई आगे को बढ़ती है। प्रत्येक सिकुड़े हुए भाग के आगे तथा पीछे फैला हुआ भाग होता है। पीछे के फैले हुए भाग के पीछे वह सिकुड़ा भाग आ जाता है जो दूसरे प्रहार के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होता है। यह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार तलाब में एक ही स्थान पर एक के बाद दूसरा-लगातार कई पत्थर फेंकने से चारों ओर के पानी की लहर चल पड़ती है। वायु के इस फैलने और सिकुड़ने की क्रिया को स्पन्दन[1] कहते हैं। वायु में स्पन्दन होने से ध्वनि का संचार होता है। स्पन्दित वायु जब हमारी कर्णेन्द्रिय को स्पर्श करती है तो हमें ध्वनि का अनुभव होता है। कर्णेन्द्रिय में किस प्रकार ध्वनि का संचार होता है यह उसकी बनावट के विषय में पढ़कर समझ लोगे।

कर्णेन्द्रिय की बनावट—कान के तीन भाग होते हैं :—(१) वाह्य कर्ण,[2] (२) मध्य कर्ण,[3] (३) अन्तः कर्ण[4]।

वाह्य कर्ण

वाह्य कर्ण में छिद्र सहित वह समस्त अंग सम्मिलित है जो बाहर से देखने पर कान कहलाता है। इस छिद्र और मध्य कर्ण के बीच एक पतली झिल्ली[5] होती है जिसको कान का पर्दा[6] कहते हैं।

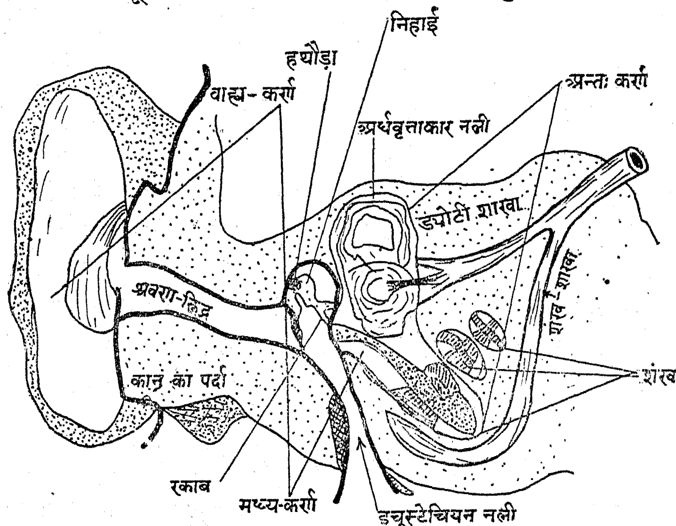
मध्य कर्ण

वाह्य कर्ण और अन्य अन्तः कर्ण के बीच के भाग को मध्य-कर्ण कहते हैं। मध्य कर्ण में तीन छोटी-छोटी हड्डियाँ होती हैं जो क्रमशः हथौड़ा,[7] निहाई[8] और रकाब[9] कहलाती है जिसमें पहले दो नाम क्रिया के आधार पर तथा तीसरा नाम रूप के आधार पर रक्खा गया है। मध्यकर्ण एक नलिक[10] द्वारा कण्ठ से जुड़ा रहता है।

१—Vibration. २—External ear. ३—Middle ear. ४—Inner ear. ५—Membrane. ६—Ear drum. ७—Hammer. ८—Anvil. ९—Stirrup. १०—Eustachian Tube.

मध्यकर्ण के बाद कर्ण कुहर[1] में अन्तः कर्ण स्थित है। इसके तीन भाग होते हैं—ड्योढ़ी[2] शंख[3] तथा अर्द्ध वृत्ताकार नलिकाएँ[4]। प्रत्येक भाग के चारों ओर की खाली जगह में एक प्रकार का द्रव पदार्थ[5] भरा रहता है। अर्ध वृत्तताकार नलिकाओं का सम्बन्ध सुनने से न होकर केवल शरीर संतुलित से होता है। शंख नलिका ड्योढ़ी से जुड़ी हुई होती है। शंख-नलिका में एक दूसरा रस भरा रहता है। इसका सुनने की क्रिया से

अन्तःकर्ण



चित्र सं० १४—कान की बनावट

घनिष्ट सम्बन्ध होता है। ड्योढ़ी नलिका के एक सिरे पर अण्डाकार छिद्र होता है। इस अण्डाकार छिद्र पर एक झिल्ली होती है। यह झिल्ली मध्य कर्ण की रकाब से जुड़ी रहती है। शंख-नलिका में आन्तरिक झिल्ली पर स्थित एक अंग[6] रहता है जिस पर लोम-कोषाणु[7] रहते हैं। यही

१—Ear cavity. २—Vestibule. ३—Cochlea. ४—Semicircular canals. ५—Perilymph. ६—Organ of corti. ७—Hair-cells.

लोम कोषाणु ध्वनि के ग्राहक-कोषाणु होते हैं और ज्ञान वाही नाड़ी-तन्तुओं से जुड़े रहते हैं।

कान की बनावट के इस संक्षिप्त वर्णन के बाद अब यह देखो कि वह किस प्रकार काम करता है। ध्वनि की लहर वाह्य कर्ण के छिद्र में प्रविष्ट होकर कर्ण-पट में स्पन्दन उत्पन्न करती है। कर्ण पट की रक्षा के लिये एक प्रकार का मोम वाह्य-कर्ण में इकट्ठा होता रहता है जो बहुत तेज आने वाली ध्वनि की लहरों की तीव्रता को घटा कर कर्ण-पट को हानि से बचाता है। कर्ण-पट के स्पन्दन के परिणाम स्वरूप हथौड़ा नाम की कर्णास्थि का हत्था हिल जाता है। यह गति निहाई द्वारा रकाब पर पहुँच जाती है। वहाँ से अंडाकार छिद्र द्वारा अन्तः कर्ण में स्थित तरल पदार्थ पर दबाव पड़ता है। कर्ण-पट से अंडाकार-छिद्र तक पहुँचने में ध्वनि-लहर का दबाव लगभग तीस गुना हो जाता है। मध्य कर्ण में स्थित इन तीन अस्थिओं के कारण ध्वनि लहर में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। रकाब के दबाव से अन्तः कर्ण में स्थित तरल पदार्थ पर दबाव पड़ता है जिसके परिणाम स्वरूप कुछ स्थानीय प्रक्रियाओं के बाद शंख नलिका में स्थित लोम-कोषाणुओं में स्पन्दन होता है जो आवश्यक विश्लेषण के बाद ज्ञान-वाही नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क के पार्श्व-खण्ड को स्थानान्तरित होकर प्राणी को सुनने का अनुभव करता है।

कान की बनावट तथा क्रिया के इस संक्षिप्त वर्णन के बाद अब हम श्रवण संवेदना पर विचार करेंगे। साधारणतः दो प्रकार की ध्वनि होती है (१) नाद[1] (२) शोर[2]। क्रमबद्ध स्पन्दन से नाद तथा क्रम विहीन स्पन्दन से शोर होता है। पत्तों की खड़खड़ाहट, बादलों की गड़गड़ाहट, मशीनों की सरसराहट तथा भनभनाहट यह सब शोर के उदाहरण हैं क्योंकि इन सब आवाजों में न तो कोई स्वर होता है और न कोई नाद। नाद साधार-

श्रवण संवेदना

१—Tone. २—Noise.

गत: मृदु स्निग्ध और सुख प्रद होता है। तथा शोर कठोर कटु और कष्ट प्रद होता है। मानवीय भाषा में नाद तथा शोर दोनों प्रकार की ध्वनि का सम्मिश्रण रहता है। अधिक से अधिक कटु शोर में भी कुछ नाद रहता है। यथार्थ में हम सदैव मिश्रित ध्वनि ही सुनते हैं जिसमें कभी नाद का प्राधान्य होता है और कभी शोर का।

हम क्या सुनते हैं यह इस बात पर निर्भर है कि किस प्रकार की ध्वनि हमारी कर्णेन्द्रिय को प्रभावित करती है। ध्वनि के संबन्ध में तीन बातें विचारणीय है:—

(१) आवृत्ति[1] अथवा लम्बाई, (२) विस्तार[2] तथा (३) स्वरूप[3]।

ध्वनि की लहरों की आवृत्ति से हमारा तात्पर्य है कि कोई वाद्य-यन्त्र वायु मण्डल में एक सेकण्ड में कितने स्पन्दन उत्पन्न करता है। जितने

ध्वनि लहरों की आवृत्ति

अधिक स्पन्दन होते हैं ध्वनि-लहर की उतनी ही अधिक आवृत गति होती है ध्वनि-लहर के विस्तार से हमारा तात्पर्य उसकी चौड़ाई से है। एक ही गति से चलने वाली दो ध्वनि-लहरों का विस्तार भिन्न हो सकता है। एक ही ध्वनि में कई लहरें सम्मिश्रित हो सकती हैं। इस प्रकार के सम्मिश्रण से ध्वनि का स्वरूप निर्धारित होता है।

ध्वनि की इन तीन भौतिक विशेषताओं के आधार पर उसका संवेदनात्मक प्रभाव निर्धारित होता है। आवृत्ति से ध्वनि का स्तर,[4] विस्तार से घोष[5] तथा स्वरूप से टिम्बर[6] निश्चित होता है।

१—Frequency. .... अ—लम्बाई

अ अ

२—Amplitude. (बगल का चित्र देखो) ← —— → अ—विस्तार

३—Form. ४—Pitch. ५—Loudness. ६—Timbre.

आवृत्ति के बढ़ने और घटने के साथ ध्वनि का स्तर भी बढ़ता या घटता है। आवृत्ति में थोड़ा परिवर्तन होने से स्तर के परिवर्तन का पता नहीं लग सकता प्रत्येक प्राणी की पार्थक्य-सूचक-योग्यता[1] भिन्न होती है। कोई व्यक्ति २५० चक्र[2] प्रति सेकेण्ड और २५५ चक्र प्रति सेकेण्ड की आवृत्ति में अन्तर जान जाता है और किसी के लिये यह दोनों एक सी लगती हैं। पहला व्यक्ति इन ध्वनियों का स्तर जान जायेगा दूसरा नहीं जान सकता। एक उदाहरण द्वारा स्तर तथा आवृत्ति का सम्बन्ध भली प्रकार समझ में आ जायगा।

आवृत्ति और स्तर

बहुधा कारखानों आदि में जो सीटी (Siren) बजती है उसकी बनावट इस प्रकार होती है। एक बेलनाकार ट्यूब के अन्दर नीचे की ओर एक महीन छेद रहता है। उस छेद के ऊपर एक वृत्ताकार धातु का बना मण्डल रहता है। इस मण्डल में अनेक छिद्र होते हैं। जिस समय सीटी बजाना होता है तो नीचे के छिद्र में से बहुत तेजी के साथ ऊपर को हवा प्रवाहित की जाती है। वह हवा ऊपर मण्डल से टकराती है। हवा के प्रवाहित होने के साथ ही साथ मण्डल को तेजी से घुमाया जाता है। घूमते हुये मण्डल के छिद्रों में से जिस समय हवा निकलती है तो तुरन्त ध्वनि की लहरें प्रवाहित होने लगती हैं और सीटी सुनाई देने लगती है। इस सीटी के स्तर का माप बण्डल के छिद्र तथा उसके घूमने की गति से निर्धारित होता है। जितनी शीघ्रता-पूर्वक मण्डल घूमता है उतनी ही ध्वनि लहरों की आवृत्ति बढ़ती है और उतनी ही तेज आवाज सुनाई देती है।

स्तर पर कुछ प्रभाव विस्तार का भी पड़ता है। यह देखा गया है कि पहले से न्यून तीव्रता वाली ध्वनि का विस्तार बढ़ा कर और भी अधिक न्यून किया जा सकता है तथा अधिक तीव्रता वाली को और भी अधिक तीव्र किया जा सकता है।

१—Differential Threshold. २—Cycles.

हमारी कर्णेन्द्रिय कुछ इस प्रकार बनी है कि इसके द्वारा न तो हम बहुत तीव्र ध्वनि सुन सकते हैं और न बहुत धीमी। २० चक्र प्रति सेकेण्ड से कम तथा लगभग २००० चक्र प्रति सेकेण्ड से अधिक आवृत्ति वाली ध्वनि हमें नहीं सुनाई देती।

विस्तार तथा घोष

घोष, विस्तार से निश्चित होता है और विस्तार दबाव से। दबाव बढ़ने से घोष बढ़ता है और घटने से घटता है। जितने ही जोर से वीणा के तार को झंकृत किया जाता है उतना ही उसकी ध्वनि में घोष होता है। यदि एक बार झंकृत करके तार को छोड़ दिया जाता है तो धीरे धीरे उससे संचारित ध्वनि-लहरों का घोष उसी मात्रा में घटता जाता है जिस मात्रा में तार का स्पन्दन।

स्वरूप तथा टिम्बर

टिम्बर स्वरूप पर अवलम्बित होता है और स्वरूप ध्वनि लहरों की जटिलता पर। यदि एक ही साथ दो भिन्न आवृत्तिवाले तारों को झंकृत किया जाता है तो जिस ध्वनि-लहर का संचार होता है वह उन दोनों तारों की अलग अलग ध्वनि-लहरों से भिन्न होती है तथा इन दोनों को डुबा देती है जटिलता को ध्यान में रखते हुए साधारण स्पष्ट टिम्बर से लेकर विचित्र प्रकार का शोर मचाने वाली ध्वनि तक हो सकती है। विशुद्ध टिम्बर कम सुनने में आता है। वाद्य यंत्रों से अनेक प्रकार के टिम्बर संचारित होते हैं जिनका विश्लेषण करने से टिम्बर की जटिलता के सम्बन्ध में पता लगाया जा सकता है।

अंश-नाद[1]

यदि सम्पूर्ण तार स्पन्दित होता है तो एक प्रबल नाद की उत्पत्ति होती है जिसको हम मूल-नाद[2] कहते हैं। इसके साथ साथ तार का आधा, तिहाई, चौथाई, पाँचवा भाग आदि भी स्पन्दित होते रहते है। स्पन्दित होते हुये सम्पूर्ण तार

१—Partial Tones or Overtones. २—Fundamental Tone.

के अन्दर ही अन्दर यह स्पन्दन आंशिक कहलाते हैं। इनमें से प्रत्येक का स्तर अलग होता है जिसको हम अंश-नाद कहते है। यदि जोर से तार को खींच दिया जाय तो बहुत घोषपूर्ण जटिल ध्वनि सुनाई देती है। जब इस स्पन्दित होते हुए तार को बहुत धीरे से किसी महीन कठोर बाल से छेड़ा जाता है तो अत्यन्त ऊँचे स्तर के एक सरल नाद की सृष्टि होती है। उसकी आवृति मूल-नाद की आवृति से लगभग दो गुनी होती है। इसको हम प्रथम अंश-नाद कहते हैं। इसी प्रकार यदि स्पन्दित होते हुए तार को किनारे से एक तिहाई की दूरी पर छेड़ा जाय तो दूसरे आंशिक नाद की सृष्टि होती है। इसकी आवृति मूल-आवृति से लगभग तीन गुनी होती है। इसी प्रकार तीसरे, चौथे, पाँचवें आदि अंश नादों की सृष्टि होती है। जैसे-जैसे स्तर बढ़ता जाता है घोष घटता जाता है, क्योंकि तार को स्पन्दित लम्बाई कम होने के साथ साथ विस्तार भी कम होता जाता है।

विभिन्न वाद्य यंत्रों से न केवल विभिन्न अंश नाद ही निकलते हैं वरन् उनके अनुनादीय गुण भी अलग-अलग होते हैं। उनमें से प्रत्येक

अनुनाद[१]

कुछ अंश नादों को बढ़ा देता और कुछ को दबा देता है। कोई तो उच्च अंश नादों को और कोई माध्यमिक अंश-नादों को प्रबल कर देता है। जब एक प्रकार के नादों को प्रबलता मिलती है तो दूसरी प्रकार के नाद छिप जाते हैं। इसको 'छिपा देना'[२] कहते हैं। निम्न नादों में छिपा देने वाला प्रभाव उच्च नादों की अपेक्षा अधिक होता है। जैसे-जैसे दो नाद स्तर में एक दूसरे के समीप आते जाते हैं छिपने का प्रभाव बढ़ता जाता है।

ऊपर वर्णन किये गये स्तर, घोष और टिम्बर के गुणों के अतिरिक्त ध्वनि के कुछ गुण और भी होते हैं जिनमें आयतन[३], वाणीत्व[४], नादत्व[५] अन्य महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

१—Resonance. २—Masking. ३—Volume. ४—Vocality. ५—Tonality.

ध्वनि का आयतन इस बात पर निर्भर होता है कि पदार्थ के ध्वनि उत्पन्न करने वाले भाग का क्षेत्रफल कितना है। नगाड़े की ध्वनि का आयतन ढोलक की ध्वनि के आयतन से अधिक होता है। वाणीत्व ध्वनि का वह गुण है जिसके कारण वह मानवीय आवाज के समान प्रतीत होती है। कुछ संगीतात्मक ध्वनियाँ स्तर में भिन्न होने पर भी एक सी लगती हैं। ऐसी दशा में उनमें नादत्व की एकता मानी जाती है। संगीत के अनेक सप्तकों में यह गुण वर्तमान रहता है।

स्वाद[1] तथा गन्ध[2]

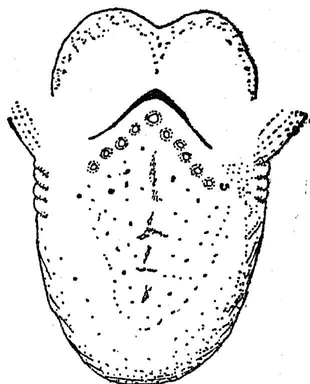
स्वाद तथा गन्ध का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है क्योंकि प्रत्येक के गुण उत्तेजना की रासायनिक क्रिया तथा मुख और नासिका में स्थित आन्तरिक त्वचा की समान संवेदन-शीलता पर निर्भर होते हैं। भोजन की रोचकता[3] जिसको हम बहुधा स्वाद कह कर पुकारते हैं वस्तुतः स्वाद, गंध तथा स्पर्श आदि के मिश्रित अनुभव के परिणाम स्वरूप निश्चित होती है। कभी कभी तो वस्तु के नाम तथा स्वरूप से भी उसकी रोचकता पर प्रभाव पड़ता है। संभवतः इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रख कर हलवाई लोग अपनी मिठाइयों के तरह तरह के आकर्षक नाम रखते हैं। इसके साथ वे स्वाद तथा गंध का घनिष्ट सम्बन्ध समझ कर अपनी मिठाइयों को तरह-तरह से सुगन्धित करके अधिक आकर्षक बनाते हैं।

स्वाद—

हमारी जिह्वा में अनेक जिह्वांकुर[4] होते हैं। अधिकतर जिह्वांकुरों में स्वाद-छिद्र[5] होते हैं। प्रत्येक स्वाद-छिद्र के नीचे एक थैली[6] की तरह की चीज होती है जिसमें प्रत्येक में लगभग १० या १२ स्वाद-कोषाणु[7] रहते हैं। यही कोषाणु स्वाद-ग्राहकों का काम करते हैं। इस प्रकार की स्वाद-थैलियाँ प्रौढ़ों की अपेक्षा बालकों में अधिक होती हैं। सम्भवतः इसी

१—Taste. २—Smell. ३—Flavour. ४—Papillae. ५—Taste-pore. ६—Taste-bud. ७—Taste-cells.

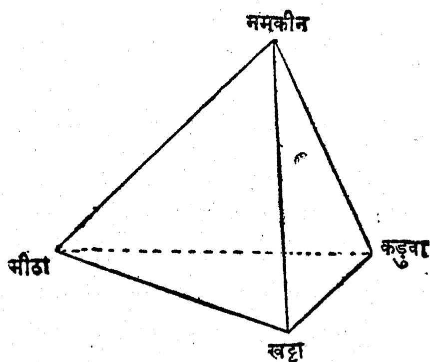
लिये बालकों में रुचि तथा अरुचि का बड़ा भारी झगड़ा रहता है और वे केवल वही भोजन करना पसन्द करते हैं जो उन्हें रोचक लगता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य माताओं के लिये विशेष महत्व रखता है।



चित्र सं० १५ जिह्वा

स्वाद के गुण

स्वाद के सम्बन्ध में अब तक वैसा विश्लेषणात्मक अध्ययन संभव न हो सका है जैसा दृष्टि अथवा श्रवण के संबध में हो चुका है। तथापि स्वाद के चार मौलिक गुण माने गये हैं। खट्टा,[१] नमकीन,[२] कड़ूवा[३] तथा मीठा[४]। खट्टा ऐसा जैसे टाँटरी, नमकीन ऐसा जैसे साँभर, कड़ुवा ऐसा जैसे कुनैन या चिरायता, तथा मीठा ऐसा जैसे चीनी अथवा मिश्री। इनके मध्य में अन्य अनेक प्रकार के स्वाद आते हैं। यह चारों मौलिक गुण एक चतुष्फलक[५] के चारों शीर्षों पर माने जा सकते हैं। उस दशा में उसकी भुजाओं पर तथा उसके अन्दर लगभग सभी अन्य प्रकार के स्वाद प्रदर्शित किये जा सकते हैं।



चित्र सं० १६—स्वाद के गुण

जैसे नमकीन और मीठे के बीच सज्जी या खट्टे, कड़ुये और मीठे के बीच सिरका के स्वाद पर गन्ध का गहरा प्रभाव पड़ता है। इस बात का

१—Acid. २—Saline. ३—Bitter. ४—Sweet. ५—Tetrahedron.

बहुत साधारण अनुभव हमें जुक़ाम हो जाने पर होता है उस समय किसी चीज़ को खाने में स्वाद नहीं आता अथवा लगभग सभी चीज़ों का स्वाद एक सा लगता है। यदि किसी की नाक बन्द करके उसकी जिह्वा पर नीबू के रस की एक बूँद रखिए तो वह केवल यही कहेगा कि 'कुछ खट्टा-खट्टा है' यथार्थ में क्या है वह नहीं बता सकता, नाक छोड़ते ही वह तुरन्त पहचान जाता है।

संवेदनात्मकता

स्वाद की उत्तेजना रासायानिक पदार्थों के स्वाद छिद्रों द्वारा स्वाद-थैलियों में प्रविष्ट होने से होती है। जिह्वा के कुछ भाग एक प्रकार के रासायानिक पदार्थ से उत्तेजित होते हैं, तथा दूसरे भाग दूसरी प्रकार के रासायनिक पदार्थ से। उसका मध्य भाग साधारणत: किसी भी स्वाद से अप्रभावित रहता है। कुनैन की गोली जिह्वा के मध्य भाग पर रखने से कड़वी नहीं मालूम होती। उसके अग्र भाग पर मिठास पीछे के भाग (कण्ठ के समीप) पर कड़वाहट दाहिने तथा बाएँ किनारों पर खट्टापन, तथा लगभग चारों ओर समान रूप से नमकीन स्वाद की संवेदना अत्यन्त शीघ्रता पूर्वक होती है।

सम्मिश्रण[1]

जब अनेक मौलिक स्वादों को मिला दिया जाता है तो बहुधा उस सम्मिश्रण के संयोगी तत्वों को पहचानना कठिन हो जाता है। यदि किसी सम्मिश्रण में कुछ कड़वाहट होती है तो उसको आसानी से पहचान लिया जाता है। कड़वाहट का स्वाद सबसे अधिक तीव्र होता है और अन्य तीनों प्रकार के मौलिक स्वादों को दबा देता है। आपस में मिला देने से प्रत्येक स्वाद की तीव्रता कम हो जाती है। खट्टे में मीठा मिला देने से दोनों के स्वाद में कुछ नम्रता आ जाती है। यही कारण है कि बहुत से व्यक्तियों को खट्टे की अपेक्षा मीठा अचार अधिक रुचिकर होता है। किन्तु यदि

१—Fusion.

हम मीठा खाने के बाद नीबू चूसें तो नीबू बहुत खट्टा मालूम होगा अथवा यदि जिह्वा के एक ओर थोड़ी चीनी और दूसरी ओर नीबू के रस की एक बँद रक्खें तो दोनों का स्वाद बहुत तीव्र मालूम होगा। किंतु इस प्रकार का वैषम्य नित्य प्रति के अनुभव के बाहर की वस्तु है।

यदि अधिक समय तक एक ही प्रकार की चीज़ खाई जाय तो प्राणी उसके स्वाद का आदी हो जाता है। बच्चों को मिर्च बहुत बुरी लगती है, किन्तु बड़ा होकर वही खूब मिर्च खाने लगता है। कारण यह है कि घर में उसको धीरे-धीरे मिर्च खाने की आदत हो जाती है उसके स्वाद-ग्राहक जो पहले मिर्च के स्वाद का विरोध करते थे, अब उसको ग्रहण करने लगे। दूसरी ओर यदि मीठा खाने के बाद चाय दी जाती है तो वह फीकी लगती है। किन्तु नमकीन खाकर पीने के बाद मीठी लगती है। इसका कारण एक प्रकार का वैषम्य है।

अनुशीलन[1]

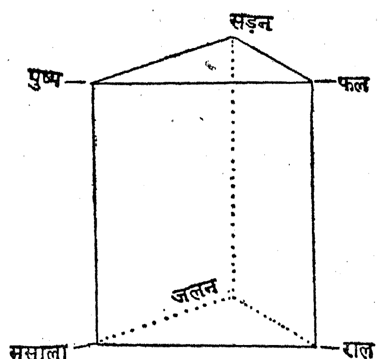
गन्ध

घ्राण-संवेदना के ग्राहक-कोषाणु नासिका में भीतर की ओर सबसे ऊपर स्थिति होते हैं। नाक में जाने वाली श्वास सीधी इन कोषाणुओं से नहीं टकराती, उसका केवल कुछ अंश वहाँ तक पहुंचता है। यही कारण है कि किसी चीज को सुँघने के लिए प्रायः साधारण से कुछ अधिक गहरी श्वास लेनी पड़ती है। इससे संवेदनात्मकता बढ़ जाती है।

गन्ध-संवेदना के प्रकार—साधारणतः मौलिक गंध ६ प्रकार की मानी गई है—जलन[2] गंध, सड़न[3]-गंध, राल[4]-गंध, मसाला[5]-गंध, फल[6]-गंध और पुष्प[7]-गंध। यदि यह छहो गंध एक त्रिपार्श्व के ६ शीर्षो पर पर माने जाँय तो अन्य सब गन्धें इसी त्रिपार्श्व में किसी न किसी स्थान दिखाई जा सकती हैं। यह वर्गी करण केवल सुविधा के लिए किया जाता है। यथार्थ में इस सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बहुत सीमित है। गंध सम्बन्धी

१—Adaptation. २—Burned. ३—Putrid. ४—Resinous. ५—Spicy. ६—Fruity. ७—Flowery.

इन मौलिक गुणों के लिए पदार्थ से विलग कोई नाम न होने से यह सिद्ध होता है कि गन्ध का सम्बन्ध पदार्थ से है। पदार्थ से अलग हम गन्ध की कल्पना नहीं कर सकते। गंध के एकात्मक अध्ययन में एक कठिनाई यह भी है कि बहुधा गन्ध से स्वाद भी जुड़ा रहता है, जैसे क्लोरो फार्म सूंघने से मुख में मिठास आ जाता है।



चित्र सं० १८ – गन्ध के गुण

संवेदनात्मकता

गन्ध संवेदना भी एक प्रकार की स्पर्श संवेदना है। नाक में प्रविष्ट होने वाली वायु के साथ गन्ध भी प्रविष्ट होती है और वह वायु जब ग्राहकों को स्पर्श करती है तो गंध का अनुभव होता है।

एक प्रकार के परमाणु गन्ध युक्त पदार्थ से निकल कर वायु में विचरण करते हैं। वे गैस की तरह इधर उधर फैल जाते हैं। वे परमाणु गन्ध-संवेदना के उत्तेजक पदार्थ का काम करते हैं। यदि कोई सुगंधित द्रव पदार्थ सर को उलट कर नासिका में भर दिया जाय तो सुगंध नहीं आएगी। क्योंकि गंध-संवेदना पदार्थ द्वारा गन्ध-ग्राहकों के छुए जाने से न होकर गन्ध-परमाणुओं द्वारा छुए जाने से होती है।

सम्मिश्रण

दो गन्ध युक्त पदार्थों के मिल जाने से एक मिश्रित गन्ध का अनुभव होता है। कभी कभी यह आसानी से बताया जा सकता है कि इस मिश्रित गंध वाले पदार्थ में कौन पदार्थ मिले हैं तथा कभी इसमें बहुत कठिनाई होती है। मसालेदार सब्जी के जलने की गन्ध एक प्रकार की होती है और सुगन्धित चावलों के जलने की दूसरी प्रकार की। दोनों दशाओं में गन्ध मिश्रित रहती है और प्रयत्न करने पर अलग-अलग बताई जा सकती है।

एक प्रकार की गन्ध का प्रभाव मिटाने के लिये दूसरी प्रकार की गन्ध का प्रयोग किया जाता है। कुछ पदार्थों की गन्ध आसानी से दब जाती है, कुछ की नहीं दबती। सीलन की दुर्गन्ध कमरे में धूप-बत्ती जलाने से दब जाती है, किन्तु मिट्टी के तेल में हाथ भीग जाने पर उसकी दुर्गन्ध सुगन्धित साबुन से कई बार हाथ धोने से भी नहीं जाती।

अनुशीलन

गन्धात्मक अनुशीलन बड़ी शीघ्रता पूर्वक होता है और कुछ ही मिनट में पूर्ण हो सकता है। सफ़ेद इलायची मुख में रखने पर बड़ी सुगन्धित लगती है। थोड़ी देर में ऐसा प्रतीत होता है मानो उसमें गन्ध ही नहीं थी। सुगन्धित तेल पहली बार डालने पर बड़ी सुगन्ध आती है, किन्तु थोड़ी देर में उसका अनुभव होना बन्द हो जाता है। अनुशीलन का प्रभाव मिटने में भी अधिक देर नहीं लगती।

देहात्मक संवेदना[१]

प्राचीन काल से नेत्र, श्रवण, नासिका, जिह्वा तथा त्वचा नाम की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मानी गई हैं तथा रूप, ध्वनि, गंध, रस, तथा स्पर्श क्रमशः इनके अलग अलग गुण माने गये हैं। यथार्थ में पहले की चार ज्ञानेन्द्रियों के अन्तर्गत न आने वाली सभी संवेदनायें स्पर्श के अन्तर्गत रखी जाती हैं। इस अंतिम संवेदना में शरीर के विभिन्न अंग भाग लेते हैं जैसे त्वचा, पेशियाँ, स्नायुरज्जु[२], अस्थियाँ आदि। अतः इस संवेदना को यदि देहात्मक संवेदना नाम दिया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। इस संवेदना का अध्ययन हम दो भागों में करेंगे:—(१) स्पर्शात्मक अथवा त्वचात्मक[३] तथा (२) चेष्टात्मक[४]।

स्पर्शात्मक संवेदना

स्पर्शात्मक संवेदना का सम्बन्ध त्वचा से होता है। इस संवेदना के अन्तर्गत चार प्रकार के अनुभव होते हैं—(१) भार[५] (२) उष्णता[६]

१—Somaesthesis. २—Tendons. ३—Cutaneous. ४—Kinaesthetic. ५—Pressure. ६—Warmth.

(३) शीतलता[1] तथा (४) वेदना[2] अथवा पीड़ा। हमारे शरीर की त्वचा इनमें से प्रत्येक प्रकार के अनुभव के लिये सब स्थानों पर समान रूप से संवेदन शील नहीं होती। हर एक प्रकार के अनुभव के लिये अलग-अलग संवेदनाक्षेत्र होते हैं। यह विभिन्न क्षेत्र आपस में मिले जुले होते हैं। बीच बीच में संवेदना शून्य[3] क्षेत्र भी आ जाते हैं। किसी महीन सुई की नोक को गर्म करके उससे त्वचा को स्पर्श करने से तुम्हें अनुभव होगा कि उस पर कुछ विन्दु ऐसे हैं जिनको स्पर्श करने से तुम्हें सुई की नोक गर्म नहीं मालूम होगी और कुछ बिन्दु ऐसे हैं जिनको स्पर्श करने से सुई की नोक अत्यन्त गर्म मालूम होगी।

त्वचा के धरातल में किसी भी प्रकार की विकृति[4] होने से भार की संवेदना होती है। भारात्मक ग्राहकों पर त्वचा को खींचने अथवा दबाने का समान रूप से प्रभाव पड़ता है। यदि विषय को आँख मींच कर किसी बहुत सूक्ष्म क्रिया से उसकी त्वचा को खींचा जाय तो उसको वैसा ही अनुभव होता है जैसा त्वचा को दबाने से। शरीर के अलग-अलग भागों के भार-बिन्दुओं की संख्या तथा उनके वितरण में बहुत अधिक विभिन्नता पाई जाती है। इसका सम्बन्ध उत्तेजना की तीव्रता तथा आकार से भी होता है। लोम-युक्त भागों में संवेदना-ग्राहक लोमों की जड़ों में स्थित होते हैं तथा लोम-विहीन भागों पर भार के ग्राहक अन्य प्रकार के होते हैं और त्वचा के वाह्य धरातल के अत्यन्त समीप अन्दर की ओर स्थित होते हैं। त्वचा के कुछ भाग जैसे अँगुलियों के सिरे, ओठ तथा खोपड़ी का केश-युक्त भाग अत्यन्त भार-संवेदन शील होते हैं तथा कुछ भाग जैसे मुख में स्थित झिल्ली[5] के कुछ भाग पूर्णतः भार संवेदना विहीन होते हैं। जैसे जैसे हम मेरुदण्ड से दूर हटते जाते हैं वैसे-वैसे स्पर्श-संवेदना

त्वचात्मक भार

१—Cold. २—Pain. ३—Insensitive. ४—Deformity. ५—Mucous membrane.

बिन्दुओं की संख्या बढ़ती जाती है। भार अन्तर की अनुभूति लिये मेरुदण्ड के समीप की त्वचा पर डाले गये भागों में उससे दूर की त्वचा पर डाले गये भारों के अन्तर से अधिक अन्तर होना चाहिये। यदि शरीर पर कहीं १ तोला तथा १½ तोले के बीच अन्तर का बोध हो सकता है तो अँगुली पर १ तोला और १ तोला २ माशा के भारों के बीच का भी अन्तर मालूम हो जाता है।

भार पड़ते ही भार की अनुभूति अत्यन्त शीघ्रता पूर्वक होने लगती है तथा उसका प्रभाव भार हटने पर शीघ्र ही मिट जाता है। प्रत्येक तरह के भार के हम शीघ्र ही आदी हो जाते हैं। कपड़े पहनते ही उनके भार की अनुभूति होना बन्द हो जाती है। भार का अनुशीलन घ्राण से कहीं अधिक शीघ्रता पूर्वक होता है।

यदि शरीर के प्रत्येक भाग पर समान रूप से भार डाला जाय तो भार का अनुभव नहीं होता। भार संवेदना उस भाग पर होती है जहाँ दो भिन्न-भिन्न प्रकार के भारों का मिलन क्षेत्र होता है। यदि पानी से भरे किसी बर्तन में हाथ डालो तो डूबे हुये भाग पर भार का अनुभव नहीं होता वरन् उस भाग पर होता है जो पानी तथा वायु के मिलन-क्षेत्र अर्थात् पानी के धरातल पर होता है।

पीड़ा के लिए भी भार के समान विशिष्ट ग्राहक होते हैं। इसका अनुभव त्वचा के किसी भी क्षेत्र को आवश्यकता से अधिक उत्तेजित करने से नहीं होता वरन् केवल तत्सम्बन्धी ग्राहकों को उत्तेजित करने से ही होता है। पीड़ा शरीर में प्रत्येक स्थान पर अन्दर या बाहर कहीं भी हो सकती है। इस संवेदना का स्वरूप लगभग सभी स्थानों पर वैसा ही होता है जैसा त्वचा पर, अतः केवल तत्सम्बन्धी पीड़ा को समझ लेना पर्याप्त होगा।

त्वचात्मक पीड़ा[1]

१—Cutaneous pain.

त्वचात्मक पीड़ा का अनुभव अनेक प्रकार की उत्तेजनाओं से होता है। सुई छिद जाने से पीड़ा होती है, आग से जल जाने पर पीड़ा होती है, हाथ बहुत ठंडा हो जाने के कारण पीड़ा होती है, तात्पर्य यह है कि विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं से पीड़ा होती है। पीड़ा संवेदना के लिए केवल इतना पर्याप्त है कि उत्तेजना द्वारा त्वचा में स्थित नाड़ियों के स्वतन्त्र सिरों को चोट पहुँचे, इससे कोई प्रयोजन नहीं कि वह चोट किस प्रकार पहुँचती है। साधारणतः पीड़ा संवेदना से पूर्व भार संवेदना का अनुभव होता है क्योंकि त्वचा के ऊपर का परत कुछ कठोर हो जाता है और एकाएक अपने नीचे स्थित नाड़ी-छोरों को चोट नहीं पहुँचने देता।

पीड़ा का वर्णन अनेक प्रकार से किया जाता है। मीठी, जलनवाली, तीव्र, धीमी, चीरने वाली, काटने वाली, चुभने वाली, प्रहार वाली आदि तरह तरह की पीड़ा होती है। उसको साधारणतः प्राथमिक पीड़ाओं में विभाजित करना कठिन है। सरलता के लिए हम कह सकते हैं बहुत तीव्र[१], मामूली चुभन वाली[२] तथा खुजलाहट[३] वाली तीन प्रकार की प्राथमिक पीड़ाएँ होती हैं। अन्य सब पीड़ाएँ इन्हीं तीन पीड़ाओं के विभिन्न स्वरूप हैं। तीव्र पीड़ा का सम्बन्ध त्वचा में स्थित गहरे नाड़ी-छोरों से, चुभने वाली का उससे कम गहरों से और खुजलाहट वाली का सबसे कम गहरे नाड़ी छोरों से होता है।

त्वचा पर पीड़ा-बिन्दु स्पर्श-बिन्दुओं की अपेक्षा कहीं अधिक होते हैं उसमें लगभग ७ : १ का अनुपात होता है। वे सब से अधिक उन स्थानों पर होते हैं जहाँ पर बड़ी नाड़ियाँ अथवा शिराएँ त्वचा के अत्यन्त समीप होती है।

ऊपरी खाल जहाँ पर जितनी मोटी होती है पीड़ा के लिए वह स्थान उतना ही कम संवेदन-शील होता है। पैर के तलवों में विशेषकर एड़ी

१—Clear pain. २—Prick. ३—Itch.

में, शरीर के अन्य स्थानों की अपेक्षा कहीं अधिक गहराई में चीज़ चुभने पर संवेदना होती है दूसरी ओर नेत्र तथा कान का आन्तरिक भाग बहुत संवेदन शील होते हैं।

शरीर में स्थित ग्राहकों के तापक्रम में अन्तर होने से गर्मी अथवा ठण्ड का अनुभव होता है; इससे कोई प्रयोजन नहीं कि यथार्थ में बाह्य तापमान क्या है। यदि अपना एक हाथ गर्म पानी के बर्त्तन में दूसरा हाथ ठण्डे पानी के बर्तन में डालो और फिर उनमें से निकाल कर दोनों हाथ एक साथ गुनगुने पानी के बर्तन में डालो तो गर्म पानी से आए हुए हाथ को वह पानी ठण्डा तथा ठण्डे पानी से आए हुए को गर्म मालूम होगा। अतः इससे स्पष्ट है कि ताप अथवा शीत की संवेदना वाह्य तापक्रम पर निर्भर न होकर ग्राहकों के तत्कालीन तापक्रम पर निर्भर होती है।

त्वचात्मक शीतलता तथा उष्णता[1]

हमारे शरीर से निरन्तर गर्मी निकलती रहती है। जब तक गर्मी निकलने की यह क्रिया सामान्य रूप से चलती रहती है शरीर को न ताप का अनुभव होता है न शीत का। इस क्रिया के घटने या बढ़ने से क्रमशः गर्मी अथवा ठण्ड की संवेदना होती है। शरीर से अधिक गर्मी निकलने से त्वचा का तापक्रम घट जाता है जिसके परिणाम स्वरूप ठण्ड लगने लगती है। शीतकाल में गर्मी अधिक शीघ्रता पूर्वक निकलती है अतः उसे रोकने के लिए गर्म कपड़े पहिने जाते हैं। दूसरी ओर कम गर्मी निकलने से शरीर का तापक्रम बढ़ जाती है और गर्मी लगने लगती है जिसको घटाने के लिए हवा करने की आवश्यकता पड़ती है।

प्रयत्न करने पर भी अब तक त्वचा में स्थित शीत और उष्णता के किन्हीं विशिष्ट ग्राहकों का अलग अलग पता न लगाया जा सका है। अतः यह समझा जाता है कि त्वचा में स्थित नाड़ी छोर ही इसके ग्राहक होते हैं।

१—Cutaneous cold and warmth.

चेष्टात्मक संवेदना[1]

शरीर में स्थित मास पेशियों, हड्डियों, विभिन्न स्नायु-रज्जुओं के जोड़ों तथा उनके ऊपर की झिल्ली आदि में एक प्रकार की चेष्टात्मक संवेदना होती है। इस संवेदना का सम्बन्ध पूर्वान्त-ग्राहकों से होता है।

मांस-पेशियों की संवेदन-शीलता का अध्ययन उनके ऊपर की त्वचा को सुन्न अर्थात् संवेदना-विहीन करके किया जाता है। मांस-पेशियों द्वारा भी दर्द और भार की संवेदना होती है। उनमें अनेक ग्राहक होते हैं जो इन संवेदनाओं का वहन करते हैं।

स्नायु रज्जुओं को सीधे ही उत्तेजित नहीं किया जा सकता उनके द्वारा तनाव[2] की संवेदना होती है जो उत्तेजना की तीव्रता के बढ़ने पर पीड़ा का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार का अनुभव बहुधा बहुत देर तक कोई भारी वस्तु लेकर चलने से होता है स्नायु-रज्जुओं में केवल मांस-पेशियों के समीप ही ग्राहक होते हैं अन्य स्थानों पर नहीं।

शारीरिक जोड़ों पर इतने प्रकार के अवयव इकट्ठे हो जाते हैं कि उनको अलग करना तथा उत्तेजित करना कठिन होता है। उनपर भी एक प्रकार के भार तथा पीड़ा का अनुभव होता है।



---

१ – Kinaesthesis. २—Strain.

अध्याय—६

मनोवैज्ञानिक क्रिया

प्राणी हर समय क्रिया-शील रहता है। इस गत्यात्मक विश्व में वह उसी प्रकार क्रिया करता है जिस प्रकार अनेक शक्तियों से नियंत्रित तथा प्रभावित होकर कोई जड़-पदार्थ किसी गत्यात्मक क्षेत्र में क्रिया करता है, केवल अन्तर इतना है कि भौतिक-शास्त्र की अत्यधिक उन्नति हो जाने के कारण जड़-पदार्थ की अनुद्भूत शक्ति[१] तथा उसकी क्रिया समझना सरल हो चला है किन्तु अभी मनोविज्ञान का शैशव-काल है जिससे प्राणी की अनुद्भूत-शक्ति को समझना और उसके व्यवहार को नियंत्रित करना सम्भव न हो सका है। प्राणीमात्र की क्रियाओं को हम दो भागों में बाँट सकते हैं:—

(१) प्रेणात्मक[२]—प्रणात्मक जैसे रुधिर-संचार इनको प्राणी प्रयत्न करने पर भी जीवित रहते हुए नहीं रोक सकता तथा जिनका होते रहना उसके जीवित रहने के लिए अनिवार्य है।

इनके अन्तर्गत प्राणी का वह समस्त बाह्य अथवा आंतरिक व्यवहार आ जाता है जो किसी उत्तेजना के फल स्वरूप घटित होता है।

प्रतिक्रियात्मक[३] पहले प्रकार की क्रियाएँ शरीर विज्ञान का विषय हैं। दूसरे प्रकार की क्रियाएँ मनोविज्ञान का विषय हैं और इस पाठ में हम इनका अध्ययन करेंगे।

१—Potentiality. २—Vital. ३—Reactive.

आधुनिक मनोविज्ञान का वस्तुतः यह एक मौलिक सिद्धान्त है कि प्रत्येक उत्तेजना की कुछ प्रतिक्रिया होती है, वाह्य अथवा आन्तरिक, और प्रत्येक प्रति-क्रिया किसी न किसी उत्तेजना के फल-स्वरूप होती है। इसको निम्न सूत्र द्वार सूचित किया जाता है:—

उ ——→ प्र[१]

किन्तु यह सूत्र प्राणी के व्यवहार की व्याख्या करने के लिए अपर्याप्त है। प्रत्येक प्राणी विद्युत-रासायनिक शक्तियों[२] का एक अत्यन्त जटिल समवाय होता है। विकास परम्परा में तो प्राणी जितने बाद का है रचना में वह उतता ही अधिक जटिल है और उसका व्यवहार ही कठिन है। भौतिक-शास्त्र का पण्डित किसी विद्युत-चुम्बकीय क्षेत्र में स्थिति अनेक शक्तियों के सन्तुलन अथवा गत्यात्मक सम्बन्ध को भली प्रकार समझता है और बहुत बड़ी सीमा तक ठीक ठीक बता सकता है कि किसी नई शक्ति का उस क्षेत्र में सन्तुलित अथवा गतिशील शक्तियों पर क्या प्रभाव पड़ेगा तथा उसका क्या परिणाम होगा। इस प्रकार के क्षेत्र के लिए हम उ——→प्र सूत्र को उपयुक्त मान सकते हैं किन्तु जीवात्मक क्षेत्र के लिए नहीं। प्रत्येक जीव में अपने में व्याप्त अनेक विद्यत् रासायनिक शक्तियों के परिणाम-स्वरूप एक अनुद्भूत-शक्ति रहती है जो उसको अन्य भौतिक पदार्थों से भिन्न स्तर पर रखती है। उसके पक्ष में प्रत्येक उत्तेजना की प्रतिक्रिया की व्याख्या के लिए हमें उसमें व्याप्त शक्तियों का तत्कालीन गत्यात्मक संतुलन जान लेना आवश्यक होता है। विभिन्न प्राणियों की अनुद्भूत शक्तियों में भिन्नता होने के कारण उत्तेजना एक होने पर भी प्रतिक्रिया में भिन्नता हो जाती है। प्राणी पक्ष में केवल उत्तेजना से प्रति क्रिया नहीं होती वरन् उत्तेजना प्राणी पर प्रभाव डालती है और तब इस प्रभाव के कारण प्राणी में स्थिति अनुद्भूत-शक्ति का कुछ

१—S——>R. २—Electro-chemical forces.

भाग व्यवहार के रूप में प्रकट होता है। अतः व्यवहार की व्याख्या के लिये प्राणी की अनुद्भूत-शक्ति का महत्व ध्यान में रखते हुए निम्न सूत्र अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है:—

उ ———→ प्रा ————→ प्र[१]

(उत्तेजना) (प्राणी) (प्रतिक्रिया अथवा व्यवहार)

इसी सूत्र के 'प्रा०,' भाग को ध्यान में रख कर हमने दूसरे पाठ में 'आन्तरिक संश्लेषण, की व्याख्या की है।

मनोवैज्ञानिक क्रियाओं के भेद

प्राणीमात्र की मनोवैज्ञानिक क्रियाओं का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जा सकता है। किसी क्रिया के मूल में उसका पूर्व अनुभव रहता है तो किसी के मूल में उसकी जन्म जात विशेषताएँ। कोई क्रिया वाह्य उत्तेजना के फलस्वरूप होती है और कोई प्राणी की आन्तरिक आवश्यकता के फल-स्वरूप। कुछ क्रियाएँ प्राणी अपनी इच्छा से करता है और कुछ अपने आप हो जाती हैं। किसी क्रिया में उसकी सम्पूर्ण देह भाग लेती है और किसी में केवल कुछ अंग। इन विभिन्नताओं को ध्यान में रखते हुए हम मनोवैज्ञानिक क्रियाओं का अध्ययन इन दो मुख्य वर्गों के अन्तर्गत करेंगे :—

(१) अपने आप होने वाली[२] तथा ऐच्छिक क्रियाएँ[३]

(२) जन्म जात[४] तथा अनुभव-प्राप्त अथवा सीखी गई क्रियाएँ[५]

यह वर्ग केवल सुविधा के लिए किए गए हैं। अनेक अपने आप होने वाली क्रियाएँ अनुभव-प्राप्त या जन्म-जात होती हैं तथा अनुभव-प्राप्त क्रियाएँ ऐच्छिक अथवा अपने आप होने वाली हो सकती हैं, अन्तर केवल आपेक्षिक प्रबलता का है।

१—S—→O—→R. २—Automatic. ३—Voluntary. ४—Innate. ५—Learnt.

अपने आप होने वाली तथा ऐच्छिक क्रियाएँ

मान लो आज तुम्हारे स्कूल में एक मैच होने वाला है और तुम उसको देखने जाने का निश्चय करते हो। तुम झटपट कपड़े पहिन कर बाहर निकल पड़ते हो। एक बार मार्ग पर चलना आरम्भ करके तुम अन्य विचारों में तल्लीन हो जाते हो। सामने से आती हुई सवारियों से बचने के लिए आप से आप सड़क के किनारे पर चलने लगते हो। यह समस्त व्यवहार तुम्हारे लिए लगभग यांत्रिक सा हो जाता है। चलने तथा सवारियों से बचने की क्रियाएँ करते रहने पर भी तुम्हारी विचार-धारा लगभग अबाधित गति से प्रवाहित होती रहती है। मार्ग में कहीं कांटा लग जाने से तुम्हारा पैर एक साथ भूमि से उठ जाता है और तब तुम्हें बोध होता है कि पैर में कांटा लग गया। तुम्हारी आंखों के पलक बराबर झँपते और खुलते रहते हैं; उनकी तरफ तुम्हारा ध्यान भी नहीं जाता। खेल के मैदान में पहुँच कर मैच देखते तुम अपने मानसिक जगत में स्वयं खेलने लगते हो और बहुधा बिना जाने ही खिलाड़ी की तरह तुम भी व्यवहार करने लगते हो।

उपर्लिखित वर्णन में खेल देखने जाने के लिए कपड़े पहिन कर खेल के मैदान की ओर चलना आदि सब ऐच्छिक क्रियाएँ हैं। इन क्रियाओं के घटित होने में चेतना का अधिक हाथ रहता है। दूसरी ओर चलने की क्रिया, कांटा लगने पर पैर उठने की क्रिया, पलक झँपना तथा खेल देखते देखते स्वयं खिड़ाली की तरह अनजाने में कुछ व्यवहार कर बैठना, आदि बहुत बड़ी सीमा तक अपने आप होने वाली क्रियाएँ हैं। अपने आप होने वाली क्रियाओं में से कुछ में से मस्तिष्क का परोक्ष रूप से भाग रहता है और कुछ केवल सुषुम्ना के स्तर पर ही हो जाती हैं। इन अपने आप होने वाली क्रियाओं को पांच वर्गों में बांटा जा सकता है :—

(१) प्रक्षिप्त क्रिया[१] तथा ट्रापिज्म[२]

१—Reflex action. २—Tropism.

(२) साप्रेक्षित[1] क्रिया
(३) प्रक्षिप्त-वृत्त[2] क्रिया
(४) विचार-क्रिया[3]
(५) समानुभूति[4]

पहिले प्रकार की क्रियाओं को छोड़कर अन्य सब में मस्तिष्क का कुछ न कुछ भाग रहता है।

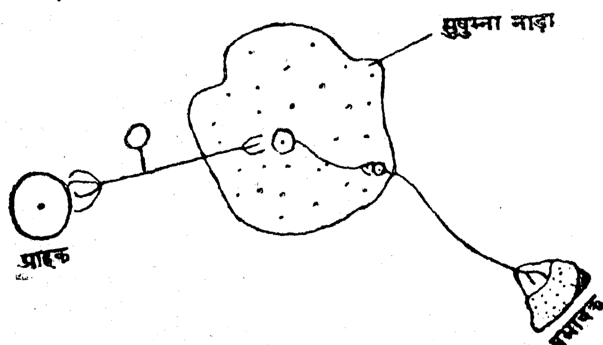
प्रक्षिप्त क्रिया तथा ट्रापिज्म

प्राणी का सम्पूर्ण शरीरट्रापिज्म नाम की क्रिया में वाह्य उत्तेजना के फल-स्वरूप किसी विशेष प्रकार की रूढ़[5] चेष्टा करता है। किसी भी अन्य प्रकार से शरीर के केवल एक भाग से चेष्टा नहीं होती। इस चेष्टा को यदि साधारण प्रतिक्रिया[6] कहा जाए तो अधिक उत्तम हो। इस प्रकार की चेष्टा का एक सुन्दर उदाहरण हमें जड़-जंगत से मिलता है। सूरजमुखी के फूल का रुख सदैव सूर्य की ओर रहता है। आकाश में सूर्य का स्थान बदलने के साथ उसका रुख भी बदल जाता है। अमीवा नामक जीव का व्यवहार इसी कोटि का होता है। किसी छड़ से उत्तेजित किये जाने पर उसका संपूर्ण शरीर एक साथ प्रतिक्रिया करता है और उसका रुख बदल जाता है। इस प्रकार का व्यवहार विकास परम्परा में अत्यन्त निम्न-कोटि के जीवों में पाया जाता है। उच्च प्राणियों में इसकी जगह प्रक्षिप्त क्रिया ग्रहण कर लेती है।

स्निग्ध अथवा रेखा-युक्त मांस-पेशियों की तुरन्त होने वाली अनैच्छिक प्रतिक्रिया को प्रक्षिप्त क्रिया कहते हैं। बालक की घन्टी में दूध पहुँचने पर तुरन्त ही उसके कण्ठ की मांस-पेशियां सिकुड़ जाती हैं जिससे दूध घन्टी से नीचे उतर जाता है। जोर से शब्द होने पर उसका पलक फौरन झंप जाता है। काँटा लगने पर पैर तुरन्त उठ जाता है। यह सब प्रक्षिप्त-क्रिया के उदाहरण हैं।

१—Conditioned. २—Reflex-circle. ३—Ideo-motor action. ४—Empathy. ५—Stereotyped. ६—Generalised reaction.

साधारण प्रक्षिप्त-क्रिया में केवल एक एक ग्राहक, ज्ञानवाही नाड़ी-तन्तु, क्रिया-वाही नाड़ी तन्तु तथा प्रभावक भाग लेते हैं। इस प्रकार की प्रक्षिप्त-क्रिया को साधारण प्रक्षिप्त-चाप[१] कहते हैं। इसका सम्बन्ध केवल सुषुम्ना-नाड़ी से रहता है।



चित्र सं० १८—साधारण प्रक्षिप्त चाप

इस प्रकार का साधारण प्रक्षिप्त-चाप पूर्णतः विकसित मानव में एकान्तिक रूप में नहीं पाया जाता है। देहात्मक संवेदना के सम्बन्ध में तुम पढ़ चुके हो कि एक पैर में कांटा चुभने पर वह पैर तो फौरन उठ जाता है किन्तु दूसरा पैर तुरन्त ही शरीर का बोझ सँभाल लेता है। इसका तात्पर्य है कि यद्यपि ग्राहक तो एक ही उत्तेजित हुआ किन्तु उससे उत्पन्न संवेदना के प्रभाव-स्वरूप कई क्रिया-वाही नाड़ी-तन्तुओं ने प्रति-क्रिया में भाग लिया—कुछ तो वे जिनमें आवेग प्रसारित होने से पैर उठा और कुछ वे जिनके प्रभावित होने से शरीर का सन्तुलन बना रहा।

प्रत्येक प्राणी के प्रति क्रिया-भण्डार[२] में इस प्रकार के अनेक प्रक्षिप्त चाप रहते हैं जिनमें पारस्परिक सम्बन्ध भी होता है। बहुधा एक प्रक्षिप्त-चाप से उत्तेजित होने के साथ यदि अन्य कई प्रक्षिप्त-चाप भी उत्तेजित

१—Simple Reflex Arc. २—Repertoire of Reactions.

किए जाते हैं तो पहले प्रक्षिप्त-चाप से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिक्रिया या तो और अधिक सरलता से हो जाती है या अवरुद्ध हो जाती है। जोर की आवाज सुन कर चौंक जाना एक प्रकार की प्रक्षिप्त क्रिया है। मान लो किसी बालक को दूध पिलाया जा रहा है और कुछ दूध उसकी घांटी में रुका हुआ है। उसी समय यदि कोई जोर से चिल्ला उठता है तो दूध चट से घांटी से उतर जाता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हमें नित्य प्रति के जीवन में मिलते हैं।

कुछ प्रक्षिप्त क्रियाओं पर ऐच्छिक नियंत्रण भी हो सकता है। अपने किसी साथी की आंख के सामने जोर से हाथ हिला कर देखो। उसके पलक फौरन झँप जाते हैं। किन्तु यदि वह यह निश्चय कर ले कि तुम्हारे कितने ही जोर से हाथ हिलाने पर वह आँख नहीं मुँदने देगा तो वह हर दशा में आँख खुली रख सकता है। दूसरी ओर वह जब चाहे तब पलक मार भी सकता है अर्थात्-मस्तिष्क का नियंत्रण भी सम्भव होता है।

प्रक्षिप्त-चाप की सृष्टि तत्सम्बन्धी शारीरिक अवयवों के परिपक्व होने से होती है। एक बार प्रक्षिप्त-चाप की सृष्टि हो जाने के बाद आसानी से बताया जा सकता है कि किस उत्तेजना के परिणाम-स्वरूप किस प्रकार की प्रतिक्रिया होगी।

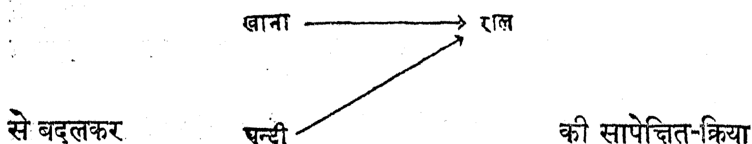
कुछ क्रियाएँ सामान्यतः प्रक्षिप्त न होने पर भी किन्हीं कारणों से प्रक्षिप्त हो जाती हैं। ऐसी क्रियाओं को सीखी हुई प्रक्षिप्त क्रिया कहते हैं।

सापेक्षित-क्रिया

दही का कुल्लड़ हाथ में लेकर जाते हुए सिपाही की 'ऐटेन्शन——>तन कर खड़े होना' क्रिया सीखी हुई प्रक्षिप्त-क्रिया थी। इस प्रकार की सीखी हुई प्रक्षिप्त क्रिया को सापेक्षित क्रिया कहते हैं। सीखी हुई प्रक्षिप्त-क्रिया को यह नाम देने तथा उसको प्रदर्शित करने का श्रेय पावलोव[1] नाम के एक रूसी शरीर विज्ञान-वेत्ता को है। खाना देखकर किसी कुत्ते के मुँह में राल

१—Pavlov.

आ जाना यह एक प्रक्षिप्त-क्रिया है। उसने अपने कुत्ते को खाना देने से पहले घण्टी बजाना आरम्भ किया। पहले घण्टी बजती थी फिर खाना आता था। बहुत बार इस प्रकार घण्टी बजने के बाद खाना आने से, केवल घण्टी बजने पर ही कुत्ते के मुँह से राल आने लगी। 'इस प्रकार



से बदलकर की सापेक्षित-क्रिया

चित्र सं० १६

एक साधारण प्रक्षिप्त-क्रिया हो गई। इस प्रकार का सापेक्षीकरण[१] मानवीय-पक्ष में भी सम्भव होता है। कुछ मनोविज्ञान-वेत्ताओं का कहना है कि जो कुछ हम सीखते हैं उसके एक बहुत बड़े भाग के मूल में सापेक्षीकरण का सरल सिद्धान्त रहता है।

एक प्रकार की प्रक्षिप्त क्रिया की सहायता से नवीन प्रक्षिप्त-क्रियाओं की सृष्टि की जा सकती है किन्तु यह दूसरे प्रकार की प्रक्षिप्त-क्रियाएँ, जिनको यदि अब हम सापेक्षित-क्रियाएँ कहें तो अधिक उपयुक्त होगा, प्राणी के स्थाई व्यवहार-भण्डार में बहुत मुश्किल से जगह पाती हैं। पावलोव के कुत्ते के प्रयोग में बहुत बार घण्टी बजने के बाद हर बार खाना न आने से राल आना बन्द हो गई। अतः हम कह सकते हैं कि सापेक्षित क्रियाएँ भूली भी जा सकती हैं। इस विषय की विशद् व्याख्या 'सीखना' अध्याय में की जायगी।

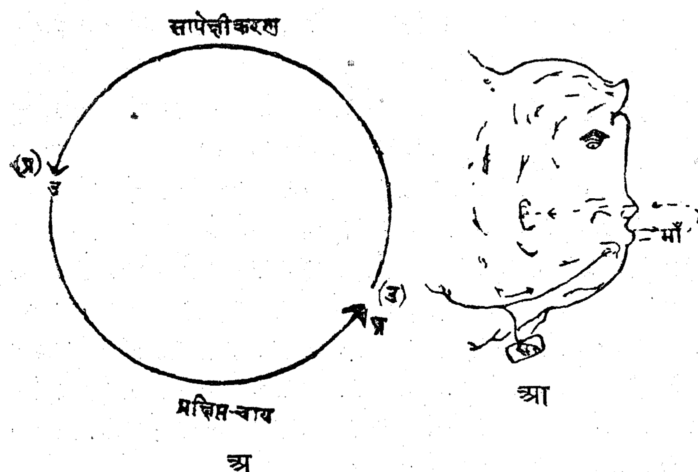
प्रक्षिप्त-चाप के सापेक्षी-करण से प्रक्षिप्त-वृत्त की सृष्टि होती है। साधारणतः प्रत्येक उत्तेजना की प्रतिक्रिया होती है। यदि यही प्रतिक्रिया सापे द्वारा रक्तकणि उलट कर फिर उत्तेजना बन

प्रक्षिप्त-वृत्त

जाती है तो उसके परिणाम में फिर वही प्रतिक्रिया होती है। इस प्रकार एक प्रक्षिप्त-वृत्त की सृष्टि होती है।

१—Conditioning.

वैसे तो नन्हे बालक अनेक प्रकार के शब्द, निरर्थक अथवा सार्थक, बोलते रहते हैं, किन्तु कभी-कभी वे एक ही शब्द को बहुत देर तक दोहराते रह जाते हैं। ऐसी दशा में उस दोहराते रहने की क्रिया को प्रक्षिप्त-वृत्त-क्रिया कहेंगे। बच्चे के मुँह से एक बार 'माँ' निकल जाता है।



चित्र सं० २० – प्रक्षिप्त-वृत्त

उसको अपना ही शब्द सुनाई देता है। सुनी हुई आवाज़ को दोहराने के सापेक्षीकरण के कारण वह फिर उसको दोहराता है और इस प्रकार प्रक्षिप्त-वृत्त की सृष्टि हो जाती है।

इस प्रकार का प्रक्षिप्त व्यवहार छोटे बालकों में बहुत अधिक मिलता है किन्तु प्रौढ़ व्यक्ति भी इससे मुक्त नहीं होते। पान चबाना, सोचते समय कमीज़ के बटन मरोड़ते रहना, बार बार बालों पर हाथ फेरते रहना आदि सभी प्रक्षिप्त-वृत्त-क्रियाएँ हैं।

विचार-क्रिया तथा समानुभूति ऊपर वर्णित क्रियाओं से कुछ भिन्न होती हैं। इनके घटित होने में विचारों का मुख्य हाथ रहता है जब कि

पूर्व वर्णित प्रतिक्रियाओं में वाह्य उत्तेजना का प्राधान्य रहता है। इन सब में समानता केवल इतनी है कि इनके घटित होने में चेतना का उतना हाथ नहीं रहता जितना ऐच्छिक क्रियाओं के होने में रहता है।

विचार-क्रिया

यदि किसी कार्य का विचार-मात्र इतना प्रबल हो जाता है कि विचारने वाला उसको करने के लिये अपने को बाध्य सा अनुभव करने लगता है अथवा कर बैठता है, तो इस प्रकार का व्यवहार विचार-क्रिया कहलाता है। बहुधा बहुत ऊँची जगह से झाँकने से ऐसा मालूम होता है कि हम अभी वहाँ से कूद पड़ेंगे और इस विचार से भयभीत होकर हम झट पीछे को हट जाते हैं। एक सज्जन अपनी माता का दसवाँ करके लौट रहे थे रास्ते में उनका एक बचपन का साथी मिल गया। उनकी चाँद घुटी देखकर वह अपने हाथ को न रोक सका और चट से उसने उनके एक चपत जड़ ही तो दी। बाद में बेचारा उनसे माफी माँगने लगा। विचार-क्रिया का यह एक उत्तम उदाहरण है। घुटी चाँद देखकर चपत लगाने के विचार ने उस मित्र पर ऐसा अधिकार कर लिया कि वह साधारण शिष्टाचार को भी भूल गया। विचार-क्रिया के अनेक उदाहरण नित्य-प्रति के जीवन में देखने को मिलते हैं केवल थोड़ा ध्यान देने की बात है।

समानुभूति

समानुभूति से हमारा तात्पर्य उस प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रारंभिक चेष्टा[१] से होता है जो वाह्य जगत में होने वाली चेष्टाओं से स्वतः[२] उत्पन्न होती हैं। खेल देखते देखते अक्सर कोई व्यक्ति अपने मानसिक जगत में खिलाड़ी की तरह खेलने लगता है और अपने पड़ोसी को धक्का देने लगता है। बाद में यह जान कर लज्जित होता है कि उसने यथार्थ में मैदान में खिलाड़ी को धक्का न देकर अपने पड़ोसी पर आक्रमण कर

१—Incipient movement. २—Automatically.

दिया वह लज्जित होता है। यथार्थ में हम अपनी अचेतन चेष्टाओं को प्रत्यक्ष-पदार्थ[१] में आरोपित कर देते हैं। इस आरोपण[२] व्यापार के कारण ही इस प्रकार का व्यवहार समानुभूति कहलाता है। यह व्यवहार विचार-क्रिया से भिन्न होता है। विचार-क्रिया में विचार तथा इसमें चेष्टा का प्राधान्य रहता है। पहले में वाह्य-गति हो भी सकती है और नहीं भी किंतु दूसरे में गति का होना आवश्यक होता है।

ऐच्छिक क्रियायें

ऐच्छिक क्रियाओं में चेतना का विशेष हाथ रहता है। मान लो तुम इस पुस्तक में कोई संदर्भ पढ़ रहे हो जो तुमको बहुत कठिन मालूम होता है तथा उसमें तुम्हारा जी नहीं लग रहा है। ऐसी दशा में तुम दो बातें कर सकते हो या तो उस पुस्तक को उठा कर रख दो और या अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा प्रयत्न करके उस संदर्भ में जी लगाओ। इस प्रकार प्रत्येक ऐच्छिक क्रिया में इच्छा-शक्ति[३] का विशेष महत्व रहता है।

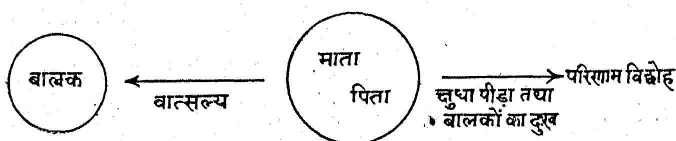
इच्छा-शक्ति

इस इच्छा-शक्ति का स्वरूप समझने के लिए समय समय पर अनेक मनोविज्ञान-वेत्ता प्रयत्न करते रहे हैं। शक्ति-मनोविज्ञान के अनुयायी इसको अनेक मानसिक शक्तियों में से एक महत्वपूर्ण शक्ति मानते थे। किन्तु वर्त्तमान क्रियात्मक-मनोविज्ञान के अनुयायी इसको केवल एक मानसिक व्यापार मानते हैं। उनके दृष्टि-कोण से 'इच्छा-शक्ति' शब्द ही भ्रामक है। इसके स्थान पर यदि 'इच्छा-करना'[४] का प्रयोग किया जाए तो अधिक उपयुक्त हो। 'इच्छा-करना' एक प्रकार का मानसिक व्यापार है जिसमें निश्चित संकल्प की भावना निहित रहती है। किसी का यह कहना कि "मैंने इस कार्य को करने का संकल्प कर लिया है" अथवा "मैं इस कार्य को पूर्ण इच्छा-शक्ति लगाकर करूँगा" केवल यह बताता है कि तुमने किसी कार्य-विशेष के करने का निश्चय कर लिया है। वह

१—Object of Perception. २—Projection. ३—Will. ४—Willing.

यह नहीं बताता कि तुमने इस बात के करने का निश्चय किस प्रकार किया तथा किस प्रकार तुम इस निश्चय को कार्य-रूप में लाओगे।

'इच्छा-शक्ति' के प्रयोग की बात केवल उन अवस्थाओं में की जाती है जिसमें या तो कुछ निर्णयात्मक कठिनाई होती है या अनेक बाधाएँ समुपस्थित होने पर भी किसी काम में लगे रहना होता है। मनुष्येतर प्राणियों में इसका अभाव माना जाता है। यह देखा गया है कि प्रयोग शाला में बार बार बिजली के झटके खाने पर भी चुहिया इधर उधर हुए अपने बच्चों को इकट्ठा करना नहीं छोड़ती। वह अनेक कठिनाइयाँ होने पर भी अपना काम करती रहती है, किन्तु फिर भी उसके पक्ष में हम इच्छा-शक्ति की बात मानने को तैयार नहीं होते; और मनोवैज्ञानिक दृष्टि-कोण से यह बात ठीक भी मालूम होती है। उसमें बच्चों को इकट्ठा करने की प्रेरणा[1] बिजली के झटकों से जान बचाकर भागने की प्रेरणा से कहीं अधिक प्रबल है। उसी से प्रेरित होकर वह भाग जाने का काम न करके बच्चे इकट्ठे करती रहती है। इच्छा-शक्ति जैसी कोई अन्य वस्तु नहीं है। ठीक यहीं बात आदमी पर भी लागू है। वह भी दो या दो से अधिक प्रेरणाओं में द्वन्द्व होने पर केवल सबसे प्रबल प्रेरणा



चित्र सं० २१

वाला कार्य करता है। प्रेरणा की प्रबलता भविष्य में मिलने वाले संतोष की मात्रा से निर्धारित होती है। प्रेरणा जितनी ही प्रबल होती है उतनी ही दृढ़ता पूर्वक तत्सम्बन्धी कार्य करने की इच्छा होती है। भूखे माता-पिता अपने बच्चों तक को बेंच डालते हैं। इस प्रकार बच्चों को बेचने

१—Motive.

का निश्चय करने में उन्हें न बेचने के सम्बन्ध की कितनी प्रेरणाओं को दबाना होता है क्या इसका कभी अनुभव लगाया है ? यथार्थ में क्षुधा पीड़ा से बचने, बालकों की ठठरियों को आँख के आगे देखने के दुःख से युक्त होने, तथा भोजन पाकर सन्तुष्ट होने की प्रेरणा वात्सल्य की प्रेरणा से अधिक प्रबल पड़ जाती है और वे ऐसा काम कर बैठते हैं।

अतः इच्छा-शक्ति कोई मौलिक तथ्य न होकर प्रेरणात्मक द्वन्द्वों के परिणाम का वाह्य-स्वरूप मात्र होती है। दुर्बल इच्छा-शक्ति वाला व्यक्ति कौन होता है ? वही जो अपने में स्थित समान शक्ति-शाली अनेक प्रेरणाओं के बीच द्वन्द्व छिड़ जाने के कारण कोई दृढ़ निश्चय नहीं कर पाता। ऐसा व्यक्ति अपने में किसी प्रेरणा-विशेष की प्रबलता न होने के कारण जल्दी जल्दी अपने निश्चयों को बदलता है तथा निरुद्देश्य सा इधर उधर भटकता फिरता है। दृढ़ इच्छा-शक्ति वाला व्यक्ति वही होता है जिसके अन्दर कोई एक प्रेरणा अन्य प्रेरणाओं की अपेक्षा बहुत प्रबल हो जाती है और उसका समस्त व्यवहार इसी प्रकार की प्रबल प्रेरणाओं से संयत होता है। गांधीजी की दृढ़ इच्छा-शक्ति के मूल में देश की स्वतंत्रता की प्रबल प्रेरणा थी। उनकी इस प्रेरणा के सम्मुख अन्य कोई प्रेरणा ठरहती ही न थी और कठिन से कठिन त्याग पूर्ण निश्चय वे क्षण-मात्र में कर डालते थे। कौन सी प्रेरणा किस समय प्रबल पड़ेगी यह इस बात पर निर्भर होता है कि उस समय प्राणी का मानसिक विन्यास[1] कैसा है।

ऐच्छिक-क्रिया की निश्चयात्मक दशाएँ

ऐच्छिक-क्रिया तीन बातों के मिलने से निश्चित होती है :— (१) मानसिक विन्यास (२) गति का अनुभव तथा (३) यह बोध की तत्कालिक मानसिक विन्यास के अनुसार ही गति हुई है किसी वाह्य-कारण से नहीं। मान लो संध्या हो चुकी है और तुम खाने पीने से निवृत्त हो चुके हो। दूसरे दिन प्रातः काल

१—Set.

तुम्हारा मनोविज्ञान का पर्चा है और तुम्हें उस पर्चे में बैठना भी है। इन सब बातों के कारण तुम्हारा एक विशेष मानसिक विन्यास हो जाता है जिसके परिणाम-स्वरूप तुम पढ़ना चाहते हो। तुमने किताब उठाई और पढ़ना आरम्भ कर दिया। इस क्रिया को करते समय तुम्हें पूर्णतः इस बात का बोध है कि मैं किताब उठाकर पढ़ रहा हूं। इसके साथ तुम्हारी यह क्रिया तत्कालिक मानसिक विन्यास के अनुसार ही हुई किसी वाह्य-कारण से नहीं। ऐसी क्रिया को ऐच्छिक-क्रिया कहते हैं।

नवजात शिशु में केवल भूख जैसी कुछ दैहिक प्रेरणाएँ होती हैं। उसकी अनेक क्रियाएँ केवल प्रक्षिप्त क्रियाएँ होती हैं। धीरे-धीरे आयु के बढ़ने के साथ इन प्रक्षिप्त क्रियाओं पर ऐच्छिक अधिकार होता जाता है। मनोविज्ञान-वेत्ताओं का विचार है कि हमारी अनेक माँस-पेशियों की प्राथमिक गति केवल आकस्मिक होती है तथा फिर धीरे धीरे हम उस पर अधिकार पा लेते हैं। इसके बाद वही आकस्मिक गति ऐच्छिक गति हो जाती है।

बालक में ऐच्छिक क्रियाओं का विकास

आदेश द्वारा ऐच्छिक क्रियाएँ प्रक्षिप्त अथवा सापेक्षित क्रियाओं की अपेक्षा अधिक आसानी से संशोधित की जा सकती हैं। चाट देखकर मुँह में पानी आ जाना एक सापेक्षित क्रिया है। तथा उसको खरीद कर खाना एक, ऐक्षिक क्रिया। अपने मित्र के मना करने पर तुम शायद चाट खाना छोड़ दो किन्तु उसके लाख मना करने पर भी कुछ समय तक तुम्हारे मुँह में पानी आ जाना नहीं रुक सकता।

ऐच्छिक क्रियाओं का संशोधन

ऐच्छिक क्रिया का सीखने से घनिष्ट सम्बन्ध है। मानव में ऐच्छिक क्रियाएँ सबसे अधिक विकसित रूप में पाई जाती हैं। यही कारण है कि वह कठिन से कठिन व्यवहारों के सीखने में समर्थ होता है। अनेक प्रकार की क्रियाओं का ऐच्छिक नियंत्रण करके यह सम्भव होता है कि हम कोई काम करना सीखा

ऐच्छिक क्रियाएँ और सीखना

सकें, किन्तु खूब अभ्यास होने ने के बाद बहुत सी ऐच्छिक क्रियाएँ भी अपने आप होने वाली हो जाती हैं, केवल एक बार उन्हें आरम्भ करना होता है। तैरना सीखने में शुरू में हाथों का चलना, पानी में शरीरको उठाने का प्रयत्न, अच्छे तैराक को देखकर उसका अनुकरण करना आदि अनेक ऐच्छिक क्रियाएँ करनी होती हैं। खूब अभ्यास के बाद एक बार जब तैरना आ जाता है तो वह बहुत कुछ अपने आप होने वाली क्रिया सा हो जाता है।

जन्म-जात तथा अनुभव-प्राप्त क्रियाएँ

अनुभव प्राप्त क्रियाएँ

अनुभव-प्राप्त क्रियाएँ वे क्रियाएँ कहलाती है जिनको प्राणी जन्म के बाद सीखता है। बोलना, चलना, पढ़ना, लिखना आदि अनेक अनुभव प्राप्त क्रियाएँ होती हैं। इनको हम सीखी हुई क्रियाएँ भी कह सकते हैं। मानव में इनका स्वरूप सांस्कृतिक प्रभावों से निर्धारित होता है। पाश्चात्य देशों में बालक काँटे और छुरी से भोजन करना सीखते हैं और हमारे देश में हाथ से।

जन्म-जात क्रियाएँ अथवा मूल प्रवृत्तियाँ

जन्म जात क्रियाएँ उन क्रियाओं को कहते हैं जो बिना सिखाए ही किसी विशेष जाति[1] के प्रत्येक प्राणी में रूढ़-रूप[2] में प्रस्फुटित होती हैं। इस प्रकार की क्रियाएँ प्राणी में स्थित जन्म-जात स्नायविक सम्बन्धों पर निर्भर होती हैं। इन जन्म जात क्रियाओं के मूल में स्थित विभिन्न स्वाभाविक प्रवृत्तियों[3] को मूल-प्रवृत्तियों[4] की संज्ञा दी जाती है। यह प्रवृत्तियाँ अनुभव प्राप्त प्रवृत्तियों से बिल्कुल भिन्न होती हैं। प्राणी उनसे सम्बन्धित व्यवहार बग़ैर सीखे कर सकता है किन्तु अनुभव-प्राप्त प्रवृत्तियों द्वारा की गई क्रियाएँ सीखने के परिणाम स्वरूप ही होती हैं। तैरने की क्रिया जानवरों में जन्म-जात और

१—Species. २—Stereotyped. ३—Propensities. ४—Instincts.

मनुष्य में अनुभव-प्राप्त होती है। गहरे पानी में पहुंचते ही कुत्ते का बच्चा तैरना आरम्भ कर देता है और बालक गोते खाने लगता है।

बहुत निम्न-स्तर पर प्रक्षिप्त क्रिया भी एक प्रकार की मूल-प्रवृत्ति कही जा सकती है। साधारणतः मूल-प्रवृत्ति से सम्बद्ध क्रिया को प्रक्षिप्त क्रिया से भिन्न माना जाता है क्योंकि पहले प्रकार की क्रिया में प्राणी दूसरी प्रकार की क्रिया की अपेक्षा अधिक सक्रिय रूप से भाग लेता है तथा वह प्रक्षिप्त-क्रिया की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल होती है। अब अधिकतर मनोविज्ञान-वेत्ता मूल-प्रवृत्ति का प्रयोग न सीखी गई प्रक्षिप्त-क्रियाओं के अत्यन्त जटिल समूह के अर्थ में करते है। उनका विचार है कि प्रत्येक जन्म-जात क्रिया अनेक सरल प्रक्षिप्त क्रियाओं के मिलने से बनती है केवल अन्तर इतना है कि सरल प्रक्षिप्त क्रियाओं पर प्रयत्न करने से मस्तिष्क का अधिकार होता है जब कि जन्म-जात क्रियाओं से सम्बन्ध रखने वाली प्रक्षिप्त-क्रियाओं पर यह अधिकार भी जन्म-जात होता है।

मूल-प्रवृत्त तथा प्रक्षिप्त-क्रिया

विकास परम्परा में जो जीव जितना ही ऊँचा है उसमें उतनी ही कम मूल प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। चुहियों तथा चिड़ियों के जोड़ा[1] लगाने के तरीके बिल्कुल रूढ़ होते हैं, किन्तु बन्दरों में यह बात नहीं होती। मानव तक पहुँचते पहुँचते रही सही रूढ़ता भी लुप्त हो जाती है। चुहिया बच्चे देने के बाद उनके प्रति एक विशेष रूढ़-व्यवहार करती है, वैसा व्यवहार माता अपने शिशु के प्रति नहीं करती। बहुत सी चिड़ियाँ अपनी जाति के अनुसार अपना घोंसला बनाती हैं, मनुष्य तरह तरह से अपने घर बनाता है। इस प्रकार मानव तक पहुंचते पहुँचते अनेक व्यवहार जो मानवेतर प्राणियों में मूल-प्रवृत्तियों के रूप में पाए जाते हैं लुप्त हो जाते हैं।

मूल-प्रवृत्तियों का विकास

१—Mating.

मनुष्येतर प्राणियों में मूल-प्रवृत्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं किंतु मानव में इनका क्या स्वरूप है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। मानवीय मूल-प्रवृत्तियों की संख्या तथा स्वरूप के विषय में बहुत मत भेद रहा है[1]। मैं जिसको मूल-प्रवृत्ति के कारण होने वाला व्यवहार कहता हूँ, दूसरा उसको सीखी हुई क्रिया कहने लगता है। अब से कुछ समय पूर्व तक न मेरे पास इस सम्बन्ध में कोई प्रयोगात्मक प्रमाण था और न उसके पास। मूल-प्रवृत्ति की कोई दृढ़-परिभाषा न होने के कारण इस तरह का मत-भेद बिल्कुल स्वाभाविक था। अनेक मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने अपने ढंग से इसकी परिभाषा दी। एक बात वे सब मानते थे कि मूल-प्रवृत्तियाँ जन्म-जात तथा बिना सीखी हुई होती हैं। इसके आगे उसके विचारों में बहुत अन्तर हो जाता था। कुछ के अनुसार मूल-प्रवृत्तियाँ कोई भी जटिल अथवा सरल बिना सीखी हुई क्रिया होती है। उनके अनुसार आँख का तारा सुकड़ने की सरल प्रतिक्रिया तथा चलने की जटिल प्रतिक्रिया दोनों मूल-प्रवृत्तियाँ हैं। दूसरों का कहना था कि प्रत्येक व्यवहार जो व्यापक रूप से किसी जाति के प्रत्येक प्राणी में पाया जाता है मूल-प्रवृत्ति कहलाता हैं क्योंकि (ऐसी उनकी धारणा थी) प्रत्येक व्यापक व्यवहार अवश्यमेव बिना सीखा हुआ होता है। इस परिभाषा के अनुसार किसी भी प्रवृत्ति को मूल प्रवृत्ति कहने के पहिले यह आवश्यक हो जाता है कि हम किसी जाति विशेष के विभिन्न परिस्थितियों में पलने वाले अधिक से अधिक जीवों का अध्ययन करें और मालूम करें कि वाह्य अन्तरों के रहते हुए भी कौन से ऐसे व्यवहार हैं जो मौलिक रूप में समान हैं। इस प्रकार की प्रयोगात्मक खोज की अनुपस्थिति में थोड़े से प्राणियों के व्यवहार में कोई समानता पाकर किसी व्यवहार विशेष को मूल-प्रवृत्ति से सम्बद्ध कह देने से बड़ी भारी वैज्ञानिक भूल होने की आशंका है। इसी भूल के कारण कुछ मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने मानव में सैकड़ों मूल-प्रवृत्तियों की कल्पना कर डाली।

मानवीय मूल-प्रवृत्तियाँ

मूल-प्रवृत्ति के समर्थकों ने उत्साह में भरकर मानव को पूर्णतः मूल-प्रवृत्तियों का शिकार समझा। उनका कहना था कि 'बच्चा क्यों लड़ता है ? लड़ने की मूल-प्रवृत्ति के कारण' 'माता बालक को क्यों प्यार करती है ? वात्सल्य की मूल-प्रवृत्ति के कारण'! इस प्रकार जो व्यवहार भी व्यापक मालूम हुआ उसके पीछे एक मूल-प्रवृत्ति की कल्पना कर ली गई। इस प्रकार यूथ-चारिता,[1] संग्रह-शीलता,[2] युयुत्सा,[3] महत्व-प्रदर्शन[4] आदि अनेक सामाजिक मूल-प्रवृत्तियां तथा काम[5] छींकना, हँसना आदि अनेक दैहिक मूल-प्रवृत्तियों की कल्पना की गई। यथार्थ में हमारा अधिकतर व्यवहार अनुभव प्राप्त होता है किन्तु वह इतना व्यापक होता है कि उसके जन्म जात तथा मौलिक होने का भ्रम होता है। अनेक प्राचीन समाजों तथा आदि वासियों के व्यवहार अध्ययन का करने से पता लगा है कि उपर्लिखित सामाजिक मूल-प्रवृत्तियों में से कोई भी व्यापक तथा जन्म-जात नहीं होती है। यह प्रवृत्तियाँ प्रमुखतः अनुभव प्राप्त होती हैं। इस बात के समर्थन के लिए प्रत्येक के सम्बन्ध में एक प्रमाण नीचे दिया जाता है :—

एक बार एक शिकारी को दो बालक जीवित दशा में एक भेड़िए के भिट्टे में मिले। वे शहर में लाए गए। वहाँ पर यह बच्चे हरेक आदमी को देखकर डरते थे। उनमें यूथ-चारिता का कोई लक्षण न मालूम होता था। अतः हम कह सकते हैं कि मनुष्य में यूथ-चारिता जैसी कोई मूल-प्रवृत्ति नहीं होती। जानवरों में इस प्रवृत्ति का प्रमाण मिलता है। मुर्गों के बच्चों को चूहों के साथ पालने पर भी जब उनको स्वतंत्र किया जाता है तो वे तुरन्त ही अपने दल में मिल जाते हैं।

यूथ चारिता

मध्य-आस्ट्रेलिया के एक कबीले में संग्रहशीलता का नितान्त अभाव पाया जाता है। वहाँ पर सारा भोजन तथा पानी कबीले की सम्पत्ति

१—Gregariousness. २—Acquistiveness. ३—Pugnacity. ४—Self-Asser tion. ५—Sex.

होता है, किसी व्यक्ति विशेष की नहीं। उनके यहाँ पानी और भोजन दोनों की बहुत कमी रहती है। कबीले के व्यक्ति इधर उधर पानी तथा भोजन की तलाश में जाते हैं और जिसको जो कुछ मिल जाता है वह लाकर सब में बाँट लेता है। अपने लिए कोई कुछ नहीं रखता। वहाँ संग्रह-शीलता जैसी मूल-प्रवृत्ति कहीं देखने में नहीं आती।

संग्रह-शीलता

न्यूगिनी के अरापेश[1] नाम के कबीले में महत्व-प्रदर्शन नहीं पाया जाता। उस कबीले के मुखिया को बहुत काम करना पड़ता है, इसलिए कोई भी मुखिया नहीं बनना चाहता है। उनके समाज में विनम्रता, त्याग, सहकारिता के आदर्श प्रचलित हैं। यदि कोई किसी से कुछ ले लेता है तो देने वाला उसका कोई हिसाब नहीं रखता है। हर एक इसलिए शिकार खेलता है कि दूसरे भी उनको खा सकें। ऐसे कबीले में महत्व-प्रदर्शन को कहाँ स्थान मिल सकता है।

महत्व-प्रदर्शन

न्यूगिनी के अरापेशों में यह प्रवृत्ति भी नहीं पाई जाती। उपर्लिखित वर्णन को पढ़ने से यह बात सरलता पूर्वक समझ में आ जाएगी कि जहां न तो संग्रह शीलता का कोई महत्व है और न महत्व-प्रदर्शन का कोई प्रयत्न करता है, वहां युयुत्सा को कहां स्थान मिल सकता है।

युयुत्सा

रही दैहिक मूल-प्रवृत्तियों की बात सो उनके सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त होगा कि मनुष्य में काम-व्यवहार का कोई रुढ़-स्वरूप नहीं मिलता तथा हमारा समस्त कामात्मक व्यवहार एक ओर तो सीखने के परिणाम-स्वरूप और दूसरी ओर दैहिक संतोष-लाभ के लिए होता है। छींकना और हँसना आदि क्रियाएँ भी केवल उस सीमातक मूल-प्रवृत्ति के कारण हैं

दैहिक मूल-प्रवृत्तियाँ

१—Arapesh.

जिस सीमा तक हमें हमारी मूल-प्रवृत्ति की परिभाषा ले जाती है। व्यापक होने के नाते उनको मूल-प्रवृत्ति की संज्ञा देना केवल भ्रामक ही नहीं वरन् वैज्ञानिक तथ्यों की अवहेलना करना है।

प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में कुछ अन्य आवश्यक बातें

अब तक हमने मनोवैज्ञानिक क्रियाओं के श्रोत स्वरूप पर विचार किया है। अब हम प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में कुछ अन्य आवश्यक बातों पर विचार करेंगे।

प्रतिक्रिया-समय[1]

इससे हमारा तात्पर्य उस समय से है जो उत्तेजना और प्रतिक्रिया के बीच व्यतीत होता है। प्रत्येक व्यक्ति का प्रतिक्रिया-समय अलग होता है। कोई उत्तेजना मिलने पर शीघ्र ही प्रतिक्रिया करता है और कोई कुछ देर में। प्रतिक्रिया-समय में व्यक्तिगत अन्तर[2] का अध्ययन करने के लिये मनोविज्ञान-प्रयोग शालाओं में अनेक बड़े सूक्ष्म-यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है।

सरल प्रतिक्रिया[3]

सरल प्रतिक्रिया के प्रयोग में विषय को उत्तेजना मिलते ही एक चाभी दबाने का आदेश रहता है। इसमें देखा गया है कि प्रतिक्रिया-समय में न केवल व्यक्तिगत-अन्तर ही होते हैं वरन् एक ही व्यक्ति विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों के अलग-अलग उत्तेजित किए जाने पर प्रतिक्रिया करने में अलग अलग समय लेता है। साधारणतः पीड़ात्मक संवेदनाओं का प्रतिक्रिया-समय सबसे अधिक तथा स्पर्शात्मक संवेदनाओं का सबसे कम होता है।

बहुधा ध्यान बटने से प्रतिक्रिया-समय बढ़ जाता है। किन्तु कभी-कभी ध्यान बटाने वाली उत्तेजना से एकाग्रता घटने की जगह बढ़ जाती

१—Reaction Time. २—Individual differences. ३—Simple Reaction.

है और प्रतिक्रिया-समय घट जाता है। उत्तेजना की तीव्रता बढ़ने से भी प्रतिक्रिया-समय घट जाता है।

संवेनात्मक तथा क्रियात्मक प्रतिक्रियाएँ[१]

बहुधा दौड़ में सबके लिए एक ही संकेत मिलने पर भी प्रतिद्वन्द्वियों में से कोई सबसे पहले दौड़ना आरम्भ कर देता है और कोई सबसे बाद में कर पाता है। यह इस बात पर निर्भर होता है कि उस समय किसका मानसिक विन्यास किस प्रकार का है। उनमें से कुछ ऐसे होंगे जिनका ध्यान विशेषतः उत्तेजना को सुनने की ओर लगा होगा और कुछ ऐसे जिनका ध्यान मुख्यतः प्रतिक्रिया की ओर होगा। पहले प्रकार के व्यक्तियों की प्रतिकिया संवेदनात्मक तथा दूसरे प्रकार के व्यक्तियों की क्रियात्मक कहलाएगी। मानसिक विन्यास में इस प्रकार के अन्तर के परिणाम-स्वरूप प्रतिक्रिया-समय में अन्तर पड़ जाता है। संवेदनात्मक प्रतिक्रिया का समय अधिक तथा क्रियात्मक का अपेक्षाकृत कम होता है। प्रतिद्वन्दियों के उस समूह में पहले भागना आरम्भ कर देने वाले व्यक्ति की प्रतिक्रिया पूर्णतः क्रियात्मक थी तथा सबसे बाद में भागने वाले की पूर्णतः संवेदनात्मक।

शाब्दिक प्रतिक्रिया[२]

जीवन में शाब्दिक प्रतिक्रिया सबसे अधिक सामान्य प्रतिक्रिया समझी जाती है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया का स्वरूप तथा समय जानने के लिए अनेक प्रयोग किये जाते हैं। सामान्यतः या तो उत्तेजना शब्द बोल दिया जाता है या किसी चीज पर छपा हुआ दिखा दिया जाता हैं। प्रतिक्रिया समय दर्ज करने के लिए स्टाप-वाच[३] अथवा क्रोनोस्कोप[४] का प्रयोग किया जाता है। इसके द्वारा साहचर्य्य-समय[५] का बोध होता है।

इस प्रकार के साहचर्य्यात्मक प्रयोग में उत्तेजना शब्द सुनते ही विषय को मस्तिष्क में आने वाले पहले विचार अथवा शब्द को कहना होता

१—Sensory and Motor reactions. २—Verbal reaction. ३—Stop Watch. ४—Chronoscope. ५—Association Time.

है। शब्द बोलते ही प्रयोगक अपनी घड़ी को चला देता है और विषय के मुँह से शब्द निकलते ही उसको रोक देता है।

स्वतन्त्र साहचर्य्य[1]

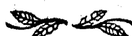
इस समय को साहचर्य्य-समय कहते हैं। इसी प्रकार जब तक प्रयोग चलता है प्रत्येक शब्द का साहचर्य्य-समय लिखा जाता है।

दूसरी ओर मनःविश्लेषण में बिना किसी प्रकार का शब्द दिए ही विषय को अपने मन में आते रहने वाले विचारों को लगातार कहते रहने का आदेश दिया जाता है। इस दशा में मन में आने वाला एक विचार दूसरे विचार के लिए उत्तेजना बन जाता है और इस प्रकार स्वतन्त्र-साहचर्य्य चलता रहता है। इसको यदि पूर्णतः स्वतन्त्र साहचर्य्य कहा जाए तो अधिक उपयुक्त हो।

इस प्रकार के साहचर्य्यात्मक प्रयोग में विषय को पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं रहती। उसको उत्तेजना शब्द से सम्बन्धित कोई अन्य शब्द कहना होता है।

आबद्ध साहचर्य्य[2]

इस प्रकार के अनेक साहचर्य्यात्मक प्रयोग नित्यप्रति प्रयोगशालाओं में किए जाते हैं और उनके आधार पर विषय के व्यक्तित्व का पता लगाया जाता है।



१—Free Association. २—Constrained Association.

अध्याय–७

अवधान-क्रिया Attention.

जागृत अवस्था में व्यक्ति पर असंख्य वाह्य अथवा आन्तरिक शक्तियों का प्रहार होता रहता है। किन्तु व्यक्ति लिए यह संभव नहीं कि वह इन सभी शक्तियों की ओर आकृष्ट होकर प्रतिक्रिया करे। उसकी प्रतिक्रिया करने की क्षमता सीमित होती है। किसी क्षण विशेष में वह एक वस्तु को चुन कर उसके प्रति प्रतिक्रिया करता है। व्यक्ति की उत्तेजना को चुनकर उसकी ओर आकृष्ट होने की इस क्रिया को हम अवधान की क्रिया[1] कहते हैं। जब तक यह क्रिया नहीं होती तब तक किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान[2] होना संभव नहीं होता। इसीलिए कुछ लोग अवधान की क्रिया को प्रत्यक्ष ज्ञान के पूर्व की क्रिया भी कहते हैं। यह क्रिया हमारे तत्कालीन शक्ति संतुलन पर निर्भर होती है जिसके द्वारा हम किसी वस्तु को चुनकर आकृष्ट होने को प्रेरित होते हैं। वास्तव में शक्तिसंतुलन तो प्रत्येक क्षण बदलता रहता है। किन्तु वह शक्ति संतुलन जो अपेक्षा कृत स्थाई होता है तथा हमारे सभी प्रकार के व्यवहार पर प्रभाव डालता रहता है, मानसिक-विन्यास[3] कहलाता है। विन्यास से अवधान की क्रिया, और अवधान की क्रिया से प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव होता है। तुम इस समय पुस्तक पढ़ रहे हो। कमरे में घड़ी टिक टिक कर रही है। तुम्हें उसका प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है क्योंकि तुम्हारा विन्यास

१—Attending. २—Perception. ३—Set.

पुस्तक के लिये है घड़ी के लिए नहीं। किन्तु मेरे घड़ी का नाम लेने से तुम्हारा विन्यास नवीन प्रकार से व्यवस्थित हो गया। तुम्हें अब घड़ी की टिक टिक सुनाई दे रही है और इसी लिये तुम्हें अब घड़ी का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है।

साधारण बोलचाल में हम 'ध्यान' शब्द का प्रचुरता से प्रयोग करते हैं। 'हम लिखने की ओर ध्यान दे रहे हैं—तुम पुस्तक पढ़ने की ओर ध्यान देते हो—तुम्हारा साथी अपनी तन्दुरुस्ती की ओर ध्यान देता है'—इत्यादि वाक्यों का हम प्रति दिन प्रयोग करते हैं। यद्यपि इन वाक्यों को गलत नहीं कहा जा सकता और न ध्यान शब्द के प्रयोग पर नियन्त्रण किया जा सकता है पर इसके प्रयोग से यह भ्रम उत्पन्न होता है कि कदाचित् ध्यान चेतन मन की कोई एक शक्ति है जिसको इच्छानुसार उपयोग करने में व्यक्ति स्वतंत्र है। प्राचीन दार्शनिकों का विचार था कि हम किस ओर ध्यान दें और किस ओर नहीं यह हमारी इच्छा पर निर्भर करता है। दो विरोधी समस्याओं के उपस्थित होने पर एक समस्या को अधिक देर तक ध्यान के केन्द्र में रख कर व्यक्ति उसके पक्ष में निर्णय देने में समर्थ होता है। उनके अनुसार यदि ऐसा न होता तो व्यक्ति के लिये धार्मिक और नैतिक जीवन संभव न होता। वे समझते थे कि मनुष्य संसार के अन्य जीवों से इसलिए श्रेष्ठ है कि वह ध्यान के द्वारा अपनी दूषित प्रवृत्तियों के विरोध में निर्णय देकर अपने जीवन को उच्च बनाता है तथा यदि ऐसा न होता तो मनुष्य भी अन्य जीवों की भाँति परिस्थितियों का शिकार होता हुआ अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता।

तुम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हो कि इच्छा नाम की कोई शक्ति नहीं होती। यह केवल हमारे स्वाभाविक और अर्जित रुचियों की समष्टि है। इसी प्रकार ध्यान भी चेतन मन की कोई शक्ति नहीं। अनेक प्रयोगों के आधार पर हम अवधान को व्यक्ति की केवल एक केन्द्रीभूत और निर्देशित क्रिया मानते हैं, जिसके प्रभाव से किसी उत्तेजना के

प्रति उसके आकृष्ट होने से प्रतिक्रिया होती है। उसका शारीरिक और मानसिक विन्यास इस प्रकार का होता है कि वह किसी उत्तेजना विशेष के प्रति ध्यान देता है या ध्यान देने को बाध्य हो जाता है। वह इस काम में सर्वदा स्वतंत्र नहीं रहता। इस केन्द्रीभूत और निर्देशित क्रिया के परिणाम स्वरूप कुछ उत्तेजनायें सुगमता से प्रवेश पा जाती हैं तथा उस क्षण में हमारे संपूर्ण प्रतिक्रिया यंत्र पर अपना अधिकार जमा लेती हैं। दूसरे क्षण दूसरी उत्तेजनायें हमारे शारीरिक तथा मानसिक विन्यास में परिवर्तन होने के कारण अधिकार जमाती हैं। इस प्रकार हमारी अवधान की क्रिया एक उत्तेजना से हट कर दूसरी उत्तेजना के प्रति होती रहती है। यदि हम किसी मेले की भीड़ में किसी परिचित व्यक्ति को ढूँढ निकालने के लिये हों तो हम उसे ढूँढ निकालते हैं क्योंकि उस क्षण हमारा मानसिक तथा शारीरिक विन्यास इस प्रकार व्यवस्थित होता है कि उस परिचित व्यक्ति रूपी उत्तेजना का शीघ्र प्रवेश हो जाता है और हम मेले की अन्य आकर्षक वस्तुओं की ओर ध्यान नहीं दे पाते। अब जब कि मित्र से भेंट हो गई तो हमारा विन्यास नवीन प्रकार का हो गया। हम दोनों मित्र मेले की सभी वस्तुओं की ओर आकृष्ट होते हुये उनका आनन्द लेते हैं तथा उनके विषय में अपने विचार प्रकट करते हैं।

ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट हो गया कि ध्यान केवल एक क्रिया है और इसी लिये हम ध्यान शब्द का प्रयोग न कर इसे अवधान की क्रिया कहते हैं और यह हमारे तात्कालीन शारीरिक और मानसिक विन्यास पर अवलम्बित होता है। इससे यह न समझना चाहिये कि शारीरिक या मानसिक विन्यास के कारण अवधान की क्रिया सर्वदा संभव होती है। कभी कभी तो इनका हमारे अवधान की क्रिया पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता और कभी कभी इनके कारण हमारी प्रतिक्रिया में बाधा उपस्थित हो जाती है। उदाहरण के लिये तुम पुस्तक पढ़ने बैठे हो। तुम्हारा शारीरिक विन्यास पूर्ण रूप से पढ़ने की उत्तेजना प्राप्त करने के लिये व्यवस्थित है। तुम्हारे नेत्र लिखे हुये शब्दों को देखते जा

रहे हैं तथा तुम्हारे मुख से शब्दों का उच्चारण होता जा रहा है। पर अंत में तुमको ज्ञात होता है कि तुमने कुछ पढ़ा ही नहीं। शारीरिक विन्यास के होते हुए भी तुम्हारी अवधान की क्रिया पढ़ने की ओर नहीं हुई। इसी प्रकार तुम क्रिकेट के मैदान में आती हुई गेंद को 'आफ' में हिट करने को उद्यत हो। यदि यह विन्यास दृढ़ व्यवस्थित हुई और गेंद 'लेग' की आई तो कदाचित तुम उसे हिट न कर पाओगे। फिर भी व्यक्ति के विन्यास का प्रभाव उसकी अवधान की क्रिया पर पड़ता है जिसका अब हम विस्तार पूर्वक अध्ययन करेंगे।

अवधान की क्रिया में व्यक्ति की दशा

(१) *ग्राहकों की व्यवस्था* :— अवधान की क्रिया में हमारा सम्पूर्ण शरीर रत होता है। दृश्यात्मक उत्तेजना होने पर उत्तेजक पदार्थ की ओर आँखें घूम जाती है तथा दृष्टि केन्द्रित हो जाती है। माथा उत्तेजना की ओर झुक जाता है। शाब्दिक उत्तेजना को सुनने के लिये हम कर्णेन्द्रिय को उत्तेजना की ओर झुका देते या उसके समीप ले जाते हैं। कर्णेन्द्रिय के भीतर के स्नायु उत्तेजित हो जाते हैं। कभी कभी हमारे नेत्र उस कर्णेन्द्रिय की ओर आ जाते हैं जिधर से उत्तेजना को ग्रहण करने का प्रयत्न किया जा रहा है यद्यपि नेत्र की इस गति से शब्द के सुनने में कोई सहायता नहीं प्राप्त होती। हाथों से उत्तेजक पदार्थ को छूने की भी चेष्टा होती है। कभी कभी तो ग्राहकों की यह व्यवस्था इस प्रकार हो जाती है कि उसका हमें पता भी नहीं चलता या उन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं रहता, जैसे हमारे नेत्रों का घूम जाना। इस प्रकार हम देखते हैं कि अवधान की क्रिया में केवल एक अंग नहीं व्यवस्तित होता वरन् प्रायः सभी ग्राहक व्यवस्थित हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप उत्तेजना सुगमता से प्रवेश पा जाती है।

(२) *मांसपेशियों की व्यवस्था* :— प्रत्येक अवधान की क्रिया के साथ हमारी मांसपेशियों में विशिष्ट गति होती है। मांसपेशियों की इस गति

के कारण अवधान की क्रिया सुगम हो जाती महत्वपूर्ण प्रश्न या कठिनाई से देखी या सुनी जाने वाली उत्तेजनाओं की ओर अवधान की क्रिया में हमारी मांस-पेशियों का तनाव एक विचित्र तथा नियमित ढंग पर हो जाता है किन्तु परिश्रम विहीन कार्यों में मांस पेशियों का तनाव बहुत कम होता है। उदाहरण के लिये निरर्थक शब्दों को स्मरण करने की क्रिया में फ्रीमैन[1] को ज्ञात हुआ कि मांस-पेशियों में तनाव तथा स्मरण करने की क्रिया में त्रुटियों के बीच सीधा अनुपात होता है। बालक के लिखना सीखने की क्रिया में यही बात दृष्टिगोचर होती है। प्रारंभ में बालक की मांस-पेशियों में अनावश्यक तनाव होता है जैसे उसके हाथ या जिह्वा में ऐठन होती है और उस समय उसके लिखने में त्रुटियाँ भी अधिक होती हैं किन्तु जैसे जैसे बालक की दक्षता बढ़ती जाती है वैसे वैसे उसकी मांस-पेशियों के तनाव में कमी होती जाती है तथा उसकी लिखावट सुगम, सरल और शुद्ध होती जाती है और उसकी लिखने में अधिक परिश्रम भी नहीं करना पड़ता है।

मांस-पेशियों के इस तनाव को हम दूसरे शब्दों में शारीरिक विन्यास या प्रतिक्रिया करने का प्रस्तुतकारी[2] और सहायक विन्यास[3] भी कहते हैं। यह तनाव इसलिये होता है कि मांसपेशियों में ऐसी गति उत्पन्न हो जाय जिससे उत्तेजना के प्रवेश करते ही हमारी प्रतिक्रिया आरंभ हो जाय। प्रतिक्रिया के आरंभ होते ही इस तनाव में कमी आ जाती है। यदि ऐसा न हुआ तो या हमारी प्रतिक्रिया बिलकुल धीमी होगी या बिलकुल न होगी या विरोधी तनाव द्वारा दबा दी जायगी और या यदि प्रतिक्रिया होगी भी तो चौंक पड़ने जैसी होगी जिसमें क्षणभर के लिये पूरे शरीर पर से हमारा नियन्त्रण हट जाता है।

मांसपेशियों के तनाव से उत्पन्न हमारा शारीरिक विन्यास कभी कभी ऐसा हो जाता है जिसका हमें कोई अनुभव ही नहीं होता। कभी

१—Freeman. २—Preparatoy set. ३—Supporting set.

तुम अपने साथी के पढ़ते समय उसका ध्यान भंग करने करने का प्रयत्न करो। आशा के विपरीत तुम देखते हो कि उसकी पढ़ाई में कमी होने की अपेक्षा उसकी तन्मयता अधिक बढ़ती जा रही है। इसका कारण यह है कि उसकी मांस पेशियों में तनाव की गति अधिक हो गई हैं जो तुम्हारी ध्यान-भंग की क्रिया हो दबा देने के लिये काफ़ी है किंतु व्यक्ति को इसका पता नहीं है।

(३) *अवधान सम्बन्धी आन्तरिक क्रियायें* :—यह तो प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि अवधान की क्रिया में हमारा केन्द्रीय-नाड़ी-तंत्र भी क्रियाशील होता है। परन्तु अभी निर्विवाद रूप से यह नहीं सिद्ध हो पाया है कि केवल केन्द्रीय-नाड़ी-तंत्र की ऐसी गति के कारण ही अवधान की क्रिया होती है जो 'ग्राहकों' और मांस पेशियों की व्यवस्था से स्वतंत्र होती है। कुछ प्रयोगों से यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आ जायगी। सम्मोहन[१] की अवस्था में किसी व्यक्ति से यदि कहा जाय कि उसे सुई चुभोई जा रही है (यद्यपि सुई चुभोई नहीं गई थी) तो वह कराहने लगेगा। इसी प्रकार यदि वास्तव में उसे सुई चुभाई जाय और कहा जाय कि सुई नहीं चुभोई जा रही है तो इस अवस्था में उसे सुई का चुभोना न प्रतीत होगा। इससे यह प्रकट होता है कि केन्द्रीय-नाड़ीतंत्र का भी प्रभाव अवधान को क्रिया पर होता है। पर इन उदाहरणों से यह स्पष्ट नहीं होता कि यह प्रभाव ग्राहकों और मांसपेशियों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त होती है।

इस केन्द्रीय-नाड़ीतंत्र की किया को हम मानसिक विन्यास भी कहते हैं। व्यक्ति के मानसिक विन्यास से उसका व्यवहार निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए एक कार्य से दूसरे कार्य में लगने पर प्रारम्भ में कुछ कठिनाई होती है तथा कार्य कम होता है। इसका कारण यह है कि जब नया कार्य आरंभ होता है तो पहले कार्य से उत्पन्न तनाव बना रहता है।

१—Hypnosis.

वह धीरे-धीरे मिटता है। नये कार्य में गति नहीं आती। कभी कभी तो पहला तनाव इतना प्रबल होता है कि नये कार्य को बिलकुल ही दबा लेता है। जब बिना कारण ही कोई पुरानी घटना हमें बार बार याद आने लगती है तो हम यह कह सकते हैं कि यह विरोधी उत्तेजना पहले के मानसिक विन्यास के तनाव के कारण उत्पन्न हो रही है।

मानसिक विन्यास के कारण अवधान की क्रिया में सहायता या बाधा का अनुभव हमें प्रतिदिन होता रहता है। जब हम कहीं जाने के लिये तैयार होते हैं तो हमें कभी कभी ऐसा लगता है कि कोई वस्तु भूल रही है। घर से बाहर निकलते ही हमें स्मरण होता है कि हम आफिस की कुंजी या मनीबेग भूल गये हैं। इससे यह प्रकट होता है कि मानसिक विन्यास के कारण उत्पन्न तनाव का शमन जब तक पूर्ण रूप से नहीं होता तब तक हम अपने कार्य में हिचकिचाते रहते हैं। प्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता कर्ट लेविन[१] तथा उसके साथियों ने अधूरे कार्यों के बारे में कुछ प्रयोग किये हैं जिनसे प्रकट होता है कि जिस कार्य को बीच ही में या अधूरा छोड़ दिया जाता है उसकी याद बार बार आती है। ऐसा भी देखा गया है कि कार्य को अधूरा छुड़वा देने पर और प्रयोग-कर्त्ता के बाहर चले जाने पर, विषय को इस बात की प्रबल इच्छा होती है कि प्रयोग कर्त्ता के लौटने के पहले ही वह अधूरा कार्य को पूरा कर ले।

विन्यास का हमारे निर्णय पर प्रभाव :—किसी भी प्रकार के विन्यास का हमारे विचार तथा निर्णय पर प्रभाव पड़ता है। जब हम किसी वस्तु को भारी बताते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य यह होता है कि उस क्षण हमारी माँस पेशियों की व्यवस्था उस उत्तेजना के भार लिये काफ़ी नहीं थी। इस लिये वह पदार्थ हमें भारी लगा। वस्तु के आकार से उसका वज़न आँकने में भ्रम हो जाता है इसलिये माँस पेशियाँ पूर्ण रूप से व्यवस्थित नहीं हो पातीं। यदि लोहे का बाट जो देखने में एक मन के

१—Kurt Lewin

बाट की भाँति हो पर अन्दर से खोखला हो, हमारे सामने रखा जाय तो हमको एक मन का भ्रम होगा। उसे उठाने के लिये हमारी माँस-पेशियाँ उसी प्रकार व्यवस्थित होगीं। किन्तु जब हम उसे उठायेंगे तो वह हमको हलका लगेगा क्योंकि उत्तेजक पदार्थ के वज़न से हमारी मांस-पेशियों की व्यवस्था अधिक थी। यदि किसी व्यक्ति की आँखों पर पट्टी बांधी हो और उसे लोहे के इस बाट को छूने का भी अवसर न दिया जाय तो उसे इस प्रकार का भ्रम नहीं होगा।

विन्यास का हमारी कार्य-दक्षता पर प्रभाव :— इस प्रकार के विन्यास से हमारी कार्य-दक्षता बढ़ भी सकती है और नष्ट भी हो सकती है। प्रतिदिन के जीवन में इसके प्रचुर उदाहरण उपलब्ध होते हैं। जब हम किसी विषय पर लिखने के लिये बैठते हैं तो उस समय हमें ज्ञात नहीं होता कि हमें क्या लिखना है। किन्तु ज्यों ही कार्य आरंभ होता है त्यों ही विचारों की धारा प्रवाहित होने लगती है। कार्य स्वयं ही आवश्यक बातों की ओर ध्यान आकृष्ट कर देता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर अवधान की विशेषताओं का संक्षेप में वर्णन निम्न प्रकार है :— (१) अवधान की क्रिया में संपूर्ण प्राणी भाग लेता है, केवल मस्तिष्क या मन नहीं (२) अवधान एक चुनने की क्रिया है। प्राणी केवल बाहर से ही नहीं कार्य करता किन्तु उसके अन्दर भी ऐसी क्रियाएँ होती रहती हैं जो उसको एक उत्तेजना के प्रति आकृष्ट होने देती हैं तथा दूसरी उत्तेजना के प्रति उदासीन कर देती हैं (३) अवधान की क्रिया क्षणिक होती है। यह एक उत्तेजना से दूसरी उत्तेजना की ओर भागती रहती हैं। प्रयोगों द्वारा यह देखा गया है कि ८ या १० सेकेंड से अधिक हम किसी वस्तु पर ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकते। तुम यह प्रश्न करोगे कि हम तो मनोविज्ञान की पुस्तक पढ़ रहे हैं। हमारा ध्यान पुस्तक पर केन्द्रित है। ठीक है, पर तुम्हारा ध्यान पुस्तक की लाइनों और शब्दों पर भागता जा रहा है और इस प्रकार पुस्तक पढ़ने में प्रत्येक क्षण तुम्हारा ध्यान बदलता

जा रहा है। यद्वि तुम एक शब्द पर अपनी क्रिया केन्द्रित करो तो निश्चय ही तुम अधिक देर तक ऐसा नहीं कर सकते। ध्यान के भागने से यह न समझना चाहिए यह सर्वदा विश्रृंखल तथा अनियमित होता हैं। यह भागना भी नियमित होता है जिसके कारण श्रृंखलाबेद्ध प्रति-क्रिया संभव होती है। (४) अवधान का क्षेत्र बहुत ही सीमित होता है। इस क्षेत्र के परे जो उत्तेजनायें होती हैं उनकी संवेदना इतनी फीकी और कमजोर होती है कि उनकी ओर हम अवधान की क्रिया केन्द्रित नहीं कर पाते या जिस वस्तु की ओर हम ध्यान देते हैं उसकी संवेदना इतनी तीव्र होती है कि दूसरी उत्तेजना का प्रवेश नहीं हो पाता। हम यदि अपने मेले वाले उदाहरण की परीक्षा करें तो हम देखेंगे कि हमारी अवधान की क्रिया पूर्णरूप से अपने मित्र को ढूँढ लेने पर केन्द्रित है। भीड़ का आना जाना, दुकानदारी का क्रय-विक्रय इत्यादि उत्तेजनायें अवधान के केन्द्र के परे होने के कारण प्रभाव पूर्ण संवेदना नहीं उत्पन्न कर पाती। (५) अवधान की क्रिया होते ही उत्तेजना का प्रत्यक्ष साफ़-साफ़ और तीव्र होने लगता है। (६) अवधान की क्रिया का स्वरूप हमारे शारीरिक तथा मानसिक विन्यास से व्यवस्थित होता है।

अवधान और रुचि

अवधान और रुचि के सम्बन्ध का विश्लेषण करने से पहले हमें यह जान लेना आवश्यक है कि रुचि से हमारा क्या तात्पर्य है। रुचि से हम केवल यह नहीं समझते कि हमें अमुक वस्तु पसन्द है या अच्छी लगती है। रुचि से तात्पर्य व्यक्ति की उस स्थायी मानसिक व्यवस्था के निर्माण से है जिसके द्वारा वह किसी वस्तु से अपना सम्बन्ध समझता है या उसे महत्वपूर्ण समझता है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त व्यक्ति को नयें नये अनुभव होते रहते हैं। अनुभव द्वारा उसे ज्ञात होता है कि कौन सी वस्तु उसके लिये महत्व की है। उससे उसका सम्बन्ध होता है तथा उस वस्तु के प्रति उसकी रुचि होती है। यह अवश्य है कि यह

रुचि कभी हमारे जानते हुए हमें प्रभावित करती है और कभी अज्ञात रूप से, कभी हमें यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि अमुक वस्तु हमारे लिये महत्व की है और कभी बिलकुल नहीं। ड्रिवर[1] के अनुसार रुचि मनुष्य की प्रवृत्तियों का गत्यात्मक रूप है। इसके स्थायी निर्माण से यह निर्धारित होता है कि व्यक्ति में किस वस्तु की ओर ध्यान देने की प्रवृत्ति अधिक होगी। इस प्रकार हमारी रुचि जितनी ही स्थायी और शक्तिशाली होगी हमारी अवधान की क्रिया उतनी ही स्थायी और तीव्र होगी। मैक्डूगल[2] के अनुसार रुचि में हमारी अवधान की क्रिया निहित है। इसी प्रकार अवधान की क्रिया केवल रुचि का क्रियात्मक रूप है। वास्तव में रुचि तो स्थायी रूप से निर्मित भाव है जो अवधान की क्रिया में प्रस्फुटित होता है। रुचि से अवधान की क्रिया को बल प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में हमारी अवधान की क्रिया केवल उन्हीं उत्तेजनाओं के प्रति होती है जिसमें हमारी रुचि होती है। यदि किसी व्यक्ति में देश प्रेम के स्थायी भाव का निर्माण हो चुका है तो देश के दुःख-सुख से सम्बन्ध रखने वाली सभी वस्तुओं और परिस्थितियों की ओर उसका ध्यान आकृष्ट होगा। पिता के साथ बाजार गये हुये बालक का ध्यान खिलौनों की ओर। घर से बाहर होने वाले शोर-गुल की ओर माता तनिक भी ध्यान नहीं देती पर दूर के कमरे में बच्चा यदि धीरे से भी रो उठे तो उसका ध्यान तुरन्त आकृष्ट हो जाता है। जिस विषय में विद्यार्थियों को रुचि होती है उस विषय के अध्ययन में वे अधिक ध्यान देते हैं। यदि आरम्भ में कोई विषय उनकी रुचि की न हो पर अनुभव से उन्हें यह ज्ञात होता है कि यह विषय उनके लिए महत्व का है तो वे समस्त कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर उस विषय का सफलतापूर्वक अध्ययन करते हैं। रुचि के न रहने पर अवधान की क्रिया का केन्द्रित होना असम्भव हो जाता है।

१—Drever. २—Mcdougall.

• अवधान की क्रिया के प्रकार

अवधान की क्रिया को हम मूलतः दो भागों में विभक्त कर सकते हैं (१) निष्प्रयत्नात्मक क्रिया[१] और (२) प्रयत्नात्मक[२] क्रिया। इन दोनों के सम्मिश्रण से उत्पन्न एक और प्रकार की क्रिया की कल्पना कर सकते हैं जैसे आदत से उत्पन्न अवधान की क्रिया। किन्तु जैसा आगे के वर्णन से स्पष्ट होगा यह उपरोक्त दोनों प्रकारों से भिन्न नहीं है केवल सुगमता के विचार से कुछ लोग इसे विलग मानते हैं।

(१) *निष्प्रयत्नामक अवधान* :— जब किसी प्रकार के प्रयत्न के अभाव में कोई उत्तेजना या परिस्थिति हमारे ध्यान को आकृष्ट करके यदि क्षण भर के लिये भी हमारे प्रतिक्रिया यंत्र पर अपना अधिकार जमा लेती है तो इस प्रकार की उत्तेजना से उत्पन्न अवधान को हम निष्प्रयत्नामक अवधान कहते हैं। इस क्रिया में हमें किसी भी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता। बिजली की कड़क, पुल पर घड़घड़ाती हुई रेलगाड़ी, जोर का धमाका, एकाएक किसी का चिल्ला उठना, इत्यादि उत्तेजनायें ऐसी हैं जिनको ग्रहण करने के लिये यद्यपि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उद्यत नहीं होती फिर भी उनकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हो जाता है।

निष्प्रयत्नात्मक अवधान की क्रिया को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं (१) स्वतः[३] निष्प्रयत्नात्मक (२) बाध्य[४] निष्प्रयत्नात्मक।

स्वतः निष्प्रयत्नात्मक :— अवधान हमारी स्वाभाविक या अर्जित रुचि या आदतों पर निर्भर होता है। संगीत में रुचि होने के कारण तुम्हारा ध्यान गानों की ओर आकृष्ट हो जाता है। खेल में रुचि होने वालों का ध्यान अखबार में सबसे पहले खेल के समाचारों की ओर जाता है। सिनेमा में रुचि रखने वालों की दृष्टि सिनेमा के विज्ञापनों पर पड़ती है। मिठाइयों में रुचि रखने वाले बालक का ध्यान दुकान की मिठाइयों पर जाती है पर उसके पिता का ध्यान घरेलू वस्तुओं की ओर जाता है। इस प्रकार के अवधान की क्रिया में हमें प्रयत्न नहीं करना

१—Non-volitional. २—Volitional. ३—Spontaneous. ४—Enforced.

पड़ता। प्रायः हमें अपनी रुचियों का पता भी नहीं चलता। यह रुचियां तत्काल ही उत्पन्न नहीं होती वरन् धीरे-धीरे हमारी आदत बन चुकी होती हैं।

बाध्य निष्प्रयत्नात्मक :— जैसा ऊपर कहा जा चुका है कुछ उत्तेजनायें ऐसी होती हैं जिनकी ओर बाध्य होकर हम आकृष्ट हो जाते हैं जैसे बिजली की चमक। कक्षा में पढ़ते समय सड़क पर लाउड स्पीकर की आवाज हमारे अवधान की क्रियायें प्रायः केवल थोड़ी देर तक रहती हैं। उत्तेजना के दूर होने पर हम पुनः अपने कार्य में लग जाते हैं। किंतु जब कोई विचार बार बार बिना प्रयत्न किये हुये आता है तो उस समय हमारी दशा दयनीय हो जाती है। हम पुस्तक पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहते हैं पर बार बार हमें वह घटना याद आ जाती है जिसमें हमने अपने मित्र से लड़ाई कर ली थी। फलतः बार बार पुस्तक पर से हमारा ध्यान हट जाता है।

(२) *प्रयत्नात्मक अवधान* :— इस प्रकार के अवधान की किया में हमें प्रयत्न करना पड़ता है। इसके कई कारण हो सकते हैं। जिस उत्तेजना पर हमें ध्यान देना है या तो वह इतनी रुचिकर या तीव्र नहीं है कि हमारे प्रतिक्रिया यंत्र पर स्वतः अधिकार जमा ले या हमारा शारीरिक और मानसिक विन्यास इस प्रकार का नहीं है जिससे उत्तेजना सुगमता से प्रवेश पा सके। प्रयत्नात्मक अवधान की क्रिया को भी हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं (१) इच्छित प्रयत्नात्मक (२) अनिच्छित प्रयत्नात्मक।

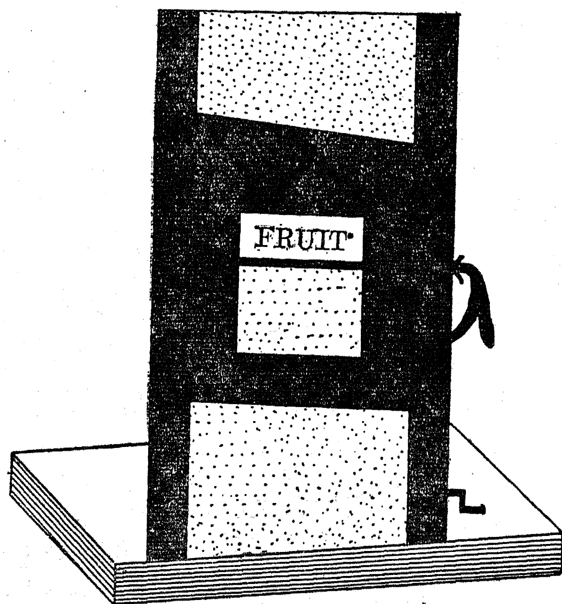
इच्छित प्रयत्नात्मक :— इस प्रकार की अवधान की क्रिया में यद्यपि हमें प्रयत्न करना पड़ता है पर वह हमारी इच्छा या रुचियों के अनुकूल होता है। हम प्रयत्न करके अपनी अवधान की क्रिया समाचार पत्र के उन विज्ञापनों पर केन्द्रित करते हैं जिनमें नौकरी या व्यापार की सूचना रहती है क्योंकि हमें नौकरी या व्यापार की इच्छा है। रुचि के न रहते हुए भी कभी कभी हमें अवधान की किया प्रयत्न करके करनी पड़ती है

क्योंकि उससे हमारा लाभ है। तुम किसी विषय में रुचि न रहने पर भी उस विषय के अध्यापक का लेक्चर ध्यान से सुनते हो क्योंकि उस विषय में तुम्हें अच्छे नम्बर प्राप्त करने हैं।

अनिच्छित प्रयत्नात्मक :— इस प्रकार की अवधान की क्रिया में न तो हमारी रुचि होती है न इच्छा होती है हमें परिस्थितियों के वश प्रयत्न करके अपने ध्यान को केन्द्रित करना पड़ता है। इस प्रकार का अवसर हमारे जीवन में कम आता है पर जब आता है तो बड़ा दुःखदायी होता है।

अवधान का विस्तार

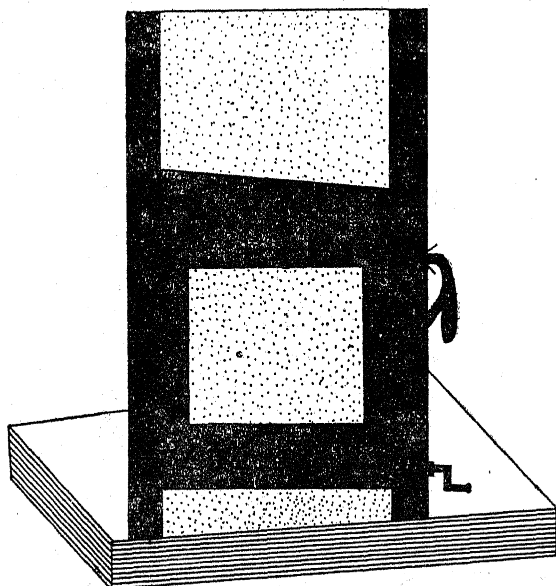
प्रायः एक क्षण में हम केवल एक ही उत्तेजना की ओर अवधान



चित्र सं० २२—टैचिस्टास्कोप

की क्रिया कर सकते हैं क्योंकि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ किसी एक क्षण में

एक ही उत्तेजना को ग्रहण करने के लिये व्यवस्थित होती हैं। यदि टैचिस्टास्कोप[1] नामक यंत्र से इतने थोड़े समय के लिये जिसमें हमारे शारीरिक या मानसिक विन्यास को बदलने का अवसर न प्राप्त हो (एक सेकेंड के $\frac{१}{१०}$ हिस्से) हम कुछ अक्षरों या बिन्दुओं को दिखलायें तो हमें ज्ञात होगा कि व्यक्ति ४ से ८ तक अक्षरों या बिन्दुओं को देख सकता है। उस व्यक्ति के अवधान का यही विस्तार हुआ। यदि पृथक्-पृथक



चित्र सं० २३

बिन्दुओं के स्थान पर चार-चार बिन्दुओं के चार चौकोर को हम इस यन्त्र पर दिखलायें तो व्यक्ति इस प्रकार १६ बिन्दुओं को देख पायेगा। हमारी अवधान की क्रिया उत्तेजना की एक-रूपता पर भी निर्भर

१—Tachistoscope.

होती है। इसका विस्तार पूर्वक वर्णन तुम प्रत्यक्ष ज्ञान वाले अध्याय में पढ़ोगे।

प्रायः यह देखा गया है कि एक व्यक्ति एक साथ कई कार्य करता है। वह टेली फोन पर बात चीत भी करता है और अपने सेक्रेटरी को कुछ बोलता जाता है और साथ ही साथ अपना कार्य क्रम भी निश्चित करता जाता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो वह व्यक्ति एक साथ कई क्रियाएँ करता है, पर वास्तव में वह एक क्षण में एक ही कार्य करता है। बात यह हैं कि अभ्यास के कारण वह इन कार्यों को एक के बाद एक इतनी शीघ्रता और सुगमता से करता है कि ऐसा प्रतीत होता है वह सब कार्य एक साथ कर रहा है। फिर भी हम यह देखते हैं एक टाइपिस्ट अपने सामने रखे हुये लेख को पढ़ता जाता है तथा अपनी उँगलियों से टाइप करता जाता है।इन दोनों कार्यों में वह इतना दक्ष हो गया है कि वह दोनों को बिना बाधा के कर सकता है। टाइपिस्ट को यह ज्ञात नहीं रहता कि वह क्या पढ़ रहा है। किन्तु यदि कोई ऐसा शब्द आ जाय जिसे वह नहीं जानता तो तुरन्त ही उसकी इस उपरोक्त दशा में बाधा उपस्थित हो जाती है क्योंकि उसका मानसिक विन्यास इस नवीन शब्द के लिए व्यवस्थित नहीं हुआ था। प्रयोग द्वारा देखा गया है कि ऐसी क्रियाओं को जिनमें व्यक्ति दक्ष होता है एक साथ करने से कुल समय कम लगता है अपेक्षाकृत उन क्रियायों के अलग अलग करने के। किन्तु यदि उनमें से एक भी क्रिया ऐसी होती है जिस में व्यक्ति दक्ष न हो तो क्रियाओ को एक साथ करने में कुल समय अधिक लगता है और अलग अलग करने में कम।

अवधान की क्रिया के निर्धारक[1]

ऊपर के वर्णनों से तुम्हें ज्ञात हो चुका है कि अवधान की क्रिया होने के कई कारण हैं जिनमें से रुचि प्रमुख तथा आधार भूत कारण

१—Determinants.

है। हम किसी वस्तु की ओर इसी लिये ध्यान देते हैं कि उसमें हमारी रुचि है। किन्तु हम यह भी देख चुके हैं रुचि केवल अवधान का क्रियात्मक रूप है। इस लिये हमें यह जानना आवश्यक हो जाता है कि रुचि किन किन कारणों से उत्पन्न होती है। यही कारण अवधान के निर्धारक हो जाते हैं।

सुगमता के विचार से पिल्सबरी[1] ने अवधान के सभी प्रकार के निर्धारकों को दो भागों में विभक्त कर दिया है (१) वस्तुगत[2] तथा (२) व्यक्ति गत[3]। वस्तुगत से हमारा तात्पर्य उत्तेजना की उन विशेषताओं से है जो हमारी अवधान की क्रिया को आकृष्ट कर लेती हैं। व्यक्तिगत से हमारा तात्पर्य व्यक्ति की उस दशा से है जो उसके विन्यास को नियमित करती है और जिसके फल-स्वरूप वह अवधान की क्रिया करता है।

(क) *वस्तुगत निर्धारक*

(१) *उत्तेजना की तीव्रता*[4]—यदि कोई उत्तेजना प्रबल या तीव्र हुई तो वह अपनी तीव्रता के कारण ही अन्य उत्तेजनाओं को दबा कर हमारे प्रतिक्रिया-यंत्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेगी। हमारा पहले का शक्ति संतुलन भ्रष्ट हो जाता है और हम नवीन प्रकार से विन्यास करने को बाध्य हो जाते हैं। रात्रि की निस्तब्धता में अध्ययन करते हुये विद्यार्थी का ध्यान शोर करती हुई रेलगाड़ी की ओर स्वतः आकृष्ट हो जाता है। कड़कती हुई बिजली, जोर का धमाका, तेज़ रोशनी, शोरगुल इत्यादि उत्तेजनायें अपनी ओर ध्यान आकृष्ट कर लेती हैं। भोजन में तीव्र मिर्च का स्वाद शीघ्र ज्ञात हो जाता है। तेज़ लेवेण्डर या इत्र लगा कर चलने वाले व्यक्ति की ओर हमारी आँखें उठ जाती है। अवधान की इस विशेषता से व्यापारी विज्ञापनों में लाभ उठाते हैं। वे बड़े बड़े विज्ञापन लगवाते या प्रकाशित कराते हैं जिनसे लोगों का ध्यान उनकी

१—Pillsbury. २—Objective determinants. ३—Subjective Determinants. ४—Intensity.

ओर आकृष्ट हो जाय। सिनेमा के विज्ञापनों के साथ बैण्ड बाजे का प्रबन्ध इसी लिये किया जाता है कि अपनी तीव्रता के कारण लोग उसकी ओर आकर्षित हों।

(२) *परिवर्तन*[१]—उत्तेजना-क्षेत्र में किसी प्रकार का परिवर्तन होने के कारण हमारा ध्यान उस ओर आकृष्ट हो जाता है। ध्यान की विशेषता का अध्ययन करते समय हम देख चुके हैं कि एक उत्तेजना पर अधिक देर तक अवधान की क्रिया केन्द्रित नहीं रखी जा सकती। इस लिये उत्तेजना में परिवर्तन होते रहने से हमारा ध्यान भंग नहीं होता। तुम यह कहोगे कि यदि हम इस प्रकार परिवर्तन करते रहें तो हम कोई पुस्तक नहीं पढ़ सकते। ऐसा नहीं है। पुस्तक में शब्द, लाइन पैराग्राफ़ और पृष्ठों के इतने परिवर्तन वर्तमान रहते हैं कि यदि अन्य दशायें अनुकूल रहीं तो हमारा ध्यान भंग नहीं होता। विज्ञापनों में इस विशेषता का पूरा लाभ उठा कर समय समय पर परिवर्तन किया जाता है जिससे लोगों का ध्यान आकृष्ट हो सके।

परिवर्तन के कारण जहाँ अवधान की क्रिया सम्भव होती है वहाँ उसके नष्ट हो जाने की भी आशंका रहती है। यदि परिवर्तन अति शीघ्र होता रहे तो उत्तेजना की तीव्रता का गुण प्रायः नष्ट हो जाता है। यदि उत्तेजना का परिवर्तन नियमित ढंग पर होता रहे तो भी उसकी तीव्रता का हमारे ऊपर प्रभाव नहीं पड़ता। हमारा विन्यास, परिवर्तन की इस नियम-बद्धता का अभ्यस्त हो जाता है जिसके फलस्वरूप हमारा ध्यान उस ओर आकृष्ट नहीं होता। यदि हम पानी में हाथ रख कर उसे धीरे धीरे गरम करें तो एक सीमा तक गर्मी की तीव्रता हमारा ध्यान नहीं आकृष्ट कर सकती क्योंकि पढ़ती हुई गर्मी में हमें भेद नहीं प्रतीत होता। बिजली के बल्बों से विज्ञापन करने में यदि बल्बों में परिवर्तन एक नियम से होता रहे तो थोड़ी देर ही में हम उसके अभ्यस्त हो जाते हैं फलतः

१—Change.

हमारा ध्यान उस ओर आकृष्ट नहीं होता। जाड़ा धीरे धीरे समाप्त होता है इस लिये हमें ज्ञात नहीं होता कि कबजाड़ा समाप्त हुआ और गर्मी आ गई। किन्तु यदि किसी दिन एकाएक गर्मी पड़ जाय तो हमारा ध्यान उस ओर अवश्य चला जायगा। हमारा विन्यास इस नवीन उत्तेजना के लिये उद्यत नहीं था। परिवर्तन के दूसरे पहलू पर भी हम विचार कर सकते हैं। अध्ययन में तल्लीन विद्यार्थी को बिजली के पंखे की घड़घड़ाहट का ध्यान नहीं आता क्योंकि उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ इस उत्तेजना की अभ्यस्त हो गई हैं। किन्तु एकाएक पंखे के बन्द हो जाने पर फौरन ही विद्यार्थी का ध्यान उस ओर चला जायगा। यदि किसी मीटिंग में तुम जाओ और वहाँ के सभी लोगों को चुपचाप बैठे हुये देखो, कोई कार्यवाही न होती हो और सभी खामोश हों तो इस खामोशी की ओर तुम्हारा ध्यान अवश्य चला जायेगा। इन उदाहरणों में परिवर्तन का प्रभाव उत्तेजना की तीव्रता के बिल्कुल विरोध में होता है। इसलिये अवधान की क्रिया में परिवर्तन ही नहीं बल्कि परिवर्तन की रीति का भी पूर्ण महत्व होता है।

अवधान की परिवर्तनशीलता के सम्बन्ध में डी० इ० बर्लाइन[१] ने नवीनतम प्रयोगों के आधार पर निम्नलिखित सिद्धांत स्थिर किए हैं।

(क) यदि किसी उत्तेजना में हाल ही में परिवर्तन हुआ हो तो उस ओर अवधान की क्रिया होने की सम्भावना अधिक है बनिस्बत उस उत्तेजना के जिसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है और जिसके प्रति हमारी प्रतिक्रिया अब तक होती आई है।

(ख) परिवर्तन का प्रभाव समयानुसार कम होता जाता है।

(ग) जब कई उत्तेजनाओं में एक साथ परिवर्तन होता है और केवल एक में कई परिवर्तन नहीं होता तो ऐसी दशा में इस परिवर्तन का कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता।

१—D. E. Berlyne--British Journal of Educational Psychology-General Section August 1951.

(घ) यदि परिवर्तित उत्तेजना में परिवर्तन होता ही रहे तो हमारी अवधान की क्रिया पर उसका प्रभाव प्रबल और स्थायी होता है।

(३) *उत्तेजना की नवीनता*[१] :— यदि उत्तेजक पदार्थ नवीन हुआ तो हम शीघ्र ही उसकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं। बालक नये खिलौने की ओर शीघ्र आकृष्ट होता है चाहे उसके पुराने खिलौने से नये खिलौने खराब ही क्यों न हों। नयी पुस्तकें हमें अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। रास्ते में नई मोटरों और नये मकानों की ओर हमारी दृष्टि स्वयं ही उठ जाती है।

विचित्रता[२] :— वस्तु की विचित्रता के कारण भी हमारा ध्यान उस ओर चला जाता है। दाँत का मंजन बेचने वाला अपनी विचित्र शक्ल के कारण ही हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता है।

दुष्प्राप्यता[३] :— किसी वस्तु के दुष्प्राप्य होने से भी हम उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। प्राचीन सिक्कों और स्टाम्पों की ओर हम इसी लिये आकर्षित होते हैं कि वे अप्राप्य हैं। इन सभी विशेषताओं के मूल में परिवर्तन की विशेषता का प्रभाव होता है।

(४) *उत्तेजना में गति*[४] :— परिवर्तन से ही सम्बन्धित उत्तेजना में गति के गुण से अवधान की क्रिया संभव होती है। गति से उत्तेजना में परिवर्तन होता है और परिवर्तन से अवधान की क्रिया होती है। सड़क पर दौड़ते हुये व्यक्ति की ओर हम आकर्षित होते हैं। घूमते हुये हिंडोले की ओर बालकों का ध्यान स्वतः चला जाता है। स्थिर चित्रों की अपेक्षा चल चित्रों का प्रभाव अधिक होता है। व्यापारी विज्ञापनों में इसीलिये चल-चित्रों का भी प्रयोग करने लगे हैं।

(५) *उत्तेजना में वैषम्य*[५] :— वैषम्य से अवधान की क्रिया में शीघ्रता होती है। किसी लंबे व्यक्ति के नाटे व्यक्ति के होने पर हमारा ध्यान उसकी ओर शीघ्र आकृष्ट हो जाता है।

१—Novelty. २—Strangeness. ३—Rareness. ४—Movement. ५—Contrast.

(६) *उत्तेजना की व्यापकता[१] तथा सत्ताकाल* :— उत्तेजना के व्यापक होने तथा देर तक रहने के कारण अवधान की क्रिया संभव होती है। किसी वस्तु के व्यापक होने पर किसी न किसी समय हमारी अवधान की क्रिया उधर हो जायगी। इसी प्रकार किसी उत्तेजना के देर तक रहने पर हम पहले भले ही उधर आकृष्ट न हों पर बहुत समय तक उससे उदासीन नहीं रह सकते। संगीत के प्रारम्भ होने पर पहले भले ही हमारा ध्यान उधर न जाय परन्तु देर तक होने के कारण उधर आकृष्ट होना ही पड़ता है। कतु इन दोनों गुणों का प्रभाव सीमित होता है। परिवर्तन के सम्बन्ध में हम जान चुके हैं यदि उत्तेजना में परिवर्तन न हुआ तो वह कितनी ही व्यापक और देर तक रहने वाली क्यों न हो उसकी ओर हमारी अवधान की क्रिया न हो सकेगी। धूप का चश्मा लगा लेने पर हमें सर्वत्र हरा ही हरा दिखाई देने लगता है। पर थोड़ी ही देर में हम उसके अभ्यस्त हो जाते हैं और इस हरेपन की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता है। जब चश्मा उतर जाता है तक फिर उस ओर हमारी अवधान की क्रिया होती है।

(७) *उत्तेजना की पुनरावृत्ति[२]* :— यदि कोई उत्तेजना बार बार दोहराई जाय तो हम उसकी ओर जाँयगे। प्रचारकों को इस विशेषता का भली भाँति बोध होता है और पहले असफल होने पर भी अपनी बात दोहराते चले जाते हैं और कभी न कभी लोगों का ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं। प्रोपेगैन्डा शिरोमणि डाक्टर गोबेल्स, जो हिटलर का दाहिना हाथ था, कहा करता था कि यदि किसी झूठ को १०० बार दोहराया जाय तो वह सच हो जाता है। उसके कथन में केवल इतना ही सत्य है कि किसी बात को बार बार दोहराने पर लोगों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट होता है और लोग उससे प्रभावित होने लगते हैं।

(८) *उत्तेजना का निर्दिष्ट आकार[३] को होना* :— उत्तेजना के निर्दिष्ट आकार की होने से हमारी अवधान की क्रिया संभव होती है।

१—Extensity. २—Repetition. ३—Concrete shape.

अनिर्दिष्ट तथा धुँधले उत्तेजक पदार्थों का प्रभाव कम पड़ता है। उदाहरण के लिये किसी चित्र में यदि कोई आकार निर्दिष्ट प्रकार का हुआ तो हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है। दृष्ट-भूमि की वस्तुयें हमारा ध्यान नहीं आकर्षित कर पातीं।

(ख) *व्यक्ति गत निर्धारक*[1]

अवधान की क्रिया के व्यक्तिगत कारण केवल इस क्रिया के क्षण में व्यक्ति की दशा व्यक्त करते हैं। इसमें से कुछ तो स्थायी और निरंतर रूप से क्रियाशील रहते हैं तथा कुछ केवल उसी क्षण अपना प्रभाव डालते हैं। किन्तु कभी कभी हमारी अवधान की क्रिया पिछली उत्तेजना के प्रभाव से भी संभव होती है जो केवल उसी क्षण अपना प्रभाव डाल सकी थी।

(१) *रुचि* :— अवधान की क्रिया के व्यक्तिगत कारणों में से रुचि प्रधान है तथा प्रायः स्थायी और निरन्तर रूप से प्रभाव डालती रहती है। यदि हम अपने साथियों के साथ किसी नवीन स्थान पर जायें तो हममें से प्रत्येक व्यक्ति की अवधान की क्रिया अपनी अपनी रुचि के अनुसार होगी। इतिहास से रुचि रखने वाला व्यक्ति उस स्थान के ऐतिहासिक महत्व वाली वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होगा। हमारा कवि या चित्रकार साथी उस स्थान के प्राकृतिक सौंदर्य का निरीक्षण करेगा। हमारा व्यापारी साथी उस स्थान की व्यापारिक महत्ता की छान बीन करेगा। इस प्रकार हममें से प्रत्येक व्यक्ति की अवधान क्रिया अपनी अपनी रुचि से निर्धारित होगी।

(२) *आवश्यकता* :— रुचि से ही संबन्धित हमारी आवश्यकता भी है। हम अपनी आवश्यकताओं से प्रेरित हो कर किसी उत्तेजना के प्रति ध्यान देने को बाध्य हो जाते हैं। भूख से प्रेरित व्यक्ति का ध्यान किसी होटल की ओर जाना स्वभाविक है। यदि हमारी इच्छा सिनेमा

१—Subjective determinant.

देखने की है तो रास्ते के सिनेमा के विज्ञापनों की ओर ध्यान जाना सम्भव है।

(३) *संवेग* :— संवेगों के कारण भी हमारी अवधान की क्रिया निर्देशित होती है। प्रसन्न-चित्त व्यक्ति का ध्यान केवल ऐसी वस्तुओं और परिस्थितियों की ओर आकृष्ट होता है जिससे वह प्रसन्न हो पर दुःखी व्यक्ति को समस्त संसार दुःखमय दिखाई देगा। जिस व्यक्ति के प्रति हमारी श्रद्धा है उसके गुणों की ही ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है तथा जिससे हमको घृणा होती है उसकी सभी क्रियायें हमें घृणास्पद लगती हैं।

(४) *व्यक्ति का शारीरिक निर्माण इत्यादि* :— अवधान की क्रिया का यह कारण स्थाई रूप से अवधान की क्रिया पर प्रभाव डालता रहता है। स्वस्थ व्यक्ति का ध्यान किसी रोग के विज्ञापन पर नहीं जाता पर रोगी का ध्यान बाध्य हो कर ऐसे विज्ञापनों पर जाता है। इस बात का लाभ उठा कर झूठे झूठे विज्ञापन प्रकाशित होते रहते हैं जो रोगियों को लाभ पहुँचाने की अपेक्षा हानि पहुँचाते हैं।

(५) *आदत* :— आदत का प्रभाव अवधान की क्रिया पर स्थायी रूप से होता है। यदि प्रातःकाल उठकर हमारी पढ़ने की आदत है तो उठते ही हमारा ध्यान पुस्तकों की ओर जायगा। किसी कार्य की आदत हो जाने के कारण उस पर सुगमता से ध्यान केन्द्रित हो जाता है अन्यथा भटकता रहता है।

(६) *शिक्षा* :— शिक्षा का भी वही प्रभाव होता है जो आदतों का। यदि हम वनस्पति शास्त्र के ज्ञाता हैं तो पौदों की ओर हमारा ध्यान स्वतः ही आकृष्ट हो जायगा। यदि हम किसी ऐतिहासिक भवन को या कलात्मक चित्र को देखें या उच्चकोटि के संगीत को सुनें और यदि इन वस्तुओं की हमें शिक्षा नहीं है तो कदाचित् हमारा ध्यान उनकी विशेषताओं की ओर नहीं जायगा। हाँ यदि हमारे साथ कोई विशेषज्ञ हो जो हमें इन विशेषताओं का ज्ञान कराता जाय तो हमारा ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हो जायगा।

शिक्षा से हमारी रुचि परिमार्जित हो जाती है तथा हमारे विचारों में निर्णय करने की शक्ति आ जाती है। साथ ही साथ शिक्षा से अवधान की क्रिया विशेष प्रकार से निर्देशित होती है तथा उस पर प्रभाव पड़ता है। हिमालय पहाड़ के झरनों का दृश्य देखने वाली पिकनिक पार्टी में कवि प्रकृति सौंदर्य देख कर मुग्ध होगा, चित्रकार उसे रंगों में बाधने की सोचने लगेगा, किन्तु देश की प्राकृतिक शक्तियो को उपयोग करने वाले विभाग का व्यक्ति इस झरने से बिजली पैदा कर देश की उत्पादन शक्ति बढ़ाने की समस्या की ओर ध्यान देगा। हमारी आदतें और शिक्षा स्वयं उत्तेजना के चुनने का कार्य करती है तथा हम उन्हीं उत्तेजनाओं की ओर आकृष्ट होते है जो हमारी आदतों और शिक्षा-दीक्षा से मेल खाती है। हम संसार की नवीन बातों पर ध्यान देने की चेष्टा करते हैं पर वास्तव में हम अपने ही विचारों को संसार की वस्तुओं में ढूँढ कर उसकी पुष्टि करते हैं। यदि वाह्य संसार की वस्तुयें हमारे विचारों को संशोधित नहीं कर पाती तो हमारे विचार और दृढ़ और व्यापक हो जाते हैं।

अवधान की क्रिया पर समाज का प्रभाव :— हम ऊपर देख आये हैं कि अवधान कि क्रिया पर शिक्षा का कितना अधिक प्रभाव पड़ता है। यह शिक्षा हमें केवल स्कूलों और पुस्तकों से नहीं प्राप्त होती वरन् कुटुम्ब, पड़ोस, गिरोह, शिक्षा तथा व्यवसायिक संस्थायें, जाति और राष्ट्र से निरन्तर प्राप्त होती रहती हैं। सामाजिक संस्थायें व्यक्ति को अपने साँचे में ढालती रहती हैं यदि इन संस्थाओं में शान्ति और प्रगति हो तो निश्चय ही अधिक व्यक्तियों में शान्ति और प्रगति की भावना होगी। संघर्षमय समाजों का प्रतिफल व्यक्तियों के जीवन में संघर्ष उत्पन्न करना होता है। इन संस्थाओं के द्वारा हमें जीवनयापन करने का साधन उसके रीति रिवाज, विचार और व्यवहार प्राप्त होते हैं इन्हीं के प्रभाव से हमारे नैतिक स्तर, धार्मिक जीवन और कलात्मक रुचि का जन्म होता है। इन रुचियों के कारण हमारी अवधान की क्रिया निर्धारित तथा

निर्देशित होती है। इस लिए अवधान की क्रिया पर सामाजिक संस्थाओं का भी व्यापक प्रभाव पड़ता है।

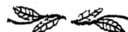
अवधान का भंग होना[1] :— जब व्यक्ति किसी वस्तु की ओर ध्यान देने की चेष्टा करता है किन्तु बार बार उसका ध्यान किसी दूसरी वस्तु की ओर चला जाता है तो इस क्रिया को हम अवधान का भंग होना कहते हैं। यह कुछ बहुत अस्वभाविक नहीं है क्योंकि अवधान की विशेषता का अध्ययन करने में हम को ज्ञात हुआ था कि अवधान की क्रिया अत्यंत चंचल हैं तथा एक उत्तेजना से दूसरी ऊत्तेजना की ओर जाती रहती है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति का ध्यान भंग हो गया था अमुक व्यक्ति ध्यान नहीं दे रहा है तो इससे यही तात्पर्त होता है कि वह व्यक्ति किसी विशेष वस्तु की ओर ध्यान न देकर किसी दूसरी वस्तु की ओर ध्यान दे रहा है क्योंकि जागृत अवस्था में उसकी ज्ञानेन्द्रियों के निरन्तर कार्य शील रहने के कारण प्रत्येक क्षण अवधान की क्रिया होती रहती है।

अवधान के विखरने की क्रिया के कई कारण हो सकते हैं। किसी ऐसी सूक्ष्म वस्तु पर जो कठिनाई से दिखाई देती है, जब हमें अपनी दृष्टि केन्द्रित करनी पड़ती है तो हमारा ध्यान बार बार विखर जाता है। इसका कारण यह हो सकता है कि हमारे ग्राहकों की उचित व्यवस्था नहीं हुई थी या हमारा मानसिक विन्यास ऐसा नहीं था जिससे हम यह उत्तेजना प्राप्त कर सकते। जैसा कि हम ऊपर पढ़ चुके हैं अवधान की क्रिया के लिए वस्तु में रुचि का होना आबश्यक है। यदि रुचि या आवश्कता न हुई तो अवधान का विखर जाना असंभव नहीं। अवधान के वस्तुगत निर्धारकों के सम्बन्ध में तुम पढ़ चुके हो कि उत्तेजना की तीव्र नवीन तथा व्यापंक, होना तथा परिवर्तित होते रहना इत्यादि ऐसे गुण हैं जिनसे अवधान की क्रिया संभव होती है। इसके अभाव में

१—Distraction.

अवधान की क्रिया स्थिर नही हो सकती। सबसे स्पष्ट अवधान की क्रिया वहीं होती है जिसमें हमारा शारीरिक और मानसिक विन्यास पूर्णतः उसके पक्ष में रहता हैं तथा उत्तेजना में भी प्रचुर मात्रा में विशेषतायें वर्तमान रहती हैं।

अवधान के विखरने की क्रिया सर्वधा प्रभाव पूर्ण नहीं होती व्यक्ति प्रयत्न करके कुछ क्रियायों पर नियंत्रण पा सकता है, जैसे हल्ला गुल्ला, धीमी रोशनी, या संगीत आदि से विखरते हुये ध्यान को केन्द्रित किया जा सकता है। तुम ऊपर पढ़ चुके हो कि ध्यान के विखरने की दशा में कभी कभी अधिक कार्य होता है क्योंकि ऐसी दशा में हमारी मांसपेशियाँ अधिक व्यव-स्थित हो जाती हैं और उपरोक्त दशा के वर्तमान होते हुये भी हम अधिक कार्य करने में सफल होते है। हाँ इस क्रिया में हमारी शक्ति का अधिक व्यय होता है।



अध्याय–८

प्रत्यक्ष-क्रिया

तुम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हो कि प्रत्येक क्षण प्राणी पर अनन्त शक्तियों का आघात होता रहता है। उनमें से केवल कुछ किसी क्षण-विशेष में उत्तेजना बन कर उनको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। इस आकृष्ट होने की क्रिया को हमने अवधान की क्रिया कह कर पुकारा है। इस क्रिया के मूल में अनेक संवेदनाएँ रहती हैं। अपने संचित अनुभव के आधार पर जिस क्रिया के द्वारा प्राणी इन संवेदनाओं का अर्थ ग्रहण करता है उसको प्रत्यक्ष-क्रिया कहते हैं। मान लो तुम बैठे पढ़ रहे हो और एकाएक बड़े जोर का धमाका होता है और तुम फौरन समझ जाते हो किसी ने पटाका छोड़ा है। क्या तुम बता सकते हो कि इस छोटी सी घटना में कितने प्रकार की मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हुई तथा परस्पर उनमें क्या सम्बन्ध है। इससे सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक घटनाओं में सबसे पहली घटना तुम्हारे वाह्य जगत् में पटाका छूटना है। दूसरी घटना उस क्षण तुम्हारे मानसिक विन्यास का उस वाह्य-शति से प्रभावित होने के लिए व्यवस्थित होना है। तीसरी घटना इन दोनों के संतुलन के फलस्वरूप तुम्हारी श्रवणेन्द्रिय पटाके की ध्वनि द्वारा उत्तेजित होना है। चौथी घटना तुम्हारे मस्तिष्क में उनकी संवेदना होना है। पाँचवी घटना उसके प्रति तुम्हारी अवधान की क्रिया होना है। छटवीं घटना उससे उत्पन्न संवेदनाओं का संचित अनुभव द्वारा अर्थ-ग्रहण होना है। और

·प्रयत्क्ष- क्रिया

अन्तिम घटना प्रतिक्रिया होना है। इस समय हम मुख्यतः छठवीं घटना को समझने का प्रयत्न करेंगे। हम पहले लिख चुके हैं कि तुमने धमाके का शब्द सुनते ही समझ लिया कि यह पटाके का धमाका है। उसको समझने में तुम्हारे संचित अनुभवों ने तुम्हारी मदद की। यह बात तुम पहले ही सीख चुके थे कि कुछ विशेष अवसरों पर जैसे विवाह, शबबरात अथवा दिवाली आदि पर पटाके छोड़े जाया करते हैं और उस दिन इस तरह का कोई अवसर था। साथ ही पटाके का धमाका एक खास तरह का होता है जो लड़ाई के मैदान में बन्दूक की गोली का धमाका समझा जा सकता है किन्तु शान्ति पूर्ण नगर के वातावरण में उसके पटाके का धमाका समझे जाने की अधिक सम्भावना है। इस बात को भी तुम पहले सीख चुके थे। ऐसी ही अनेक बातों के संचित अनुभव के आधार पर तुम तुरन्त धमाके की संवेदना को पटाके का धमाका समझ लेते हो। यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार तुम्हारा अर्थ ग्रहण करना ठीक ही हो। यह सही भी हो सकता है और गलत भी। प्रत्यक्ष-क्रिया का अर्थ ग्रहण के सही अथवा गलत होने से कोई सम्बन्ध नहीं होता वह केवल संवेदनाओं का अर्थ ग्रहण करने की प्रक्रिया मात्र होती है।

संचित अनुभव के द्वारा संवेदनाओं के अर्थ ग्रहण का कार्य इतनी शीघ्रता पूर्वक होता है कि उत्तेजना संवेदना, अवधान की क्रिया तथा प्रत्यक्ष-क्रिया को एक दूसरे से अलग करना कठिन है। चेतनता के अनवरुद्ध प्रवाह में घटित होने वाली इन अनेक घटनाओं का अलग अलग अध्ययन केवल उनके क्रम के आधार पर काल्पनिक रूप में किया जाता है। यथार्थ में एक ही क्षण में यह सब घटनाएँ इतनी शीघ्रता पूर्वक घटित हो जाती हैं कि यह कहना कठिन हो जाता कि कौन सी घटना कब समाप्त हुई और दूसरी घटना कब आरम्भ हुई। वस्तुतः वे सब घटनाएँ एक ही साथ होती हुई मालूम होती हैं। यही कारण है कि बहुत से वर्तमान मनोविज्ञान वेत्ताओं संवेदना,

अवधान-क्रिया तथा प्रत्यक्ष-क्रिया एक ही मानसिक क्रिया के विभिन्न पक्ष समझ कर एक साथ अध्ययन करना आरम्भ कर दिया है।

संवेदना तथा प्रत्यक्ष क्रिया

शरीरात्मक मनोविज्ञान के अनुसार संवेदना में कार्टेक्स का केवल तत्सम्बन्धी ज्ञानेन्द्रिय से जुड़ा हुआ भाग उत्तेजित होता है तथा प्रत्यक्ष-क्रिया में साहचर्य्य क्षेत्र भी उत्तेजित होते हैं। किन्तु इस प्रकार का अन्तर केवल काल्पनिक है। यथार्थ में किसी भी संवेदना-क्षेत्र के उत्तेजित होने के साथ साहचर्य्य क्षेत्र भी उत्तेजित हो जाते हैं और प्रत्येक प्रौढ़ प्राणी को विशुद्ध संवेदना का अनुभव न होकर प्रत्यक्ष का अनुभव होता है। बालकों में शुद्ध संवेदना-अनुभूति की कल्पना की जाती है किन्तु इस प्रकार की कन्पना कहाँ तक ठीक है यह नहीं कहा जा सकता। यदि हम सम्पूर्ण कार्टेक्स की क्रिया के अनुभव के अध्ययन को प्रत्यक्ष-क्रिया का अध्ययन तथा ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित अनुभवों के अध्ययन को संवेदना का अध्ययन कह कर छोड़ दें तो अधिक उपयुक्त हो।

संवेदना को प्रत्यक्ष-क्रिया से एक प्रकार से और अलग किया जाता है। संवेदना में क्रियात्मक विशुद्धता होती है। प्रत्यक्ष-क्रिया में पूर्व अनुभव का सम्मिश्रण हो जाता है। संवेदना केवल संवेदना होती है, प्रत्यक्ष-क्रिया संवेदना तथा संचित अनुभवों के मिलने से होती है। नवजात शिशु में संचित अनुभव न होने के कारण उसके पक्ष में विशुद्ध संवेदना की कल्पना की जा सकती है। किन्तु कुछ ही समय बाद उसके लिए भी प्रत्येक संवेदना कुछ अर्थ रखने लगती है और उस दशा में वह प्रत्यक्ष-क्रिया का रूप धारण कर लेती है।

प्रत्यक्ष-क्रिया का विश्लेषण

प्रत्यक्ष-क्रिया में प्राणी अब और यहाँ स्थिर पदार्थों अथवा घटनाओं का अनुभव करता है। वे घटनाएँ अथवा पदार्थ जिनके विषय में केवल

कल्पना की जा सकती है और जिनसे प्राणी को सीधे संवेदना नहीं होती प्रत्यक्ष-क्रिया की सीमा के बाहर माने जाते हैं। इंग्लैण्ड के पार्लामेन्ट-भवन में इस समय क्या हो रहा है इसकी केवल हम कल्पना कर सकते हैं हमें उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

इसका तात्पर्य यह है कि प्राणी को केवल उन पदार्थों अथवा घटनाओं का प्रत्यक्ष होता है जिनसे उसको किसी न किसी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा संवेदना प्राप्त होती है साधारण भाषा में हम दृश्यात्मक, श्रवणात्मक, घ्रुणात्मक, स्वादात्मक, स्पर्शात्मक, पीड़ात्मक तथा चेष्टात्मक प्रत्यक्षों की बात करते भी हैं। यथार्थ में प्रत्यक्ष-क्रिया इतनी जटिल है कि उसको किसी इन्द्रिय-विशेष से सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रत्यक्ष क्रिया सम्पूर्ण कार्टेक्स की क्रियाशीलता पर निर्भर होती हैं, अंतर केवल आपेक्षिक प्रबलता का है। हमें बर्फ देखने में ठंडा लगता है, यह भी सम्भव है कि इसके साथ हमारा अन्य कोई अनुभव भी आबद्ध हो जिससे सम्बन्धित अनेक विचार बर्फ को देखते ही तुरन्त फिर से स्मरण हो आएँ। इसका कारण यह है कि जब हमने किसी परिस्थित विशेष में बर्फ को देखकर छुआ भी था उस समय इन दोनों संम्वेदनाओं में एक प्रकार का साहचर्य्य स्थापित हो गया था और अब मस्तिष्क में दृष्टि-क्षेत्र के उत्तेजित होने पर बर्फ के प्रत्यक्ष से सम्बन्धित स्पर्श क्षेत्र भी उत्तेजित हो जाता है जिसके परिणाम-स्वरूप बर्फ देखने में ठंडा लगता है और साथ साथ उस परिस्थिति से सम्बन्धित अनेक विचार भी मस्तिष्क में आ जाते हैं। उस परिस्थिति के आधार पर बर्फ को देख कर हमें उसके सुखकर अथवा दुःखकर होने का अनुभव होता है। इस प्रकार किसी भी सामान्य से सामान्य प्रत्यक्ष-क्रिया से अनेक अनुभव आबद्ध रहते हैं। प्रत्येक प्रत्यक्ष-क्रिया में ऐन्द्रिक, सांकेतिक तथा भावात्मक प्रक्रियाओं का ऐसा सम्मिश्रण रहता है जो अलग अलग इन तीनों के योग से कुछ भिन्न होता है और स्वयमेय एक एकान्तिक अनुभव का रूप लिए होता है। बर्फ़ का देखना ऐन्द्रिक प्रक्रिया है, उसका देखने में ठंडा मालूम होना

और उसके सम्बन्ध में अनेक विचारों का आना सांकेतिक प्रक्रिया है, उसका सुखकर अथवा दुखकर प्रतीत होना स्पष्टतः भावात्मक प्रक्रिया हुई तथा बर्फ़ का प्रत्यक्ष इन तीनों के योग से भिन्न कोई ऐसी चीज़ हुई जो अपने उस स्वरूप के लिए पूर्णतः कार्टेक्स की तात्कालिक गत्यात्मक व्यवस्था पर निर्भर होती है।

तुम तीसरे अध्याय में पढ़ चुके हो कि प्रत्येक प्राणी के कार्टेक्स में उत्तेजना के फल-स्वरूप हर समय संशोधन होता रहता है। प्रत्यक्ष-क्रिया में वर्तमान संवेदनाओं का पूर्वगत संशोधनों के साथ इस प्रकार का गत्यात्मक सम्मिश्रण होता है कि प्रत्येक नवीन प्रत्यक्ष-क्रिया पूर्व गत प्रत्यक्ष-क्रिया से भिन्न होती है। यदि तुम इस समय बर्फ़ देखो तो उसका प्रत्यक्ष पहले देखे गए बर्फ़ के प्रत्यक्ष से भिन्न होगा। हमें बार बार एक ही प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। यदि ऐसा है तो फिर हमें हर समय नवीनता का अनुभव क्यों नहीं होता? क्या कारण हैं कि हमें अपने पूर्व परिचित व्यक्तियों में किसी प्रकार के प्रत्यक्षात्मक परिवर्तन का अनुभव नहीं होता।

यदि हम इस बात पर विचार करें कि वाह्य-जगत में हर समय परिवर्तन होता रहता है तो प्रत्यक्षात्मक निरन्तरता के अद्भुत व्यापार की व्याख्या और भी जटिल मालूम होने लगती है। एक ओर दार्शनिकों का विचार है कि हम विश्व को केवल अपने अनुभव के द्वारा जानते हैं। उसका यथार्थ स्वरूप अनुभव गत स्वरूप से बहुत भिन्न होता है। हमें केवल मानसिक पदार्थों का बोध होता है, भौतिक पदार्थों का नहीं। किन्तु फिर भी हम कह सकते हैं कि सामान्यतः प्रत्येक मानसिक पदार्थ का कुछ भौतिक आधार होता है और वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। मनोवैज्ञानिक-अध्ययन की आवश्यकता-पूर्त्ति के लिए प्राणी से अलग एक स्वातविक भौतिक जगत की कल्पना करने में कोई आपत्ति न होना चाहिए। उसमें स्थिर पदार्थों में एक प्रकार की निरन्तरता है जिसका प्रभाव हमारे प्रत्यक्ष की निरन्तरता निश्चित करने पर

पड़ता है। दूसरी ओर भौतिक-विज्ञान के पण्डितों का विचार है कि इन भौतिक पदार्थों का यथार्थ स्वरूप उससे कहीं भिन्न है जिसका हमें प्रत्यक्ष होता है। कोई भी ठोस पदार्थ हमें ठोस दीखता है किन्तु यथार्थ में वह अपने सार तत्व के चारों ओर घूमते हुए अगणित अणुओं के मिलने से बना है। किसी पथार्थ का रंग उसका गुण न होकर उससे प्रक्षिप्त होने वाले प्रकाश का गुण होता है। इन सब विचित्र बातों पर विचार करने से मालूम होता है कि हमारी समस्त प्रत्यक्ष-क्रिया भ्रामक तथा मिथ्या है किन्तु यथार्थ में यह बात नहीं है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि कोण से हमारे लिए प्रत्येक प्रत्यक्ष-क्रिया जब तक उसका किसी पदार्थ अथवा घटना से सीधा सम्बन्ध है वास्तविक तथा अध्ययन के उपयुक्त है। मनोविज्ञान न तो सामान्य संवेदना-क्षेत्र से परे पदार्थों के भौतिक-स्वरूप पर विचार करता है और न दार्शनिक दृष्टि-कोण से उनके सत्य अथवा मिथ्या होने पर। प्रत्यक्ष-क्रिया के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अन्तर्गत प्राणी के संवेदना-क्षेत्र में स्थिर पदार्थों अथवा उसमें होने वाली घटनाओं के केवल मानसिक-स्वरूप तथा तत्सम्बन्धी स्नायविक क्रियाओं का विश्लेषण किया जाता है।

दार्शनिक दृष्टि-कोण से कुछ व्यक्तियों के लिए सभी प्रत्यक्ष केवल भ्रान्ति अथवा मरीचिका हैं।

भ्रान्ति

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वे पदार्थ अथवा घटनाएँ भ्रान्ति की कोटि में आती हैं, जिनका प्रत्यक्ष मानवीय मस्तिष्क की कुछ गत्यात्मक विशेषताओं के कारण जैसा होना चाहिए वैसा न होकर उस से कुछ भिन्न होता है। भौतिक-विज्ञान के दृष्टि-कोण से तो प्रकाश का श्वेत दीखना भी एक भ्रान्ति है क्यों कि यथार्थ में श्वेत दीखने वाला प्रकाश अनेक विभिन्न रंगों की लहरों के मिलने से उस स्वरूप में दृष्टगोचर होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टकोण से वह भ्रान्ति नहीं है क्योंकि विभिन्न रंग की लहरों का यह सम्मिश्रण हमारे मस्तिष्क की किसी गत्या-

त्मक विशेषता के कारण न होकर वाह्य-जगत में ही होता है। हाँ, रंग-संवेदना का समकालीन-विरोध-व्यापार मनोविज्ञान भ्रान्ति के अन्तर्गत आता है। भ्रान्ति का एक अन्य सुन्दर उदाहरण तुम्हें सिनेमा गति में मिलता है। स्थिर चित्रों को शीघ्रता पूर्वक पर्दे पर प्रक्षिप्त करने से तुम्हें गति का अनुभव होता है। यदि प्रक्षिप्त करने की गति कुछ घटा दी जाए तो एक सार चेष्टा के स्थान पर झटके से होने वाली गति का प्रत्यक्ष होने लगता है। इन दोनों दशाओं में गति का अनुभव मस्तिष्क की गत्यात्मक विशेषताओं के कारण होता है वाह्य कारणों से नहीं। मस्तिष्क की यह गत्यात्मक विशेषता केवल मेरे या तुम्हारे मस्तिष्क तक ही सीमित नहीं है वरन् समस्त सामान्य व्यक्तियों में लगभग समान रूप में पाई जाती है। यही कारण है कि सिनेमा हाल में बैठे सभी व्यक्तियों को पर्दे पर गति का प्रत्यक्ष होता है। भ्रान्ति-व्यापार उतना ही सामान्य तथा व्यापक होता है जितना सामान्य-प्रत्यक्ष-व्यापार। उसको प्रत्यक्ष की भूल कह कर पुकारना भ्रामक है। भ्रान्ति के जो दो उदाहरण हमने ऊपर दिए हैं वे दोनों दृश्यात्मक क्षेत्र से ही लिए गए हैं किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि केवल इसी क्षेत्र में भ्रान्तियाँ होती हैं। वे किसी भी संवेदना-क्षेत्र में हो सकती हैं तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि कोण से उनके जैसा ही महत्व रखती हैं।

मरीचिका[१]

मरीचिका भ्रांति से कुछ भिन्न होती है। मरीचिका में भी किसी व्यक्ति के मस्तिष्क की गत्यात्मक व्यवस्था के कारण ही किसी घटना अथवा पदार्थ का अनुभव होता है किन्तु इस व्यवस्था के सहायक कारण वाह्य-जगत में न होकर केवल उस व्यक्ति के मन की उपज होते हैं। किसी विन्यास-विशेष में भ्रांति में सीधी रेखाएँ टेढ़ी दीखती हैं किन्तु मरीचिका में खाली पृष्ठ पर भी सीधी रेखा दिखाई दे सकती है। वाह्य-जगत में किसी वस्तु के अस्तित्व का कोई भौतिक प्रमाण न होने पर भी

१—Hallucination.

उस वस्तु का प्रत्यक्ष होने को मरीचिका कहते हैं। भ्रांतियों का प्रत्यक्ष सर्व साधारण को समान रूप से होता है, मरीचिका पूर्णतः वैयक्तिक होती है। इस प्रकार का प्रत्यक्ष सामान्य प्राणियों को बहुत कम और असामान्य को बहुधा हुआ करता है। यही कारण है कि मरीचिका को सामान्य की कोटि से परे माना जाता है। यह व्यापार बहुत कुछ स्वप्न से मिलता जुलता है, अन्तर इतना है कि स्वप्न सोते पर दिखाई देते हैं और मरीचिका जागृत अवस्था में।

प्रत्यक्ष क्रिया के निर्धारक

पिछले अध्याय में तुम अवधान-क्रिया के निर्धारकों में विषय में पढ़ चुके हो। उसमें तुमने पढ़ा था कि कुछ दशाओं में अवधान क्रिया मुख्यतः वस्तु के गुणों से निर्धारित होती है और कुछ में मुख्यता व्यक्ति की मानसिक अवस्वथा से। इसी प्रकार प्रत्यक्ष-क्रिया भी प्रत्यक्ष के रचनात्मक[1] तथा क्रियात्मक[2] अंगों पर निर्भर होती है।

प्रत्यक्ष-क्रिया के निधारक-अंगों में से रचनात्मक अंगों के अन्तर्गत मुख्यतः भौतिक उत्तेजनाओं की प्रकृति से उद्भूत अंग तथा व्यक्ति के स्नायु-समवाय में इनसे उत्पन्न प्रभाव आते हैं। गेस्टाल्ट[3] मनोविज्ञान

रचनात्मक अंग

वेत्ताओं के अनुसार प्रत्यक्ष-क्रिया मुख्यतः भौतिक-पदार्थों की उत्तेजना फल स्वरूप प्राणी के स्नायु-समवाय में होने वाली शारीरिक घटनाओं के निर्धारित होती है। उनका विचार है कि हमें जो कुछ दिखाई देता है वह बहुत कुछ उससे उत्पन्न संवेदनाओं पर निर्भर होता है। उदाहरण के लिए नीचे के चित्र को देखो :—

() () () () ()

() () () () ()

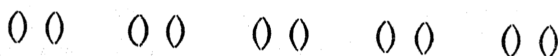
चित्र सं० २४

इसमें दस बिन्दियाँ हैं जो हमें दो पड़ी रेखाओं में संगठित दृष्टिगोचर

१—Structural २—Functional. ३—Gestalt.

होती हैं। उन्हें हम किसी और स्वरूप में नहीं देखते हैं। इस प्रकार के संगठन का प्रत्यक्ष स्पष्टतः उन भौतिक बिन्दियों के बीच के देशीय[1] सम्बन्ध के मस्तिष्क में यथावत प्रक्षिप्त होने के फल स्वरूप होता है और वह हमारी अवश्यकताओं, चित्त अथवा पूर्व-ज्ञान से स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राणी के व्यक्तित्व अथवा आवश्यकताओं से स्वतन्त्र वे संवेदनात्मक अंग जो उसके ज्ञान-क्षेत्र में विशिष्ट संगठन निर्धारित कर देते है "प्रत्यक्ष-किया के रचनात्मक अंग" कहलाते हैं। इन अंगो को पृथक् करने, उनका वर्णन करने' तथा उनके सम्पादन के नियमों को स्थिर करने से "संगठन के नियम"[2] बने हैं। वे इस प्रकार हैं :—

(१) *समग्रता का नियम*[3] — गेस्टाल्ट वादियों का विचार है कि इस नियम के अनुसार प्राणी को समग्र परिस्थिति का एक साथ प्रत्यक्ष होता है। प्रत्येक संवेदना समूह प्राणी के मस्तिष्क पर संगठित आकार के रूप में प्रभाव डालता है और उसको उसी आकार का प्रत्यत्र होता है। इस संगठित आकार अथवा 'समग्र' को जर्मन भाषा में 'गेस्टाल्टन'[4] के नाम से पुकारा जाता है। प्रत्येक समग्र अपने खण्डों के योग से अधिक होता है और इसके गुण खंडों के योग के गुण से भिन्न होते हैं। निम्न चित्र को देखो।—:



चित्र सं० २५

सम्भवतः तुम्हारा ध्यान बिन्दियों के समग्र संगठन की ओर पहले गया होगा। तुम्हें सबसे पहले कुछ समूह दिखाई दिए होगे, फिर सम्भवतः उन समूहों की संख्या तथा प्रत्येक समूह में बिन्दियों की संख्या

१—Spatial. २—Laws of organisation. ३—Law of wholes. ४—Gestalten.

पर ध्यान गया होगा। इस प्रकार सबसे पहले समग्र का प्रत्यक्ष होने के इस नियम को 'समग्रता का नियम' कह कर पुकारते हैं।

भ्रान्तियों की निम्न व्याख्या से समग्रता का नियम समझने में विशेष सहायता मिलेगी। यथार्थ में गेस्टाल्टवाद की खोज के मूल में इसी प्रकार की एक भ्रान्ति थी जिसको फाई-व्यापार[1] के नाम से पुकारा जाता है। इसका एक उदाहरण नीचे भ्रान्तियों के अन्तर्गत दिया जायगा।

भ्रान्तियाँ

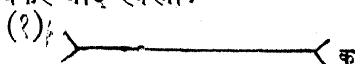
भ्रान्ति का परिचय हम पहले दे चुके हैं। इसमें हमें कुछ ऐसी बातों को अनुभव होता है जो परिस्थिति की विधेयात्मक व्याख्या से मेल नहीं खातीं। तुमने अब तक कई बार सिनमा अवश्य देखा होगा। क्या कभी यह सोचा है कि पर्दे पर प्रक्षिप्त होने वाले चित्रों में तुम्हें गति का अनुभव कैसे और क्यों होता है? तुम देखते हो कि घोड़े पर सवार एक सैनिक तेजी से भागता चला जा रहा है जब कि यथार्थ में वह उस छोटे से पर्दे की सीमाओं से ही आबद्ध रह जाता है। इसका कारण यह है कि तेजी से चलती हुई सिनेमा रील से पर्दे प्रक्षिप्त चित्र एक दूसरे के बाद इतनी शीघ्रता-पूर्वक हमारी आँख के सामने आते हैं कि मस्तिष्क में पहले चित्र से उत्पन्न गति के समाप्त होने के पूर्व ही दूसरे चित्र से उत्पन्न गति हो जाती है और वह पहले की गति से संगठित हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक चित्र अपने से पूर्व तथा बाद के चित्र के साथ संगठित हो जाता है और हमें समग्र के नियम के अनुसार स्थिर चित्रों का अलग अलग प्रत्यक्ष न होकर उनमें गति का अनुभव होता है। यह गति विभिन्न चित्रों के योग से बढ़कर है। यदि गति की मात्रा को घटा दिया जाय तो चित्रों के प्रक्षिप्त होते रहने पर भी उनमें चेष्टा का अनुभव होना बंद हो जायगा तथा उस दशा में समग्र के गुण पूर्व समग्र के गुण से भिन्न हो जाएँगे। यही फाई-व्यापार का एक उत्तम उदाहरण है।

१—Phiphenomenon.

समग्र के नियम का प्रतिपादन करने के लिए 'साईज-भार भ्रान्ति'[१] नाम का एक दूसरा सुन्दर उदाहरण है। यदि सामान आकार भार तथा के विभिन्न साइज के दो बोझ बारी बारी से उठाने के लिए किसी से कहो तो तुम देखोगे कि बहुधा वह व्यक्ति साइज में बड़े बोझ को हलका बताएगा। इसका कारण यह है कि वह दोनों बोझों के साइज को देखकर छोटे को उठाने के लिए कम शक्ति तथा बड़े को लिए अधिक शक्ति लगाता है। परिणाम यह होता है अधिक शक्ति लग जाने से बड़ा भार जल्दी उठ जाता है और उसे उसके हलके होने का प्रत्यक्ष होता है। इसका तात्पर्य है कि प्रयोग के लिए प्राप्त प्राणी की शक्ति का निर्णय समग्र के नियम के अनुसार होता है। पूर्ण परिस्थिति से प्रभावित होकर प्राणी एक के उठाने में कम तथा दूसरे के उठाने में अधिक शक्ति लगाता है।

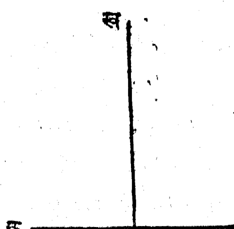
अब इन चित्रों को देखो और प्रत्येक के नीचे लिखे प्रश्नों का उत्तर अपने मन में सोचकर याद रक्खो :—

(१)



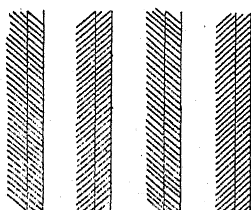
इसमें कौन सी रेखा बड़ी है, क या ख ?

(२)



इसमें कौन सी रेखा बड़ी है क या ख ?

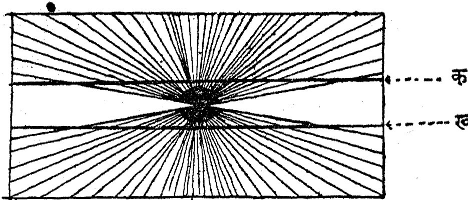
(३)



क्या यह खड़ी रेखाएँ समानान्तर मालूम होती है ?

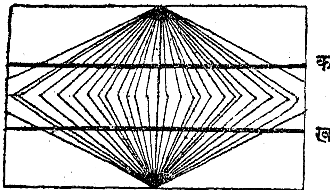
१—Size-weight illusion.

(४)



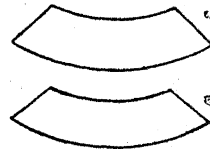
रेखाएँ क तथा ख किस ओर झुकी मालूम होती हैं, केन्द्र की ओर अथवा बाहर की ओर ?

(५)



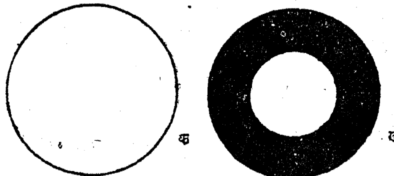
रेखाएँ क और ख सीधी मालूम होती हैं या अन्दर की ओर झुकी हुई ?

(६)



इन दोनों में कौन बड़ा है क या ख ?

(७)



दोनों में कौन सा वृत्त बड़ा है क अथवा ख ?

अब पैमाना लेकर (१) और (२) की रेखाएँ, (३) की रेखाओं के बीच का अलग अलग जगहों पर अन्तर, (४) और (५) की रेखाओं की सरलता, (६) में क और ख की चौड़ाई तथा लम्बाई और (७) में वृत्तों के व्यास नापो और अपने उत्तरों से मिलान करो। तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि (१) और (२) में रेखाएँ आपस में बराबर हैं जब

कि (१) में क, ख से और (२) में ख, क से बड़ी मालूम होती हैं, (३) में रेखाएँ समानान्तर हैं जब कि वे एक दूसरे की ओर झुकी हुई मालूम होती हैं, (४) में और (५) में क और ख रेखाएँ बिल्कुल सीधी हैं जब कि वे (४) में बाहर को ओर और (५) में अन्दर की ओर झुकी हुई मालूम होती हैं, (६) में दोनों बराबर हैं जब कि ऊपर वाला चित्र नीचे वाले से बड़ा मालूम होता है, और (७) में दोनों वृत्त बराबर हैं जब कि क, ख से बड़ा मालूम होता है।

इन भ्रांतियों से समग्रता के नियम तथा उसकी इस उपपत्तिका का भली प्रकार समर्थन होता है कि किसी समग्र के प्रत्येक अंग के प्रत्यक्षात्मक तथा ज्ञानात्मक गुण बहुत बड़ी सीमा तक समग्र के गुणों पर निर्भर होते हैं। हमने ऊपर के प्रत्येक चित्र में पहले समग्र को देखा और उसके गुणों के आधार पर अनेक भ्रामक सम्बन्धों का अनुमान लगाया जब कि यथार्थ में प्रत्येक चित्र के विभिन्न अंगों के गुण दिखाई देने वाले गुणों से भिन्न थे। उदाहरण के लिए (५) और (६) को देखो। इनमें क और ख रेखाएँ यथार्थ में सरल रेखाएँ हैं किन्तु दो विभिन्न समग्रों की अंग होने के कारण एक में बाहर की ओर तथा दूसरे में अन्दर की ओर झुकी प्रतीत होती हैं। इस सम्बन्ध में एक अन्य चित्र सास बहू का है जो अनेक मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने प्रत्यक्ष-क्रिया में समग्र तथा अंग का सम्बन्ध निरुपित करने के लिए प्रयोग किया है। इस चित्र को तुम ध्यान से देखो। यदि तुम्हें एक बहू का चेहरा दीख रहा है तो उसका एक कान गर्दन, तथा आँख के बिन्ने भी दिखाई दे रहे होंगे। किन्तु यही सब चीजें-सास के पक्ष में दूसरा अर्थ ग्रहण कर लेती हैं। बहू का कान सास की आँख



चित्र सं २५

तथा उसकी गर्दन सास का मुँह तथा ठोड़ी बन जाते हैं। इससे तुम भली प्रकार समझ सकते हो कि किस प्रकार अंगों के गुण समग्र के गुणों पर निर्भर होते हैं तथा प्रत्येक अंग का अर्थ समग्र के अर्थ के आधार पर लगाया जाता है।

(२) *चित्र और पृष्ठ भूमि का नियम*[१] :— इस नियम की व्याख्या करने के पूर्व हम इस प्रसंग में प्रयुक्त चित्र तथा पृष्ठ भूमि शब्दों को भली प्रकार समझा देना चाहते हैं। तुमने अब तक चित्र तथा पृष्ठभूमि का जो कुछ अर्थ समझा हो उसे भुला दो अन्यथा भ्रांति होने की आशंका है। यहाँ पर चित्र से हमारा तात्पर्य केवल किसी कागज पर खींचे गये चित्र से न होकर उससे उत्पन्न संवेदनाओं के मस्तिष्क में पड़ने वाले गत्यात्मक प्रभाव से है। इस प्रकार का प्रभाव किसी भी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा पड़ सकता है और इसी कारण हम किसी भी ज्ञानेन्द्रिय से सम्बन्ध रखने वाले चित्र जैसे श्रवण-चित्र, घ्राण-चित्र, स्पर्श-चित्र आदि की कल्पना कर सकते हैं। प्रत्यक्ष क्रिया के वर्णन में हम जहाँ भी चित्र शब्द का प्रयोग करेंगे वहाँ उससे हमारा तात्पर्य किसी प्रकार की संवेदनाओं के ऐसे समूह से होगा जो किन्हीं विशेष कारणों से मस्तिष्क म एक विशेष प्रकार का संगठित प्रभाव उत्पन्न करता है।

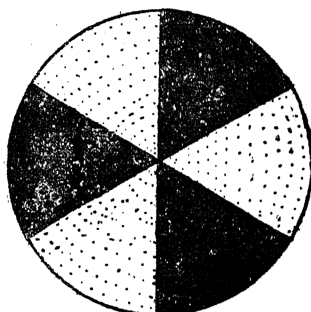
प्रत्यक्ष क्रिया में चित्र के समान ही पृष्ठ भूमि का भी एक विशिष्ट अर्थ होता है, यद्यपि चित्र तथा पृष्ठ-भूमि में वही सम्बन्ध माना जाता है जो साधारणतः समझा जाता है। बिना पृष्ठ-भूमि के चित्र का प्रत्यक्ष नहीं होता। किसी क्षेत्र के संवेदना समूह जिन पर हमारी अवधान क्रिया केन्द्रित हो जाती है चित्र बन जाते हैं और शेष क्षेत्र उस चित्र विशेष के लिये पृष्ठ-भूमि का काम करता है। विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धों रखने वाले चित्रों की विभिन्न पृष्ठ-भूमि होती है।

अवधान-क्रिया के निरन्तर बदलते रहने के फलस्वरूप बहुधा एक क्षण पहले जो चित्र होता है वह दूसरे क्षण पृष्ठ-भूमि हो जाता

१—Law of figure and ground.

है और पृष्ठ-भूमि चित्र। इसका एक सुन्दर उदाहरण नीचे दिया जाता है।

इस चित्र में तुम यदि काले भाग के ऊपर ध्यान जमाओ तो वह चित्र मालूम होता है और बिन्दुओं वाला भाग पृष्ठ-भूमि तथा यदि बिन्दु-



चित्र सं० २६

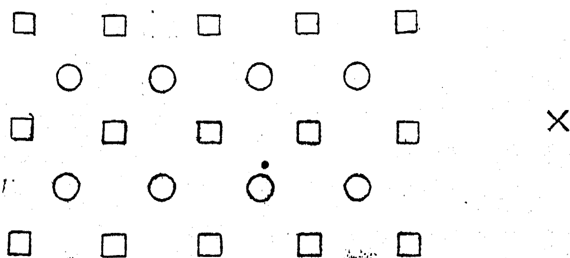
ओं वाले भाग पर ध्यान जमाओ तो वह चित्र बन जाता है और काला भाग पृष्ठ-भूमि। यदि लगातार कुछ समय तक तुम केवल एक ही भाग पर ध्यान जमाने का प्रयत्न करो तो तुम देखोगे कि तुम्हारा ध्यान कुछ ही क्षण बाद अपने आप ही दूसरे भाग की ओर चल जाता है और वह चित्र जो अभी एक क्षण पहले चित्र था पृष्ठ-भूमि हो जाता है। इसको प्रत्यक्ष का चाञ्चल्य[1] भी कहते हैं। इस व्यापार के फल स्वरूप चित्र और पृष्ठ-भूमि आपस में बदल सकते हैं।

चित्र और पृष्ठ-भूमि की इन व्याख्या के बाद अब हम प्रत्यक्ष-क्रिया के इस नियम पर बिचार करेंगे। इसके अनुसार समग्र का प्रत्यक्ष हो जाने के बाद उसके कुछ अंग चित्र बन जाते हैं और शेष पृष्ठ-भूमि।

१—Fluctuation.

ऊपर के चित्र में सबसे पहले तुम्हें सम्पूर्ण वृत्त का प्रत्यक्ष हुआ होगा। उसके बाद वह भाग जिस पर तुम्हारा ध्यान पहले गया चित्र बन गया और उस क्षण के लिये शेष भाग पृष्ठ-भूमि। यदि चित्र भली प्रकार संगठित होता है तो फिर चित्र चित्र, ही रहता है और पृष्ठ-भूमि, पृष्ठ-भूमि। उस समग्र विशेष के अधिक महत्वपूर्ण अंग चित्र बन जाते हैं और कम महत्वपूर्ण अंग पृष्ठ-भूमि। हमारे सामान्य प्रत्यक्ष अधिकतर इसी प्रकार के होते हैं जिनको हम चित्र के निर्धारक नियम भी कह सकते हैं :—

१—समानता का नियम[1]— समान अंगो में संगठित होने की प्रवृति होती है उदाहरण के लिये यह साधारण अनुभव की बात है कि एक स्वर में गाने वाले अनेक व्यक्तियों की आवाजें संगठित हो जाती हैं। निम्न चित्र को देखो—



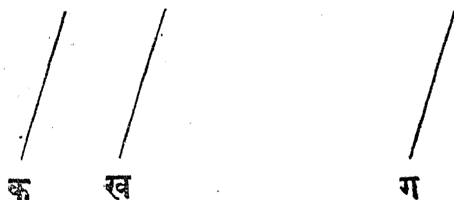
चित्र सं० २७

इसमें वर्ग तथा वृत्त एक विशेष क्रम में बने हुये हैं। जिस समय वर्गों की ओर ध्यान जाता है तो वे पाँच खड़ी अथवा तीन पड़ी रेखाओं में संगठित दीखते हैं और यदि वृत्तों की ओर जाता है तो वे चार खड़ी अथवा दो पड़ी रेखाओं में। किन्तु इनमें से एक भी आकार चित्र के दाहिनी ओर स्थित छोटे से गुणा का चिन्ह के साथ संगठित नहीं होता। (उसकी ओर तो सम्भावतः इससे पहले तुम्हारा ध्यान भी

१ – Law of similiarity.

न गया होगा) यह समानता रंग, आकृति, विस्तार, किसी भी प्रकार की हो सकती है।

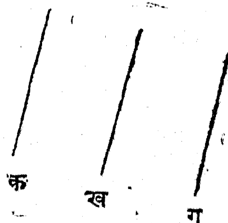
२—*सामीप्य का नियम* [१] :— देश अथवा काल में एक दूसरे के समीप स्थिति अंग संगठित हो जाते हैं। निम्न चित्र को देखो—



चित्र सं० २८

इसमें रेखाएँ 'क, और 'ख, एक साथ मालूम होती हैं किन्तु 'ग, उनसे अलग। यह अन्तर रेखाओं में समानता होते हुये भी 'क, और 'ख, के सामीप्य के कारण मालूम होता है। 'ग, को 'ख, से उसी दूरी पर रखने से जिस दूरी पर 'ख, से 'क, है यह अन्तर नष्ट हो जाता है और अब तीनों रेखायें एक ही समूह के अंग मालूम होने लगती हैं।

(३) *संगति का नियम* [२] :— संगतिपूर्ण अंग संगठित हो जाते हैं। संगति का प्रभाव साम्य अथवा सामीप्य से अधिक व्यापक

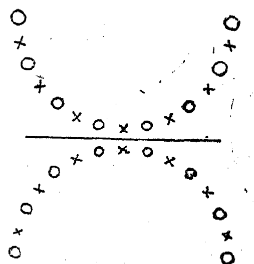


चित्र सं० २९

होता है। पृष्ठ १६१ पर चित्र को देखो—

१—Law of Proximity. २—Law of Symmetry.

इस चित्र में न तो समान-वृत्त ही संगठित होते हैं और न अत्यन्त समीप होते हुये भी मध्य में स्थित दो गुणा चिन्ह ही संगठित मालूम



चित्र सं० ३०

होते हैं। सम्पूर्ण चित्र का संगति-प्रभाव सबसे अधिक व्यापक और स्थायी प्रतीत होता है।

(४) *सजातीयता का नियम*[१] :— इस नियम के अनुसार एक ही सी तीव्रता अथवा दीप्ति वाले अंग संगठित हो जाते हैं। इस चित्र में दो वृत्तों के बीच एक सा रंग होने के कारण वह संगठित रूप में अँगूठी के समान मालूम होता है।

यह चारों नियम एकत्रित रूप में उत्तमता का नियम कहलाते हैं। इसके अनुसार वे पदार्थ चित्र के रूप में संगठित हो जाते हैं जिनमें उत्तमता की विशेषता होती है अर्थात् जिनमें ऊपर वर्णन किए गये सब अथवा कुछ नियमों का पालन होता है।

(५) *सातत्य का नियम*[२] :— चित्र और पृष्ठ-भूमि के इन रचनात्मक अंगों की व्याख्या के बाद अब हम प्रत्यक्ष क्रिया के एक अत्यन्त आश्चर्यजनक मनोवैज्ञानिक तथ्य पर विचार करेंगे। अपना ध्यान थोड़े समय

१—Law of homogeniety. २—Law of Constancy.

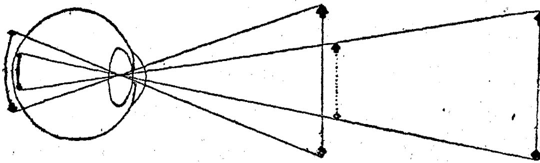
के लिये केवल दृष्टि जगत पर केन्द्रित रक्खो। हमारे अन्तः पटल पर प्रत्येक देखे गये पदार्थ की प्रतिमा बनती है और उस प्रतिमा का हमें प्रत्यक्ष होता है। वह पदार्थ हमारे समीप अथवा दूर दाहिनी ओर अथवा बायीं ओर कहीं भी हो सकता है। प्रत्येक दशा में नेत्र पर उसकी प्रतिमा भिन्न प्रकार की बनती है। पदार्थ के पास होने पर उसकी प्रतिमा बड़ी तथा दूर होने पर छोटी, एक पार्श्व से एक प्रकार की तथा दूसरे पार्श्व से दूसरे प्रकार की बनती है किन्तु फिर भी हमें जब तक वह हमसे बहुत दूर नहीं हो जाता उसके आकार में किसी प्रकार का अन्तर नहीं मालूम होता। खेल के मैदान में तुमसे २०० गज की दूरी पर खड़ा हुआ मित्र तुम्हें उतना ही बड़ा मालूम होता है जितना बड़ा तुम्हारे समीप आने पर। यथार्थ में जब वह तुम्हारी ओर को चलना आरम्भ करता है तो तुम्हारे नेत्रों के अन्तःपटल पर उसके चित्र का आकार बढ़ने लगता है और पास आते आते पहले की अपेक्षा काफी बड़ा हो जाता है किन्तु तुम्हें उसके प्रत्यक्ष में कोई अन्तर नहीं मालूम होता। इस प्रकार की निरन्तरता की व्याख्या के लिए ही सातत्य के नियम की कल्पना की गई है। इस नियम के अनुसार हमारी प्रत्यक्ष-क्रिया के अन्तर्गत आने वाले पदार्थों में एक प्रकार का सातत्य रहता है। यह सातत्य हमारे मस्तिष्क की गत्यात्मक विशेषताओं के कारण सम्भव होता है। यद्यपि ग्राहकों से चलने वाले आवेग विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न होते हैं, किन्तु मस्तिष्क में पहुँचकर उनकी व्यवस्था इस प्रकार हो जाती है कि प्रत्यक्ष जगत से हमारे आपेक्षिक सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं मालूम होता।

पदार्थ सातत्य की इस समस्या को हम पदार्थ के विभिन्न गुणों के अनुसार साइज़-सातत्य, आकार-सातत्य वर्ण-सातत्य आदि में बाँट कर अध्ययन किया जा सकता है। यहाँ हम केवल साइज़-सातत्य तथा दीप्ति-सातत्य पर संक्षिप्त विचार करेंगे।

साइज-सातत्य[1]

यह तो तुम जानते हो कि हमारे नेत्रों के अन्तःपटल पर पदार्थ का चित्र उसकी दूरी के हिसाब से छोटा अथवा बड़ा बनता है। इसको स्पष्टता पूर्वक समझने के लिए निम्न चित्र को देखो।

फिर भी हमको उसके साइज में कोई अन्तर नहीं मालूम होता। इस सातत्य के मूल में दूरी के अनुसार पादर्थ के साइज का अनुमान लगाने की प्रवृत्ति रहती है। प्राणी, पदार्थ के साइज का अन्दाज लगाने



चित्र सं० ३१

में अज्ञात रूप से उसकी दूरी से भी प्रभावित हो जाता है। सातत्य के नियम के मूल में यह प्रवृत्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। साधारण सीमा से सातत्य नष्ट हो जाता है। बहुत ऊँची मीनार से देखने पर नीचे के पदार्थ छोटे मालूम होने लगते हैं।

दीप्ति सातत्य[2] :— कोयला हमें सदैव काला दीखता है, चूना, सफेद और राख भूरी। प्रकाश के घटने या बढ़ने का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सफेद दीवाल चन्द्रमा के प्रकाश में भी सफेद ही दीखती है यद्यपि चन्द्रमा के प्रकाश में सूर्य के प्रकाश की अपेक्षा कहीं कम तीव्रता होती है। यदि प्रकाश की मात्रा घटने या बढने के साथ दीप्ति प्रत्यक्ष भी घटता या बढ़ता तो हमें बहुत सी वस्तुओं के पहचानने में बड़ी कठिनाई होती। उस दशा में श्वेत दीवाल चन्द्रमा के प्रकाश में काली दीखती।

१—Size-Constancy. २—Brightness Constancy.

दोपहर तक सूर्य के प्रकाश में तेजी बढ़ने के साथ प्रत्येक पदार्थ की सफेदी की मात्रा बढ़ती जाती और दोपहर के बाद से उसमें कमी आने लगती। किन्तु यथार्थ में ऐसा नहीं होता है और सूर्यास्त के समय भी हमें कोई पदार्थ उतना ही श्वेत प्रतीत होता है जितना वह दोपहर के समय था।

दीप्ति सातत्य के मूल में दो कारण माने जाते हैं—(१) पूर्व परिचय (२) छाया अथवा प्रकाश की दशा का ज्ञान। पूर्व परिचय से हमारा तात्पर्य इस तथ्य से है कि हम जानते है कि अमुक पदार्थ सफेद या लाल है और इसलिये हम सदैव उसको सफेद या लाल ही देखते हैं। छाया अथवा प्रकाश की दशा का ज्ञान पदार्थ के प्रत्यक्ष में इनके कारण सम्भव भ्रम को मिटा देता है। तुम छाया में चीज को देखते समय यह जानते हो कि हम उसको छाया में देख रहे हैं और उसी हिसाब से उसकी दीप्ति का साधारण प्रकाश की दशा के समान अनुमान लगाते हो। दीप्ति का निर्णय करने में पृष्ठ-भूमि का गहरा असर पड़ता है। यथार्थ में यदि हम कहें कि प्रत्येक पदार्थ को किसी समग्र में स्थित चित्र के चित्र के रूप में देखते हैं और उसके गुण समग्र के गुणों से निर्धारित होते हैं तो अधिक उपयुक्त होगा। समग्रता के नियम की सहायता लेने से सातत्य का नियम समझने में आसानी होती है। इस सम्बन्ध में अनेक प्रयोग किये गये हैं। विषय विस्तार के भय से उनका वर्णन यहाँ नहीं दिया जा सकता।

प्रत्यक्ष-क्रिया के क्रियात्मक अंग

इनसे हमारा तात्पर्य प्रत्यक्ष-क्रिया के उन अंगों से है जो मुख्यतः प्राणी की आवश्यकताओं, चित्त की तात्कालिक अवस्था, पूर्व अनुभव, तथा स्मृति से निर्धारित होते हैं। हमें नित्यप्रति के जीवन में इस बात के अनेक उदाहरण मिलते हैं कि किस प्रकार प्राणी की आवश्यकताओं तथा मानसिक विन्यास आदि द्वारा हमारी प्रत्यक्ष-क्रिया नियंत्रित रहती है।

एक प्रयोग में बच्चों के दो समूहों को कुछ सिक्के दिखाए गए। उनमें से एक समूह के बच्चे गरीब थे और दूसरे के धनी। उनसे उन सिक्कों के साइज का अनुमान लगाने को कहा गया। इस दोनों समूहों के बच्चों की प्रत्यक्ष-क्रिया में आश्चर्य-जनक अन्तर पाया गया। गरीब बच्चों ने सिक्कों को धनी बच्चों की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा बताया। हिन्दी के एक कवि ने कहा भी हैं :—

आवश्यकतायें

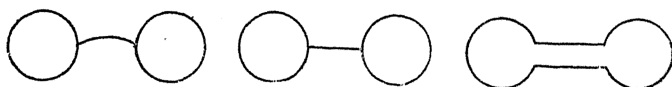
"घर घर डोलत दीन ह्वैजन जाँचत जाए।"
"दिए लोभ चश्मा चखन लघुहू बड़ों लखाए।"

इस सम्बन्ध में एक अन्य प्रयोग और भी अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें कुछ अस्पष्ट चित्र बच्चों को शीशे के पर्दे के पीछे से दिखाए गये। उनमें भूखे बच्चों को पेट भरे हुए बच्चों की अपेक्षा खाने की चीजे अधिक दिखाई दीं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारी प्रत्यक्ष-क्रिया पर आवश्यकताओं का गहरा प्रभाव पड़ता है।

अवधान क्रिया में मानसिक विन्यास के महत्व के विषय में तुम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हो। इसका प्रभाव न केवल अवधान-क्रिया पर ही पड़ता है वरन् प्रत्यक्ष-क्रिया भी बहुत बड़ी सीमा तक इससे निर्धारित होती है। प्रत्यक्ष क्रिया पर मानसिक विन्यास का दो प्रकार से प्रभाव पड़ता है :— (१) इस बात से कि हमें किस चीज का प्रत्यक्ष होता है—इसकी निर्धारक अवस्था अवधान-क्रिया है तथा (२) वह प्रत्यक्ष हमें किस प्रकार होता है। दूसरे के सम्बन्ध में एक सुन्दर प्रयोग नीचे दिया जाता है। नीचे के चित्रों में से बीच वाला चित्र विषय दिखाने से पूर्व प्रयोगक ने कहा कि तुम्हें दिखाया जाने वाला चित्र चश्मे की तरह होगा। चित्र दिखाने के बाद हटा लिया गया और विषय से उसको बनाने के लिए कहा गया। उसने जो चित्र बनाया वह बायीं ओर दिखाया गया है

मानसिक-विन्यास

दूसरे विषय को चित्र दिखाने से पूर्व कहा गया था कि दिखाया जाने वाला चित्र डम्बबेल की तरह होगा। उसका बनाया हुआ चित्र दाहिनी ओर दिखाया गया है। इससे समझ सकते हो कि विन्यास का प्रत्यक्ष पर कैसा गहरा प्रभाव पड़ता है।



चित्र सं० ३२

चित्त

प्रत्यक्ष-क्रिया पर चित्त की अवस्था का प्रभाव ज्ञात करने के लिए तीन विषयों को चित्त की विभिन्न, हर्ष पूर्ण, दोष दर्शी, तथा चिन्ता पूर्ण अवस्थाओं में ६ चित्र दिखाए गए। प्रत्येक अवस्था सम्मोहन[1] द्वारा उत्पन्न करने के बाद चित्र दिखाए गए थे। उनकी प्रतिक्रिया का अध्ययन करने पर देखा गया कि प्रत्येक दशा में अलग अलग प्रत्यक्ष-क्रिया होती थी। प्रसन्नता की दशा में छोटी-छोटी चीजों पर ध्यान नहीं जाता। दोषदर्शिता की हालत में सूक्ष्माति-सूक्ष्म पदार्थ के गुणावगुण पर हमारा ध्यान जाता है। चित्त की अवस्था का प्रभाव न केवल इस पर पड़ता है कि हम क्या देखते हैं वरन् इस पर भी पड़ता है कि हम किसी चीज का क्या अर्थ समझते हैं।

प्रत्यक्ष-क्रिया में किसी पदार्थ का अर्थ इस बात पर निर्भर होता है कि भूतकाल में उससे हमें किस प्रकार की उत्तेजना हुई है। छोटे बच्चे के लिए पालतू बिल्ली खेलने की वस्तु होती है, किन्तु वही बिल्ली यदि कभी गुस्सा में आकर बच्चे के पंजे मार देती है तो उसके लिए उस बिल्ली का अर्थ फौरन बदल जाता है। अब वह बालक के लिए खेल का विषय न होकर भय का विषय हो जाती है।

१—Hypnosis.

हमारा जितनी भी नया अनुभव है वह पूर्व अनुभव की पृष्ठ-भूमि में मिलता चला जाता है और आने वाले अनुभव के लिए पृष्ठ-भूमि तैयार करता है। यथार्थ में हमें केवल किसी पदार्थ अथवा घटना का ही प्रत्यक्ष नहीं होता है वरन् सम्पूर्ण परिस्थिति का, जो बहुत बड़ी सीमा तक हमारे पूर्व अनुभव की पृष्ठ-भूमि पर चित्र के रूप में हमारे सामने आती है।

प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक पृष्ठ-भूमि भिन्न होती है। इसी लिए उसके लिए प्रत्येक आने वाले अनुभव का अर्थ औरों के लिए उस अनुभव के अर्थ से भिन्न होता है। इस बात की ओर हम दूसरे अध्याय में संकेत कर चुके हैं। तुम्हारे लिए इस पुस्तक का एक अर्थ है और अध्यापक के लिए दूसरा।

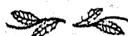
रचनात्मक तथा क्रियात्मक अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध :— यथार्थ में हमारा कोई भी प्रत्यक्ष किसी विशेष प्रकार के अंगों से निर्धारित नहीं होता। उसमें रचनात्मक तथा क्रियात्मक अंगों का ऐसा जटिल सम्मिश्रण रहता है कि हम प्रयत्न करने पर भी उनको एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते। केवल प्रयोगात्मक सहूलियत के लिए आपेक्षित प्रबलता को ध्यान में रखकर हम रचनात्मक अथवा क्रियात्मक अंगों का अलग अलग अध्ययन करने का प्रयत्न करते हैं। इससे हमें प्रत्यक्ष का विश्लेषण करने में कुछ सुगमता हो जाती है। गेस्टाल्ट वादियों ने अपना ध्यान अधिकतर रचनात्मक अंगों की ओर लगाया। किन्तु वर्तमान मनोविज्ञान वेत्ता प्रत्यक्ष क्रिया का अध्ययन करने में दोनों प्रकार के अंगों की ओर यथेष्ट ध्यान देते है।

प्रत्यक्ष-क्रिया के रचनात्मक तथा क्रियात्मक अंगों के इस संक्षिप्त अध्ययन के बाद इस क्रिया के सम्बन्ध में दो निम्न महत्वपूर्ण बातों की ओर तुम्हारा ध्यान आकर्षित करके हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे :—

१—यह तो तुम समझ ही गए होगे कि हमें समग्र का प्रत्यक्ष होता है। उसके अंगों की ओर बाद में हमारा ध्यान जा भी सकता है और

नहीं भी। हमारी आँख के सामने बहुधा गलत शब्द आ जाते हैं किन्तु हम उनकी सम्पूर्ण रचना के अधार पर उन्हें सही समझ कर आगे बढ़ जाते हैं। कारण केवल यह है कि हम समग्र को एक साथ देख लेते हैं और अंगों की ओर ध्यान भी नहीं देते। दूसरे शब्दों में ऐसा समझो कि हमारी प्रत्यक्ष-क्रिया को शीघ्रता-पूर्वक चलाते रहने के लिए हमारे मस्तिष्क में कुछ इस प्रकार की चेष्टा होती रहती है कि हम पूरी वस्तु पर अधिक देर तक ध्यान न जमा कर शीघ्र ही अगली वस्तु पर चले जाते हैं। पिछली बार आए हुए 'सम्पूर्ण' शब्द को देखो। उसमें एक अशुद्धि है क्या पहली बार पढ़ने में तुम्हारा ध्यान उसकी ओर गया था ? मेरी समझ से नहीं। कारण केवल यह है कि समग्र के देखने में अंग की अवहेलना हो गई।

२—*अन्तर-प्रत्यक्ष*[१]— अन्तर प्रत्यक्ष से हमारा तात्पर्य दो संवेदनाओं के बीच स्थित अन्तर का प्रत्यक्ष होने से है। इससम्बन्ध में वेवर[२] ने एक नियम इस प्रकार दिया है "यदि हम दो संवेदनाओं के बीच अन्तर जानना चाहते में तो हमें उत्तेजना की तीव्रता की एक निश्चित मात्रा में बढ़ाना होगा।" उत्तेजना की तीव्रता में जो वृद्धि की जाय वह मौलिक उत्तेजना की एक निश्चित भिन्न होना चाहिए। यदि २० दीपकों से प्रकाशित कमरे में एक दीपक और जला दिया जाय तो प्रकाश में सम्भवतः कोई अन्तर न मालूम होगा। किन्तु यदि एक दीपक से प्रकाशित कमरे में एक दीपक और ला दिया जाय तो फौरन अन्तर मालूम होने लगेगा। इससे यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि प्रकाश अन्तर का प्रत्यक्ष $\frac{\text{उत्तेजना}}{\text{पूर्व उत्तेजना}}$ पर निर्भर होता है।



१—Perception of difference. २—Weber.

अध्याय—९

कल्पना-क्रिया[1]

वाह्य शक्तियों से उत्तेजित होकर व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियाँ संवेदनशील होती हैं तथा उसे प्रत्यक्ष होता है। किन्तु मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया यह एक विशेषता है कि पदार्थ के अभाव में तथा ज्ञानेन्द्रियों के संवेदनशील न होने पर भी व्यक्ति अपने प्रत्यक्ष ज्ञान का पुनः निर्माण कर सकता है। इस प्रकार से निर्मित पदार्थ जब उस वस्तु के प्रत्यक्ष से पूरा पूरा मेल खाता है तो हम उसे स्मरण[2] कहते हैं; किन्तु जब पुराना अनुभव नये रूप के व्यवस्थित होकर हमारे सन्मुख आता है तो इसे हम कल्पना कहते है। जब हमें किसी विगत घटना का 'स्मरण' होता है तो इससे हमारा तात्पर्य यह होता है कि एक बार पुनः हम उस घटना के अनुभवों की आवृत्ति कर रहे हैं। किन्तु कल्पना की क्रिया में हमारे कई अनुभवों का या तो सम्मिश्रण होता है या एक ही अनुभव में से कुछ अंग अनुपस्थित होते हैं या यह नवीन घटना एक नई पृष्ठ-भूमि पर घटित होती है। जब हम स्मरण किये हुये पदार्थों में तर्क का प्रयोग करते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य केवल पदार्थों में स्थित सम्बन्ध का निरूपण करना होता है। कल्पना द्वारा निर्मित पदार्थों में तर्क प्रयोग करने का तात्पर्य होता है पदार्थों में नवीन सम्बन्ध स्थापित करना। प्रत्यक्ष ज्ञान तथा स्मृति पर आधारित होते हुये भी कल्पना की क्रिया स्वतन्त्र होती है

१—Imagining. २—Memory.

तथा उससे निर्मित पदार्थ इन सबसे भिन्न होता है। इसलिये कल्पना की क्रिया हमारी वह मानसिक क्रिया है जिसके द्वारा हम पदार्थों से संवेदना प्राप्त होते हुये भी अपने विगत अनुभवों के आधार पर एक नवीन पदार्थ की सृष्टि करते हैं।

कल्पना और प्रत्यक्ष-ज्ञान

महाकवि सूरदास के पदों से तुम अवश्य अवगत होगे। तुम्हें यह देख कर आश्चर्य हुआ होगा कि सूरदास के वर्णन कितने सजीव होते हैं। प्रकृति के सौन्दर्य, या कृष्ण जी की बाल लीला या जिस किसी भी प्रकार का वर्णन सूरदास ने किया है, ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई चतुर चितेरा अपने सम्मुख की वस्तुओं का चित्र उपस्थित कर रहा है और हम यह सोचने को बाध्य हो जाते हैं कि महाकवि सूरदास जन्म से अंधे नहीं थे। इसके विपरीत तुमने सात अंधों की कहानी भी पढ़ी होगी जिनको हाथी जैसे जानवर का ज्ञान नही था। बारी बारी से प्रत्येक अंधे ने हाथी के भिन्न भिन्न अंगों को स्पर्श किया और निश्चय किया कि हाथी इसी प्रकार का है। हाथी के कान छूकर एक अंधे ने निश्चय किया कि हाथी सूप जैसा होता है तो पूँछ पकड़ने वाले ने हाथी को रस्सी जैसा बतलाया। पैरों को छूने वाले अंधे ने हाथी को थम्भे जैसा घोषित किया। इस प्रकार के भिन्न भिन्न वर्णनों का क्या कारण था? कारण यह था कि इन अंधों को हाथी का प्रत्यक्ष नहीं हुआ था और इस लिए हाथी का कल्पना करना उनकी शक्ति के परे था। जिस वस्तु का हमें हमारी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष न हुआ हो, हम उस वस्तु की कल्पना नहीं कर सकते। "सावन का अंधा" हरे रंग की कल्पना कर सकता है क्योंकि उसे हरे रंग का प्रत्यक्ष हो चुका है। बालपन में बहरा हुआ व्यक्ति शब्दों की कल्पना कर सकता है क्योंकि उसके अनुभव क्षेत्र में शब्द है। संसार का प्रसिद्ध गवैया 'बीट होबन'[१] अपने पूर्ण बहरे हो

१—Beethoven.

जाने पर भी उत्तम से उत्तम संगीत का निर्माण अपनी कल्पना द्वारा करता था। उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि कल्पना की क्रिया और प्रत्यक्ष ज्ञान का कितना घनिष्ट सम्बन्ध है।

कल्पना और प्रत्यक्ष में भेद :— कल्पना और प्रत्यक्ष में उपरोक्त घनिष्ट सम्बन्ध के होते हुये भी कुछ भेद है। जिस पदार्थ का हमें प्रत्यक्ष होता है वह हमारे सन्मुख वर्तमान रहता है। हमारी वर्तमान अवस्था से उसका सम्बन्ध होता है तथा उससे हमें संवेदना प्राप्त होती है। कल्पना की क्रिया के लिए इस प्रकार की कोई सीमा नहीं है। प्रत्यक्ष ज्ञान से अर्जित हमारे अनुभव तो अवश्य हमारी कल्पना की क्रिया के आधार होते हैं पर उनको नये प्रकार से व्यवस्थित करना कल्पना का कार्य है। किसी विशालकाय भवन को देख कर हमें उसका प्रत्यक्ष होता है। हमारी ज्ञानेन्द्रियों को इस भवन से उत्तेजना प्राप्त होती है। पर इस भवन की अनुपस्थिति में भी हम इस भवन की प्रतिमा का निर्माण कर सकते हैं। यदि इस भवन की प्रतिमा ज्यों की त्यों निर्मित होती है तो उसे हम स्मरण कहते हैं, किन्तु कल्पना की क्रिया द्वारा निर्मित प्रतिमा कुछ अंशों में वास्तविक भवन से भिन्न होगी। उदाहरण के लिए कल्पना से निर्मित इस भवन में एक सुन्दर बाग हो सकता है जिसमें फूल लहलहा रहे हों। हम यह भी कल्पना कर सकते है कि भवन के किसी भाग में बैठ कर हम प्रसन्न हो रहे हैं। यह नवीन प्रतिमा प्रत्यक्ष ज्ञान से भिन्न हुई।

मूर्त्त पदार्थ की उपस्थिति में हम उसे वास्तविकता से अलग नहीं कर सकते। किन्तु कल्पना के लिये इस प्रकार की कोई सीमा नही है। हमने पक्षियों को पर फैला कर आकाश में उड़ते देखा है। हम कल्पना कर सकते हैं कि मनुष्य के भी पर लगे हों और वह पक्षियों की भाँति आकाश-मार्ग में उड़ रहा हो यद्यपि हमने इस प्रकार से मनुष्य को उड़ते नहीं देखा है। परियों की कहानियाँ कल्पना के ही आधार पर होती हैं। वायुयान का अन्वेषण भी इसी प्रकार से किसी व्यक्ति की कल्पना का फल है।

प्रत्यक्ष ज्ञान का सम्बन्ध सदैव वर्तमान से होता है। किन्तु कल्पना के लिये इस प्रकार की सीमा नहीं। प्रायः कल्पना भविष्य की ओर संकेत करती है। ऊपर भवन उदाहरण में हमारा कल्पना द्वारा निर्मित भवन वर्तमान से भी सम्बन्ध रख सकता है या भविष्य से। हमारी कल्पना ऐसी भवन की हो सकती है जिसे हम भविष्य में निर्माण करेंगे या करने की इच्छा रखते हैं। जब हम मनुष्य को पक्षी की भाँति उड़ते हुये कल्पना करते हैं तो हमारी कल्पना कदाचित् भविष्य के उस दिन का संकेत करती है जिस दिन हमारा आविष्कार इस सीमा पर पहुँच जायगा जब हम पंख लगा कर उड़ सकेंगे।

कभी कभी प्रत्यक्ष ज्ञान और कल्पना एक दूसरे के इतने निकट आ जाते हैं कि दोनों में भेद करना कठिन हो जाता है। तुम कमरे में बैठे हुये हो। तुम देखते हो कि दूसरा व्यक्ति इस कमरे में आकर कुछ कार्य कर रहा है यद्यपि ऐसी बात नहीं थी। कल्पना की इस क्रिया को तुम प्रत्यक्ष ज्ञान समझ रहे हो, किन्तु यदि तुमसे कोई कहे कि उसने किसी मनुष्य को हवा में उड़ते देखा है तो यद्यपि उस व्यक्ति का यह प्रत्यक्ष था, पर तुम इसे मानने को शीघ्र तैयार न होगे। तुम्हारा स्वयं अनुभव तो तुम्हारी वास्तविकता और अनुभव प्रणाली से मेल खाता था और इसलिए भ्रम होते हुये भी तुमने इसे प्रयक्ष समझा पर दूसरे व्यक्ति के अनुभव को तुम कल्पना कहोगे क्योंकि वह तुम्हारी आधारभूत अनुभव प्रणाली से मेल नहीं खाता।

स्वप्न में भी कुछ ऐसी ही बात होती है। यद्यपि कल्पना की क्रिया स्वप्न में भी इतनी प्रखर होती है कि जागृत अवस्था की वास्तविकता से तनिक भी मेल नहीं खाती, किन्तु स्वप्नावस्था में इनका अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान की ही भाँति होता है उस क्षण में तो हमें वास्तव में रोने हँसने गाने या उड़ने का अनुभव प्राप्त होता है।

विक्षिप्त या सनकी मनुष्यों की बातों या व्यवहारों को हम पागल की बात कह कर टाल देते हैं। पर उस विक्षिप्त मनुष्य के लिये वे बातें इतनी

ही सत्य हैं जैसे तुम्हारे लिये इस पुस्तक का पढ़ना। उसकी कल्पना की क्रिया से निर्मित पदार्थ उसकी वास्तविकता से भली प्रकार मेल खाता है इसलिये वह इन बातों को प्रत्यक्ष ज्ञान समझता है। इसका कारण यह है कि उसका व्यक्तित्व[1] छिन्न-भिन्न होता है तथा वह संसार के कठोर सत्यों के स्थान पर अपनी वास्तविकता का एक काल्पनिक संसार निर्मित कर लेता है।

ऊपर के उदाहरणों में तुमने देखा कि किस प्रकार कल्पना में प्रत्यक्ष ज्ञान का भ्रम होता है इसका उलटा भी इतना ही सत्य होता है। कभी कभी हम प्रत्यक्ष क्रिया को भी कल्पना की क्रिया समझने लगते हैं। एक प्रयोग में विषयों से कहा गया कि तुम सामने की दीवाल पर किसी दृश्य की कल्पना करो। प्रयोगकर्त्ता ने पीछे से एक अत्यन्त धुँधले दृश्य का फोकस दीवाल पर फेंका। विषयों ने समझा कि वे दीवाल पर एक दृश्य की कल्पना कर रहे हैं यद्यपि उनको यथार्थ में प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा था। इस प्रकार के बहुत से भ्रम साहित्य में पाये जाते हैं। कोई साहित्यिक यह समझता है कि उसने मौलिक रचना की है। वह ईमानदारी से इस बात का विश्वास भी करता है। यदि कोई उसे बताता है कि तुमने अमुक कल्पना अमुक स्थान से ली है तो साहित्यिक को याद नहीं होती। किन्तु उसके अचेतन में यह बातें अवश्य थीं इस प्रकार की "साहित्यिक चोरी" कभी कभी अनजाने में भी हो जाती है।

कल्पना और स्मृति

कल्पना का स्मृति से भी घनिष्ट सम्बन्ध है। किसी भी प्रकार की कल्पना तभी संभव हो सकती है जब प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा प्राप्त अनुभव को हम धारण कर सकें। जिस अनुभव को हम धारण नहीं कर सकते उसका उपयोग करना कल्पना की क्रिया के लिये संभव नहीं किन्तु स्मृति

१—Perosnality.

और कल्पना में मौलिक भेद भी हैं। स्मृति के द्वारा "विगत अनुभव—घटनाओं या परिस्थितियों की ज्यों की त्यों हमारे वर्तमान में आवृत्ति हो जाती है। साथ ही साथ व्यक्ति को यह पहचान भी रहती है कि यह स्मृति हमारे विगत अनुभव का फल है। कल्पना इस प्रकार से सीमित नहीं होती। कल्पना द्वारा हम जिस नवीन पदार्थ की रचना करते हैं उसमें या तो कई अनुभवों का मिश्रण रहता है या किसी अनुभव से बहुत सी बातें छूट जाती हैं। साथ ही साथ कभी तो हमें यह ज्ञात रहता है कि यह कल्पना हमारे अमुक अनुभव से उत्पन्न हुई है किन्तु कभी हमें अपने पुराने अनुभवों को इस नवीन रूप में पहचानना कठिन या असंभव हो जाता है। स्मृति का सम्बन्ध सर्वदा भूतकाल से होता है। किसी भी अनुभव को स्मरण करने से तात्पर्य होता है विगत अनुभवों की आवृत्ति करना, किन्तु कल्पना इस बंधन से मुक्त होती है।

इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने की है। जब हम किसी विगत अनुभव को स्मरण करने का प्रयास करते हैं तो यह सर्वदा संभव नहीं होता कि वह अनुभव हमें पूर्ण रूप से स्मरण हो जाय। "पूर्णरूप" से हमारा तात्पर्य उन सभी परिस्थितियों से है जिनसे सम्बन्धित वह अनुभव हुआ था। ऐसी दशा में स्मृति की सहायता कल्पना की क्रिया करती है इसके सहारे हम उन सभी विवरणों की पूर्ति कर लेते हैं जो स्मरण द्वारा संभव नहीं होते तथा यह संतोष प्राप्त कर लेते हैं कि हमें पुराना अनुभव पूर्ण रूप से स्मरण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्मृति भी एक प्रकार की कल्पना की क्रिया है जिसके द्वारा यह संभव होता है कि हम विगत अनुभवों को उसी तारतम्य तथा उन्हीं परिस्थितियों में स्मरण करते हैं। इस प्रकार की कल्पना को पुनरुत्पादक[१] कल्पना अथवा स्मृति भी कहते हैं। शेष सभी प्रकार की कल्पना को जिसका कार्य केवल पुनरुत्पादन नहीं होता, हम विधायक कल्पना[२] कहते हैं। वास्तव में कल्पना से प्रचलित भाषा में इसी विधायक कल्पना का बोध होता है।

१—Reproductive imagination. २—Creative imagination.

कल्पना के प्रकार

इतिहास के अध्यापक बालकों को गुप्त-कालीन सभ्यता से अवगत करा रहे हैं। अध्यापक के वर्णन, चीनी यात्रियों के वर्णन, चित्र, सिक्कों इत्यादि के आधार पर विद्यार्थी गुप्त-कालीन सभ्यता का एक काल्पनिक चित्र निर्मित करते जा रहे हैं। उन्हें यह चित्र निर्मित करने के लिये बाहर से निर्देशन प्राप्त है। इस प्रकार की कल्पना की क्रिया निर्देशन होती है। इसमें पहले मस्तिष्क ग्रहण करता है फिर काल्पनिक चित्र निर्मित होते हैं। किन्तु कल्पना की क्रिया ऐसी भी होती है जिसमें बाहर से कुछ ग्रहण करने को नहीं रहता। उदाहरण के लिये बालक से कोई ऐसी कहानी निर्मित करने को कहा जाय जिसका उसे कोई आधार न दिया गया हो। ऐसी दशा में उसकी कल्पना की क्रिया मुक्त क्रिया होगी। उपरोक्त दोनों प्रकार की कल्पनाओं के भेद को स्पष्ट करते हुये ड्रिवर[१] ने एक लेखक का उदाहरण दिया है जो एक उपन्यास लिखता है तथा एक पाठक का जो उस उपन्यास को पढ़ता हैं। लेखक और पाठक दोनों कल्पना की क्रिया करते हैं। लेखक कल्पना द्वारा आधार उत्पन्न करता है है पाठक उस आधार को ग्रहण करता है। इन आधारों को ग्रहण करके तथा उन्हें संगठित करके पाठक भी वही चित्र निर्मित करता है जो लेखक ने किया है।

विधायक कल्पना को और दो प्रकारों से भी विभाजित किया जा सकता है। (१) कृत्यसाधक कल्पना[२] (२) सौन्दर्यात्मक कल्पना[३]। यह भेद कल्पना की क्रिया के उस सीमा और नियंत्रण पर निर्भर होता है जो वाह्य संसार से इस क्रिया पर लागू होती है। ड्रिवर के अनुसार उस विधायक कल्पना का जिसके द्वारा एक बड़े पुल या नहर का नक़शा खींचा जा सकता हो या जिसके द्वारा गणित का कोई नया सिद्धान्त निकाला जा सकता हो या कोई आविष्कार किया जा सकता हो जो संसार के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण हो, दूसरी विधायक कल्पना से भेद

१—Drever. २—Pragmatic imagination. ३—Aesthetic imagination.

किया जा सकता है जिसके द्वारा एक महान् कविता या उपन्यास या कला का कार्य निर्मित किया जाता हो। पहली प्रकार की विधायक कल्पना की क्रिया पर वास्तविक जगत के तथ्यों का नियंत्रण लगा रहता है। प्रकृति तथा विज्ञान के नियम तथा उन वस्तुओं के स्वयं कुछ प्रतिबन्ध होते हैं जिनके प्रति हम उदासीन नहीं हो सकते। पुल या नहर निर्मित करते समय वाह्य संसार की अवस्था को तो ध्यान में रखना ही होगा। कल्पना की क्रिया द्वारा निर्मित पुल वास्तविक जगत के पुल से अधिक भिन्न नहीं होगा। ऐसी कल्पना नहीं की जाती जिसमें पुल कागज या रुई का बना हो या परियों के देश में बना हो। किन्तु दूसरी प्रकार की कल्पना में इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। यदि किसी प्रकार का नियंत्रण होता भी तो वह व्यक्ति की मानसिक क्रिया की सीमा का होता है जिसके आगे जाना व्यक्ति के लिये संभव नहीं।

कृत्यसाधक और सौन्दर्यात्मिक कल्पना की क्रिया में एक और महत्व-पूर्ण भेद है। कृत्य साधक कल्पना की क्रिया में तब तक सुख नहीं प्राप्त होता जब तक कार्य समाप्त न हो या समाप्त होने पर न आवे। किन्तु सौन्दर्यात्मक कल्पना में क्रिया के समय में ही व्यक्ति को अधिक सुख प्राप्त होता है।

कृत्य साधक कल्पना के और भी भेद किये गये हैं। अभिप्राय या कार्य के अनुसार कृत्य साधक कल्पना (१) सैद्धान्तिक हो सकती है या (२) व्यवहारिक। एक इंजीनियर पुल का नक़शा बनाते समय व्यवहारिक कृत्यसाधक कल्पना की क्रिया में रत रहता है। किन्तु एक वैज्ञानिक किसी तथ्य को सिद्ध तथा स्पष्ट करने में सैद्धान्तिक कृत्यसाधक कल्पना की क्रिया करता है।

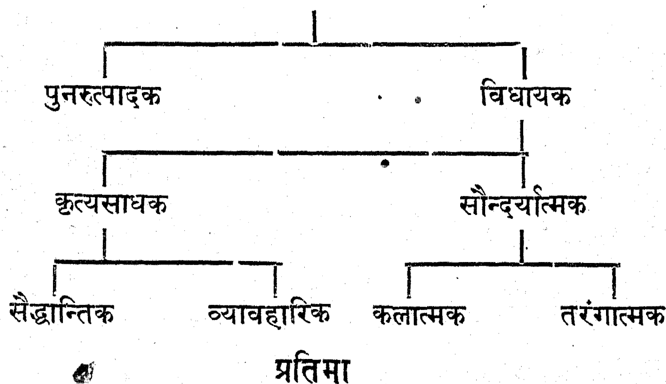
इसी प्रकार सौन्दर्यात्मक कल्पना को भी हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। (१) कलात्मक[१] तथा (२) तरंगात्मक[२]। यह दोनों प्रकार

१—Artistic. २—Fantastic.

की कल्पना की क्रियायें वाह्य जगत की सीमाओं से अधिकाधिक मुक्त होती हैं। फिर भी कलात्मक कल्पना की क्रिया में अभिप्राय का कुछ निर्देशन अवश्य रहता है जैसे किसी उपन्यास लिखने या चित्र तैयार करने में। इसके विपरीत तरंगात्मक कल्पना की क्रिया में इस प्रकार का कोई निर्देशन नहीं रहता जैसे दिवास्वप्न अवस्था में। तरंगात्मक कल्पना की क्रिया उत्पादक नहीं होती यानी इसके फलस्वरूप कुछ रचनात्मक कार्य नहीं होता। किन्तु कलात्मक कल्पना की क्रिया फल दायक होती है तथा इससे व्यक्ति और समाज दोनों का लाभ होता है।

नीचे दिये हुये चार्ट में हम ऊपर के वर्णन को संक्षेप में प्रगट कर सकते हैं।

कल्पना की क्रिया



प्रतिमा

कल्पना की क्रिया का प्रत्यक्ष ज्ञान और स्मृति से सम्बन्ध जान लेने पर प्रतिमा के निर्माण की क्रिया की सीमाओं का बोध हो जाता है। संक्षेप में यह सीमायें निम्न प्रकार की हैं :—

विस्तार की कमी

प्रत्यक्ष ज्ञान में हमारा अनुभव विस्तारपूर्ण होता है किन्तु कल्पना द्वारा निर्मित प्रतिमा में कुछ विस्तारों की कमी आ जाती है।

कल्पना द्वारा निर्मित प्रतिमायें शीघ्रता से बदलती रहती हैं। एक प्रतिमा से सम्बन्धित दूसरी प्रतिमा शीघ्र ही निर्मित हो जाती है। इसके अतिरिक्त ज्यों ही हमें ज्ञान होता है कि हम कल्पना की उड़ान उड़ रहे है त्यों ही हम स्वेच्छापूर्वक अपनी अवधान की क्रिया दूसरे विषय पर करने का प्रयत्न करते हैं।

स्थिरता की कमी

प्रायः जितना प्रत्यक्ष ज्ञान स्पष्ट होता है उतनी स्पष्ट प्रतिमा नहीं होती। प्रतिमा के अधिक भाग धुँधले रहते हैं।

स्पष्टता की कमी

स्पष्टता तथा स्थिरता होते हुये भी प्रतिमा कदाचित् ही उतनी तीव्र होती है जितना तीव्र प्रत्यक्ष ज्ञान। ऊषा के समय के दृश्य की प्रतिमा कदाचित् ही उतनी ही तीव्र हो जितना कि वास्तविक ऊषा का प्रत्यक्ष ज्ञान।

तीव्रता की कमी

प्रतिमाओं में वैयक्तिक भेद

प्रतिमाओं में सबसे प्रमुख वैयक्तिक भेद दो प्रकार का होता है। प्रथम भेद तो हमारी ज्ञानेन्द्रियों के कारण उत्पन्न होता है। प्रायः जितने प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों से हमें प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उतनी ही प्रकार की प्रतिमा-निर्मित करने में हम समर्थ होते हैं। इनका विस्तार पूर्वक वर्णन करना आवश्यक है।

दृष्टि से प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर कल्पना की क्रिया द्वारा निर्मित प्रतिमा को दृष्टि प्रतिमा कहते हैं। इसके द्वारा हम अपने विगत अनुभव को "मानसिक चक्षुओं" द्वारा देख सकते हैं तथा वर्तमान समस्या के हल करने में उनका उपयोग कर सकते हैं। बहुत से व्यक्ति विगत अनुभवों को केवल इसी लिये पूर्ण स्मरण रख पाते है कि उनकी दृष्टि प्रतिमा तीव्र होती है।

दृष्टि प्रतिमा[१]

१—Visual imagery.

श्रवणेन्द्रिय से प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर निर्मित प्रतिमा को हम ध्वनि प्रतिमा कहते हैं। इसके द्वारा सुने हुए वाक्य, संगीत इत्यादि की प्रतिमाओं का निर्माण होता है। इस प्रकार की प्रतिमा निर्मित होने पर हम वर्तमान समस्या को अपने उस विगत अनुभव के प्रकाश में देखते हैं तथा उसे हल करने का प्रयत्न करते हैं। बहुत से व्यक्ति इसी ध्वनि प्रतिमा के आधार पर अपने पुराने अनुभव को निर्मित कर अपनी कठिनाई दूर करते हैं। कुछ व्यक्तियों में ध्वनि-प्रतिमा की प्रधानता होती है। प्रायः हमारे मस्तिष्क में किसी संगीत की पूर्ण ध्वनि-प्रतिमा उपस्थित होती है यद्यपि हम उस संगीत को नहीं सकते। व्यक्ति के प्रतिदिन के जीवन में दृष्टि और ध्वनि-प्रतिमा ही विशेष रूप से पाई जाती है।

ध्वनि प्रतिमा[1]

कभी-कभी हमें किसी वस्तु के स्वाद की ज्यों की त्यों प्रतिमा उपस्थित हो जाती है तथा उसके प्रति हमारी वैसी ही प्रतिक्रिया होने लगती है।

स्वाद प्रतिमा[2]

कभी-कभी गंध की भी प्रतिमा का हम सृजन करते हैं। इसके द्वारा हमें किसी गंध का अनुभव होने लगता है यद्यपि वाह्य शक्तियों में ऐसी कोई उत्तेजना नहीं है।

गन्ध प्रतिमा[3]

कुछ व्यक्ति ऐसी भी कल्पना करते हैं जिससे उन्हें स्पर्श की संवेदना प्राप्त होती है। भारी बोझ ले जाने या बोझ के भार से मुक्त हो जाने की भी कुछ व्यक्ति कल्पना कर सकते हैं। कुछ व्यक्तियों को गर्मी या ठंडक की भी कल्पना होती है।

स्पर्श प्रतिमा[4]

कभी कभी किसी कार्य के करने में गति की भी कल्पना होती है। व्यक्ति को ऐसा प्रतीत होता है मानो वह कार्य कर रहा है और गति का अनुभव कर रहा है।

गत्यात्मक प्रतिमा[5]

१—Auditory imagery. २—Gastitutary imagery. ३—Olfactory imagery. ४—Tactile imagery. ५—Motile imagery.

उपरोक्त प्रकार की प्रतिमायें भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न भिन्न परिणाम में पाई जाती हैं। किसी व्यक्ति में दृष्टि-प्रतिमा की प्रधानता है तो किसी में ध्वनि प्रतिमा की। किसी को रस या स्वाद की अधिक कल्पना होती है तो किसी को गन्ध की। इस प्रकार भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न भिन्न प्रकार की प्रतिमाओं की प्रचुरता होती है। इससे यह तात्पर्य नहीं है कि एक व्यक्ति एक ही प्रकार की प्रतिमा निर्मित कर सकता है। वह एक या कई प्रकार की कल्पना करने में समर्थ हो सकता है। हाँ उसकी दक्षता सभी प्रकार की प्रतिमाओं में समान नहीं हो सकती। इस वैयक्तिक भेद के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी भेद होता है। कुछ व्यक्तियों की प्रतिमायें अधिक तीव्र, स्पष्ट तथा विवरण पूर्ण होती हैं तथा कुछ की अधूरी, धुँधली या विवरण रहित होती हैं। एक ही व्यक्ति में कुछ ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त प्रतिमायें अपेक्षाकृत अधिक तीव्र, स्थिर या विवरण पूर्ण होती हैं तथा कुछ से प्राप्त प्रतिमायें ऐसी नहीं होती।

दूसरे प्रकार का भेद मूर्त्त पदार्थ[1] और शाब्दिक प्रतिमा का होता है। कुछ व्यक्तियों की कल्पना-क्रिया में पूर्त्त पदार्थ उपस्थित हो जाता है तो कुछ को केवल उसके शब्दों की प्रतिमा उपस्थित होती है। कुछ व्यक्ति को हाथी कहने पर हाथी जानवर की प्रतिमा उपस्थित होगी तो कुछ को केवल हाथी की प्रतिमा होगी। बढ़ई का नाम लेने से किसी को बढ़ई की अपनी दूकान पर लकड़ी पर काम करते हुये की कल्पना होगी तो किसी को केवल बढ़ई शब्द की प्रतिमा उपस्थित होगी।

अभी तक हमने प्रतिमा के क्षेत्र में स्थित वैयक्तिक भेद का अध्ययन किया है। यहाँ पर अब हम प्रतिमाओं के भेदों का अध्ययन करेंगे।

मूर्त्त पदार्थ से उत्तेजित होकर संवेदना प्राप्त होने की क्रिया समाप्त हो जाने पर भी कुछ क्षण तक हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उसी संवेदना का अनुभव करती हैं। ऐसी प्रतिमा को हम अनुबिम्ब या उतर-प्रतिमा कहते हैं।

१—Concrete object.

इस प्रकार की प्रतिमा मूर्त्त पदार्थ की अनुपस्थिति के बाद कुछ ही सेकेण्ड या मिनट तक रहती है। अन्य प्रकार की प्रतिमायें बहुत दिनों के बाद भी निर्मित हो सकती हैं।

(१) अनुबिम्ब या उत्तरप्रतिमा[1]

ऐसी प्रतिमायें जो प्रत्यक्ष ज्ञान से अधिक मिलती जुलती हों तथा जो उतनी ही तीव्र, विवरण पूर्ण और स्थिर हों आइडेटिक-प्रतिमा कही जाती हैं। इस प्रकार की प्रतिमा बालकों में अधिक पाई जाती हैं।

(२) आइडेटिक-प्रतिमा[2]

आलपोर्ट[3] ने एक प्रयोग में बालकों को एक चित्र ३५ सेकेण्ड तक दिखलाया। इस चित्र की प्रतिमा के आधार पर बालक चित्र के बहुत से विवरणों को ज्यों का त्यों बताने में समर्थ हुये थे। कुछ बालकों ने चित्र के एक भवन पर लिखित जर्मन भाषा के वाक्य को भी बता दिया। इस प्रकार की ध्वनि प्रतिमा भी होती है। किसी मधुर संगीत के सुन लेने के बाद तुम्हें यह अनुभव हुआ होगा कि कई घण्टों या दिन तक वह संगीत और लय ज्यों की त्यों तुम्हारे मस्तिष्क में घूम रही है।

स्मृति प्रतिमा और उपर्लिखित आइडेटिक प्रतिका में केवल इतना भेद होता है कि स्मृति प्रतिमा में स्पष्टता तथा विवरणों की विशेष कमी होती है। इसीलिये स्मृति से निर्मित प्रतिमायें प्रत्यक्ष ज्ञान से कम से कम मिलती जुलती हैं। किन्तु जीवन में अन्य प्रतिमाओं की अपेक्षास्मृति-प्रतिमा का बाहुल्य होता है। स्मृति से निर्मित प्रतिमाओं में देश और काल का भी स्मरण रहता है। हम यह जानते हैं कि यह अनुभव हमें कहाँ और कैसे प्राप्त हुआ था। कभी कभी हमें इसका यदि ज्ञान भी नहीं रहता है तो कम से कम उसे पहचानते अवश्य हैं।

(३) स्मृति प्रतिमा[4]

१—After images. २—Eidetic images. ३—Allport. ४—Memory images.

हम ऊपर पढ़ आये हैं कि स्मृति से निर्मित प्रतिमायें पूर्ण रूप से हमारे प्रत्यक्ष अनुभव की प्रतिमा नहीं होती। उनमें कल्पना की क्रिया अवश्य वर्तमान रहती है। इसलिये स्मृति-प्रतिमा और काल्पनिक प्रतिमा में भेद करना कठिन है फिर। भी सुगमता के विचार से हम उस प्रतिमा को जो हमारे किसी प्रत्यक्ष ज्ञान से अधिक से अधिक मिलती हो, स्मृति-प्रतिमा कहेंगे और उस प्रतिमा को जिसमें या तो कई प्रत्यक्षों के भागों का सम्मिश्रण या तोड़- जोड़ रहता है काल्पनिक प्रतिमा कहेंगे।

(४) काल्पनिक प्रतिमा।[1]

काल्पनिक प्रतिमा में बिलकुल ही नवीन कोई बात नहीं रहती। केवल अनुभव के भागों में एक नया सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं बिना अनुभव के कल्पना की क्रिया असंभव होती है। उदाहरण के लिये हमने मनुष्य देखा है तथा मछली भी देखी है। इन दोनों अनुभवों को जोड़ कर हम ऐसे मनुष्य की कल्पना कर सकते है जिसमें उसका ऊपर का भाग मनुष्य का हो पर नीचे का भाग मछली का। हम एक सिर का मनुष्य देखते हैं। उसके आधार पर हम चार सिर या दस सिर वाले मनुष्य की कल्पना कर सकते हैं। स्वर्ग की भी कल्पना कुछ इसी प्रकार की होती है। संसार की सभी सुन्दर और सुखप्रद वस्तुओं के एक भारी जमघट को हम स्वर्ग में देखते हैं।

मनुष्य के जीवन में स्मृति और काल्पनिक-प्रतिमा की ही प्रचुरता रहती है। इन्हीं के द्वारा हम अपने विचारों को चेतना में लाकर समस्याओं का हल करने का प्रयत्न करते हैं। यदि हमसे कहा जाय कि एक तीन इंच वर्ग के लकड़ी के टुकड़े को चारों ओर से रंग कर एक इंच वर्ग के टुकड़े में काट दिया जाय तो कितने टुकड़े एक ओर रंगे होंगे कितने दो, कितने तीन या चार ओर। इस प्रश्न को हल करने में हम काल्पनिक प्रतिमा का सहारा लेंगे। कल्पना द्वारा हम प्रत्येक एक इंच वर्ग

१—Imagination images.

वाले टुकड़े की कल्पना करेंगे और उस के रंगों की कल्पना कर प्रश्न हल करेंगे। यदि एक चौकोर को दूसरे चौकोर पर रखा जाय तो पहले चौकोर में स्थित एक विन्दु दूसरे चौकोर पर कहाँ होगा ? यदि प्रश्न इस प्रकार का हुआ तो हम पुनः कल्पना द्वारा उस चौकोर पर पहिला चौकोर रखने की कल्पना करेंगे तथा इस प्रकार उस विन्दु की भी कल्पना कर प्रश्नहल करेंगे।

(५) स्वप्न

स्वप्न की प्रतिमाओं की एक अलग ही सृष्टि होती है। कभी-कभी तो इन स्वप्नों में हमारे विगत अनुभव ज्यों के त्यों दोहरा दिये जाते हैं तथा कभी कभी भयानक विकृत या वास्तविकता से बिलकुल दूर के स्वप्न भी दिखलाई देते हैं। प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि निद्रित अवस्था में यदि कोई वाह्य उत्तेजना दी जाय तो उससे भी स्वप्न आता है। निद्रावस्था में व्यक्ति का ध्वनि, स्पर्श ठंडक या ताप की उत्तेजना देने से स्वप्न आते हैं। उदाहरण के लिये प्रयोगों में यह देखा गया कि निद्रित अवस्था में सोते हुये व्यक्ति के मुँह के सहलाने से उसे मकड़ी से काटे जाने या सर दर्द या किसी झगड़े में मुँह पर पीटे जाने का स्वप्न दिखलाई दिया। अधिकतर हमें उन परिस्थितियों और घटनाओं का स्वप्न आता है जो हमारे जीवन में अभी हाल ही में घटित हुई हैं। जिन घटनाओं का हमारे ऊपर तीव्र प्रभाव पड़ा है उनका स्वप्न दिखलाई देना स्वाभाविक है। कभी कभी जागृत अवस्था में हम जिन प्रश्नों का विचार करते रहते हैं उनके बारे में स्वप्न दिखलाई देता है और कभी कभी इन स्वप्नों ही में हम उनका हल निकाल लेते हैं। विस्मृत या बहुत दिन के बीते हुये अनुभव ज्यों के त्यों स्वप्न में कम दिखालाई पड़ते हैं। हाँ उनके कुछ हिस्से किसी दूसरे रूप में उपस्थित होते हैं।

उपरोक्त वाह्य उत्तेजना या विगत घटनाओं के अतिरिक्त हमें अपनी असंतुष्ट इच्छाओं का अधिक स्वप्न दिखलाई देता है। मनः विश्लेषण के जन्मदाता डा० फ्रायड[१] का मत है कि व्यक्ति अपनी बहुत सी

१—Freud.

इच्छाओं के असंतुष्ट रह जाने पर उनका दमन कर देता है। यह इच्छायें इतनी घृणित तथा लज्जा जनक होती हैं कि जागृत अवस्था में उनका सोचना भी हमारे लिये कठिन होता है। किन्तु दमन कर दिए जाने पर वे इच्छायें हमको बिलकुल छोड़ नहीं देतीं। वे हमारे अचेतन में वर्तमान रहती हैं। जब निद्रित अवस्था में हमारी नैतिक बुद्धि अपेक्षा कृत अकर्मण्य हो जाती है तो यह असंतुष्ट इच्छायें तरह तरह के भेष बदल कर चेतना में आने का प्रयत्न करती हैं। इनका भेष इस लिये बदला रहता है कि यदि अपनी असली दशा में आवें तो यह इतनी घृणित और लज्जास्पद होती हैं कि निद्रित अवस्था में भी हमारी नैतिक बुद्धि इन्हें स्वीकार करने को तैयार नहीं होती, फलतः हम जाग उठते हैं। इस लिये इन्हें तरह तरह का रूप धारण करना पड़ता है। डा० फ्रायड का मत है कि हम वासना संबंधी इच्छाओं का ही अधिक दमन करते हैं। इसी लिये हमारे स्वप्नों में जो इच्छायें रूप बदल कर आती हैं वे सभी हमारी वासनाओं के बदले हुये रूप होते हैं। इसी सिद्धान्त पर उसने स्वपन में आने वाली अधिकतर वस्तुओं की व्याख्या वासना संबंधी संकेतों[1] से की है। हम फ्रायड के सिद्धान्त से पूर्ण रूप से सहमत हों या न हों पर हमें यह मानना पड़ेगा कि हमारी अपूर्ण इच्छायें ही अधिकतर स्वप्नों में पूर्ण होती दिखलाई पड़ती हैं।

(६) *सम्मोहन प्रतिमा*[2] :— इस प्रकार की प्रतिमायें उस अवस्था में उत्पन्न होती हैं जब हम जागृत से सोती अवस्था में प्रवेश होते हैं। इस अर्धनिद्रित अवस्था में हमें बहुत सी कल्पनायें आती हैं जो बिलकुल वास्तविक प्रतीत होती हैं तथा जो स्पष्ट और तीव्र होती हैं।

प्रतिमाओं का जीवन में उपयोग

तुम ऊपर पढ़ चुके हो कि मनुष्य के भिन्न-भिन्न कार्य क्षेत्रों में भिन्न भिन्न प्रकार की प्रतिमायें उत्पन्न होती हैं। यह प्रतिमायें हमारी प्रतिक्रिया

१—Symbolism. २—Hypnogogic images.

की एक अंग होती हैं। यदि उत्तेजना ऐसी हुई कि हमारी प्रतिक्रिया तुरंत आरम्भ हो जाती है और हम कार्य करने लगते हैं तो ऐसी दशा में कम से कम प्रतिमायें निर्मित होती हैं। किन्तु यदि उत्तेजना ऐसो हुई जिसमें तुरन्त प्रतिक्रिया करने में बाधा होती है तो प्रतिमायें उत्पन्न होने लगती हैं। यदि कार्य ऐसा हुआ जिसमें हम दक्ष हो गये हैं या हमारी आदत पड़ गई हो तो प्रतिमाओं के उत्पन्न होने का कोई प्रयोजन नहीं। तुम जिस रास्ते से रोज कालेज जाते हो उस पर जाने से तुम्हें कोई प्रतिमा नहीं उत्पन्न होती क्योंकि तुम्हारी आदत इस ओर से आने जाने की पड़ गई है। किन्तु तुम यदि ऐसे रास्ते से जाओ जिसका पूरा ज्ञान तुम्हें नहीं है या जिस रास्ते से तुम केवल एक या दो बार ही आये हो तो तुम्हें इस समस्या के हल में प्रतिमायें उत्पन्न होंगी। तुम कल्पना करोगे कि अमुक मकान के पास से गली मुड़ती है। आगे चल कर एक मैदान होगा, फिर पेड़ होगा, उसके दाहिने ओर बड़ा फाटक होगा और फिर तुम्हारा कालेज होगा। इन प्रतिमाओं को निर्मित कर तुम अपने पुराने अनुभव की आवृत्ति करते हो तथा उसके द्वारा अपनी समस्या हल करते हो, वास्तव में प्रतिमाओं के द्वारा ही हम अपने विगत अनुभव को वर्तमान में अच्छी प्रकार ला सकते हैं। नई समस्याओं में वाह्य प्रयत्न और भूल[१] द्वारा समस्या हल करने के पहले मानसिक प्रयत्न-और भूल द्वारा हम समस्या हल करने का प्रयत्न करते हैं तथा इस बात पर विचार करते है कि कौन सा उपाय अधिक सफल होगा। इन प्रतिमाओं द्वारा हमारा अनुभव हमारी सहायता करता है। तुमने इन प्रतिमाओं के आधार पर तीन इंच वर्ग के टुकड़ों की समस्या हल की थी। यदि ऐसा ही चार इंच वर्ग का टुकड़ा हो तो तुम तीन इंच वर्ग वाले हल की रीति से इस प्रश्न में सहायता लोगे।

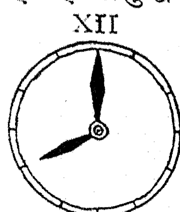
समस्याओं का हल

१—Trial and error.

उपरोक्त वर्णन से यह न समझना चाहिये कि प्रत्येक समस्या या नई परिस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिमायें उत्पन्न होती हैं। कुछ क्षेत्रों में प्रतिमा के बिना सफलता प्राप्त करना दुष्कर प्रतीत होता है किंतु उनमें भी ऐसे सफल व्यक्ति हुये हैं जिनमें किसी भी प्रकार की प्रतिमा उत्पन्न नहीं होती। साधारणतः चित्रकार या रेखागणित के विद्यार्थी को अपने कार्य में सफल होने के लिये प्रतिमा का उपयोग करना आवश्यक होता है। पर इन क्षेत्रों में काम करने वाले कुछ सफल व्यक्तियों ने यह बताया है कि उनमें कभी भी प्रतिमायें नहीं आतीं।

यदि तुम प्रतिमा का प्रयोगात्मक अध्ययन करना चाहते हो तो बुद्धि-परीक्षा का निम्नलिखित प्रश्न हल करो :— साथ के चित्र में एक घड़ी का शीशे में प्रतिबिम्ब दिखलाई दे रहा है। इस घड़ी के XII को छोड़कर सब अंक मिट चुके हैं। तुम बतलाओ कि असली घड़ी में क्या बजा है।

प्रयोग



चित्र सं० १३

प्रश्न के हल करने के बाद यदि तुम आत्म निरीक्षण करो तो तुम्हें ज्ञात होगा कि तुम प्रतिमा निर्मित करते थे। तुमने वास्तविक घड़ी की प्रतिमा निर्मित की फिर उसके प्रतिबिम्ब की प्रतिमा निर्मित की। उसके अंकों को ठीक स्थान पर बैठाया और इस प्रकार समस्या का हल निकाला। दृष्टि प्रतिमा प्रधान व्यक्ति इस प्रश्न को सुगमता से हल कर कर सकता है। कभी कभी ऐसा भी देखा गया है कि दृष्टि-प्रतिमा प्रधान व्यक्ति को अन्य प्रश्न हल करने में बाधा उपस्थित होती है। यदि तुम पढ़ने बैठे हो और तुम्हें बार बार क्रिकेट के मैदान की दृष्टि प्रतिमा उपस्थित होती है तो निश्चय ही तुम्हें पढ़ने में कठिनाई उपस्थित होगी। इसलिये उन्हीं प्रतिमाओं से हमें लाभ होता है जो हमारे वर्तमान प्रश्न के लिये उपयुक्त हों तथा हमारे विगत अनुभवों पर आधारित हों।

कल्पना का विकास

बालकों के लिये खेल अत्यन्त स्वाभाविक है। बालक खेल की ओर केवल इसी लिये आकृष्ट नहीं होता कि उससे उसे प्रसन्नता प्राप्त होती है वरन् खेलों के द्वारा उसकी महत्वपूर्ण शारीरिक तथा मानसिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति होती है।

खेल

खेल के द्वारा उसके शारीरिक तथा मानसिक विकास में सहायता प्राप्त होती है। जिन बालकों को आवश्यकतानुसार खेलने का अवसर नहीं प्राप्त होता तो उनके व्यवहार में अन्य बालकों की अपेक्षा कुछ विचित्रता आ जाती है तथा उनकी कल्पना क्रिया को पूर्ण रूप से विकसित होने का अवसर नहीं प्राप्त होता।

अपने जीवन के प्रथम कुछ मास में तो बालक केवल खेल की वस्तुओं को पकड़ता है, उन्हें अपने मुख की ओर ले जाता है, इधर उधर घुमाता है तथा उन्हें फेंकने का प्रयत्न करता है। किन्तु बालक के इस व्यापार में उसके जीवन की अत्यन्त महत्व पूर्ण प्रति-क्रियायें प्रस्फुटित होती हैं। ज्यों ज्यों बालक का विकास होता है त्यों त्यों उसके खेलने का ढंग बदलता जाता है। वह अब खेल की वस्तु को केवल हिला डुला कर संतुष्ट नहीं हो जाता वरन् उसको तोड़ने का प्रयत्न करता है या उसे फेंक कर उठा लेने की धुन में रहता है। शीघ्र ही वह इस प्रकार के खेल को छोड़कर दूसरी प्रकार का खेल खेलने लगता है। अपने दोनों पैरों के बीच एक लकड़ी डाल कर वह घोड़े की सवारी का आनन्द प्राप्त करता है। गुड्डे को नोच कर वह दूसरों के प्रति अपना क्रोध प्रकट करता है। कागज के एक टुकड़े को पतंग समझ कर उड़ाता है। उसके लिए मिट्टी का ठीकरा पैसा हो जाता है। दो लकड़ियों को जोड़ कर वह छाता बना लेता है। अर्थात् उसके खेलों का धीरे धीरे काल्पनिक अर्थ होने लगता है तथा उसमें काल्पनिक खेलों का प्रादुर्भाव होता है। बालक के अनुभव का ज्यों ज्यों विस्तार होता है त्यों त्यों उसकी कल्पना क्रिया

काल्पनिक खेल का विकास

विस्तार और प्रखर होती जाती है। स्कूल से लौटते समय उसे प्रतीत होता है कि उसके पीछे पीछे एक परी आ रही है। इसे वह इतना सत्य समझता है कि घर आकर अपनी माता से कह देता है। घर के कुत्ते तथा पालतू जानवर उसके मित्र हो जाते हैं। किस्से कहानियों या ड्रामा इत्यादि में उसकी कल्पना-क्रिया अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। प्रायः सभी विद्वान् इस बात पर एक मत हैं कि बालकों तथा अन्य उच्च श्रेणी के जीव धारियों में खेलने की प्रवृत्ति जन्मजात तथा स्वाभाविक होती है। खेल से हमारा तात्पर्य व्यक्ति की उस क्रिया से है जो व्यक्ति केवल उसी क्रिया के निमित्त करता है तथा उससे दूसरा मतलब निकालने का प्रयत्न नहीं करता और जिसमें किसी भी प्रकार का दबाव नहीं होता। कार्लग्रूस[1] का कथन है कि खेल द्वारा प्रकृति बालकों को अपनी शक्तियों को उपयोग करने की शिक्षा का अवसर देती है। दूसरे शब्दों में खेल बालक की मूल प्रवृत्तियों की शिक्षा का एक स्कूल है। मैकडूगल[2] के अनुसार खेल में कोई एक मूल प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि खेल के साथ कोई विशिष्ट संवेग नहीं होता जो अन्य सभी मूल प्रवृत्तियों के साथ होता है। उदाहरण के लिये खेल में कुत्ते एक दूसरे को काटते हैं और क्रोध प्रकट करते हैं पर यह सब वास्तविक नहीं होता। जहाँ वास्तविक क्रोध प्रकट हुआ वहीं खेल समाप्त हो जाता है। साथ ही साथ मूल प्रवृत्ति के साथ किसी लक्ष्य का भी होना आवश्यक है। खेल के साथ इस प्रकार का कोई लक्ष्य नहीं होता। खेल तो केवल स्वान्तः सुखाय खेला जाता है। इस लिये मैकडूगल का कथन है कि बालक में उसकी आवश्यकता से अधिक शक्ति होती है जिसे किसी न किसी प्रकार व्यय होना चाहिये। वह स्टैनली हाल[3] के अतिरिक्त-शक्ति[4] के सिद्धान्त का समर्थन करता

खेल के सिद्धान्त

१—Carl Groos. २—Mc Dougall. ३—Stanley Hall. ४—Surplus energy.

[redacted]

है। बालक इस अतिरिक्त शक्ति को खेल द्वारा व्यय करता है। यदि इस सिद्धान्त को मान भी लिया जाय तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या बालकों का खेल इतना विश्रृंखल होता है जिससे किसी भी प्रकार उसकी अतिरिक्त शक्ति व्यय हो जाय। जिसने भी बालकों के खेल को तनिक भो ध्यान पूर्वक देखा है उसे यह स्पष्ट होगा कि उसकी अतिरिक्त शक्ति तो व्यय अवश्य होती हैं पर साथ ही साथ वह अचेतन रूप में कार्य करना सीखता रहता है। यह सीखना परोक्ष रूप से होता है जिससे बालक के खेल का आनन्द नष्ट नहीं होता। धीरे धीरे खेलों द्वारा बालक की मानसिक तथा संवेगात्मक आवश्यकतायें भी प्रकट होती हैं तथा उनके द्वारा वह उनकी पूर्त्ति का भी प्रयास करता है। प्रौढ़ व्यक्तियों को अपनी भावनाओं और संवेगों को प्रकट करने के लिये अन्य साधन उपलब्ध हैं पर बालक न तो अधिक बोल सकता है तथा न वाह्य शक्तियों का मुकाबिला कर सकता है। वह अपने संवेगों को इन्हीं खेलों द्वारा प्रकट करता है तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति का प्रतिरूपात्मक संतोष[1] प्राप्त करता है।

इच्छा पूर्ति

व्यक्ति में जब कोई इच्छा या आवश्यकता उत्पन्न होती है तो उसके कारण उसमें तनाव उत्पन्न होता है और जब तक इस तनाव का शमन नहीं होता उसका शक्ति संतुलन भ्रष्ट रहता है तथा उसे बेचैनी होती है। इस तनाव का शमन तो इच्छा पूर्त्ति द्वारा सबसे सुगम होता है, किन्तु संसार की वास्तविक स्थिति में ऐसा होना सर्वदा संभव नहीं। ऐसी दशा में व्यक्ति अपनी कल्पना की क्रिया द्वारा अपनी इच्छाओं की प्रतिरूपात्मक पूर्त्ति करता है तथा संतोष प्राप्त करता है। इस प्रकार उसके तनाव में कमी आ जाती है। यदि किसी छोटे बालक को किसी बड़े बालक ने पीट दिया हो तो इस बालक में क्रोध और बदला लेने की इच्छा उत्पन्न होगी।

१—Substitute satisfaction.

कमजोर होने के कारण यह बदला नहीं ले सकता। ऐसी दशा में उसे कभी यह कल्पना होती है कि वह बहुत बड़ा और मजबूत हो गया है और अपने विरोधी को बुरी तरह से पीट रहा है तो कभी यह कि उस बड़े लड़के को किसी और बड़े लड़के ने पीटा है और उसे संतोष प्राप्त हो रहा है। बालकों में इस प्रकार की इच्छा पूर्त्ति की कल्पनायें अधिक उत्पन्न होती हैं, पर प्रौढ़ों में भी इसकी कमी नहीं रहती जब बालक इस प्रकार की कल्पनाओं का निर्माण करता है तो वह अपने वातावरण से स्वतंत्र हो जाता है क्योंकि एक तो उसे कल्पना की क्रिया में किसी वस्तु के उपस्थित होने की आवश्यकता नहीं होती दूसरे वह इसका निर्माण अपनी इच्छानुसार चाहे जैसे कर सकता है।

खेल और दिवा स्वप्न[1]

जैसा कि हमने ऊपर देखा बालक का संसार में क्षण-क्षण पर विरोध होता रहता है। वह अपनी मन मानी नहीं कर सकता, पर खेल के संसार में वह मुक्त है। लड़की अपनी गुड़ियों को जैसे चाहे बैठाती उठाती, नहलाती, खाना खिलाती, सुलाती, हँसाती या रुलाती है। इस कार्य में वह माँ से मुक्त होने का संतोष प्राप्त करती है। पिता की शक्ल से मिलते हुये खिलौने को तोड़ कर बालक अपने पिता के प्रति क्रोध को शान्त करता है। इस प्रकार धीरे धीरे संसार की वास्तविकता से भाग कर एक कल्पना की दुनियाँ में पहुँचा करता है। अपने साथी से खेल में हार जाने पर वह कल्पना में देखता है कि दूसरे दिन वह उस खेल में अपने विरोधी को बुरी तरह हरा रहा है। पेड़ के नीचे बैठकर वह देखता है कि वह इस संसार से उड़कर परियों के देश में पहुँच गया है जहाँ उसकी आवश्यकतानुसार सभी वस्तु उपलब्ध हैं। कल्पना की इस क्रिया को हम दिवा स्वप्न कहते हैं। दिवा-स्वप्न भी एक प्रकार का खेल है जो मानसिक तथा शारीरिक होता है तथा व्यक्ति की तत्कालीन आवश्यकताओं

१—Day dream.

से उत्पन्न तनाव के कारण होता है। दिवा स्वप्न अधिकतर भविष्य से ही सम्बन्ध रखता है। इसके द्वारा हम भविष्य का निर्माण करते हैं जो वास्तविक संसार में हमेशा कार्यान्वित नहीं हो सकता पर काल्पनिक जगत में पूर्ण रूप से कार्यान्वित होकर व्यक्ति को संतोष प्रदान करता है। इसका पूर्ण विवरण व्यक्तित्व के अध्याय में किया जायगा।

कल्पना का जीवन में उपयोग

यदि कल्पना का उपयोग अच्छी प्रकार से किया जाय तो इससे सुख प्राप्त होता है। जो व्यक्ति कल्पना द्वारा कहानियाँ, प्रहसन, कविताओं आदि की रचना करते हैं उन्हें वास्तविक सुख प्राप्त होता है। प्रत्येक रचनात्मक कार्य के लिये कल्पना का होना आवश्यक है और ऐसे प्रत्येक कार्य से सुख प्राप्त होता है।

सुख

सामाजिक विकास में भी कल्पना सहायक होती है। यदि हम कल्पना का सहारा लें तो यह समझ सकते हैं कि दूसरे लोग क्या सोच या अनुभव कर रहे हैं। हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि किसी कार्य विशेष के करने से दूसरों पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा या उनकी क्या प्रतिक्रिया होगी। उसी के अनुसार हम अपने कार्यों को पुनःव्यवस्थित कर सकते हैं। दूसरों के प्रति सहानुभूति होने के लिये भी कल्पना का क्रियाशील होना आवश्यक है। सामाजिक या आर्थिक उन्नति के लिये भी कल्पना का होना आवश्यक है। कल्पना की क्रिया द्वारा ही अब्राहम लिंकन[1] ने अमेरिका में दासों की दुर्दशा को पूर्णरूप से समझा और इस कुप्रथा को अन्त करने के लिये अपने प्राणों की बाजी लगा दी। कल्पना द्वारा ही विश्व बंदनीय महात्मा गाँधी ने भारतीयों की दुर्दशा

सामाजिक विकास

१—Abraham Lincoln.

का पूर्ण अनुभव किया होगा और इस लिये देश को स्वतंत्र कराने का संकल्प किया होगा। नेताओं के लिये कल्पना का होना अत्यन्त आवश्यक है।

जैसा ऊपर कहा गया है, अन्वेषण कृत्य साधक तथा व्यवहारिक कल्पना की क्रिया का फल होता है। अन्वेषण में कल्पना की क्रिया सर्वथा मुक्त या दिवा स्वप्न की भाँति नहीं होती, इसे

कल्पना और अन्वेषण[1]

बाह्य संसार आवश्यकताओं के अनुकूल, विषयात्मक तथा प्रयोगात्मक होना पड़ता है। इस नियंत्रण के होते हुये भी कल्पना का अन्वेषण में अधिक महत्व होता है। इन नियं-त्रणों का उपयोग करते हुये हम केवल कल्पना की क्रिया द्वारा ही अन्वे-षण के प्रत्येक पद की प्रतिमा उपस्थित कर सकते हैं तथा उन्हें व्यवहा-रिक रूप में लाने में सफल हो सकते हैं। यदि अध्ययन किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि बड़े बड़े अन्वेषकों की कल्पना की क्रिया अत्यन्त प्रखर और तीव्र होती है। अन्वेषकों को अपने कार्य में खेल ही जैसा सुख प्राप्त होता है। यह अवश्य है कि अन्वेषक के सामने एक लक्ष्य होता है क्योंकि जैसा एक कहावत में कहा गया है 'आवश्यकता आवि-ष्कार की जननी है, किन्तु इस आवश्यकता से अन्वेषक की केवल इच्छा की तीव्रता ज्ञात होती है। अन्वेषण की वस्तु की एक धुँधली रूप रेखा उसके सामने रहती है। वह उसके बारे में सोचता रहता है या कार्य करता रहता है जब यकाएक उसे कहीं से नया प्रकाश प्राप्त होता है जिसके सहारे वह अपना अन्वेषण पूरा करता है। नया प्रकाश उसे कहीं बाहर से नहीं प्राप्त होता। यह उसकी ही मानसिक प्रतिक्रिया है जो इतनी शीघ्र घटित होती है कि उसका आत्म निरीक्षण करना उसके लिये संभव नहीं होता। यह उसकी कल्पना की क्रिया की तीव्रता या प्रखरता होती है।

१—Invention.

अन्वेषकों को स्वयं भी पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं होता कि उनकी कल्पना की क्रिया अन्वेषण में किस प्रकार कार्य करती है।

अन्वेषण क्रिया

कुछ अन्वेषकों के अनुभव के आधार पर उडवर्थ[1] ने अन्वेषण के पहले की क्रिया को निम्नलिखित चार भागों में विभक्त किया है।

(१) *तैयारी*[2] :— इस अवस्था में अन्वेषण के प्रश्न पर सभी दृष्टिकोण से विचार किया जाता है। अन्वेषण के लिये सभी आवश्यक सामग्रियाँ प्रस्तुत की जाती हैं। किन्तु समस्या का हल नहीं प्राप्त होता। इस अवस्था की अवधि अधिक लम्बी हो सकती है। पहले तो प्रश्न की अवाश्यकता या औचित्य पर अधिक ध्यान दिया जाता है। सभी दृष्टि कोणों से उसका औचित्य निर्धारित किया जाता है। फिर इस प्रश्न से संबंधित सभी उपलब्ध साधन एकत्रित किये जाना तथा उनका विभाजन और पूर्ण रूप से ग्रहण किया जाना भी आवश्यक होता है। समस्या के हल करने का प्रयत्न किया जाता है। एक के बाद कई हलों की परीक्षा की जाती है तथा अन्त में अनुपयुक्त समझकर छोड़ दिया जाता है। यह अवधि भिन्न भिन्न अन्वेषकों के लिये भिन्न भिन्न होती है।

(२) *धारण*[3] :— इस अवस्था में चेतन रूप से समस्या को हल करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। फिर भी इस अवस्था के बाद ही हल प्राप्त हो जाता है। कहा जाता है कि इस अवस्था में हमारा अचेतन मन कार्य करता रहता है और इस प्रकार हल निकाल लेता है। उडवर्थ के अनुसार दूसरा कारण भी संभव हो सकता है। तैयारी की अवस्था में बहुत सी ऐसी बातें भी एकत्रित हो जाती हैं जो अन्वेषण के प्रश्न पर एकाग्र विचार करने में बाधा उपस्थित करती हैं। धारण के काल में इन व्यर्थ की सभी बातों की प्रबलता कम हो जाती है। जब कि प्रश्न पर नये रूप से विचार करने के लिये अब व्यक्ति तैयार होता है तो उसके सन्मुख बहुत सी बातें स्वयं स्पष्ट हो जाती हैं।

१—Woodworth. २—Preparation. ३—Iucubation.

(३) *प्रकाश*[1] :— प्रश्न के हल पर एकाएक एक नया प्रकाश पड़ता है और समस्या हल हो जाती है। यह उस प्रकार का अनुभव है जिसमें हम कह उठते हैं "मार लिया है" "अहा हा आ गया"। इत्यादि इस अवस्था में यह नहीं होता कि समस्या का पूर्ण हल ही एक क्षण में हो जाता है। हाँ जो नया प्रकाश पड़ता है। वह अन्वेषक को पूर्ण रूप से प्रभावित कर देता है तथा उस प्रकाश में कार्य करके समस्या का हल प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार की मुग्ध-विचारधारा कभी-कभी कई मिनटों तक रहती है।

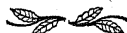
(४) *परीक्षा*[2] *या विस्तार* :— इस अवस्था में 'प्रकाश' की परीक्षा की जाती है तथा उसके विस्तार और विवरणों की पूर्त्ति की जाती है।

कल्पना और कला

हम ऊपर कह आये हैं कि किसी कलात्मक कार्य की रचना करने तथा उसका आनन्द लेने के लिये कल्पना आवश्यक है। उपन्यास वाले उदाहरण में हमने देखा कि लेखक, चरित्र और घटनाओं तथा दृश्यों आदि के निर्माण में कल्पना की क्रिया के द्वारा पाठक इस निर्मित चित्र को ग्रहण करता है तथा वही सुख प्राप्त करता है जो लेखक प्रायः चाहता है। अन्य प्रकार के कलाकारों का भी यही कार्य होता है। कला की वस्तुओं का संबंध हमारी बुद्धि से अवश्य रहता है। उदाहरण के लिये बुद्धि और ज्ञान की कमी होने से हम बहुत सी कविताओं और चित्रों को न तो पूर्ण रूप से समझ सकते हैं और न उनका आनन्द ही प्राप्त कर सकते हैं। पर कला का अधिक संबंध हमारे संवेगों से होता है। कला की वस्तु एक समस्या नहीं होती जिसको हल करना है। कला तो कवि के शब्दों में हमारी "आन्तरिक वीणा के तार छेड़ती है"। दूसरे शब्दों में कलाकार अपनी काल्पनिक रचना द्वारा हमारी कल्पना की क्रिया को उत्तेजित करता है और हमें उन संवेगों का बोध कराता

१—Illumination. २—Verification.

है जिनसे वह उस क्षण स्वयं प्रभावित था। इसी कारण कवि शेली[1] ने कहा था 'हमारे सब से मधुर संगीत वह हैं जो हमारे सबसे दुःखमय विचारों को प्रकट करते हैं, कारण स्पष्ट है कि ऐसी दशा में हमारे संवेग अधिक तीव्र हो जाते हैं तथा दबे हुये संवेगों को बाहर निकालने का अवसर प्राप्त हो जाता है। उपन्यास, सिनेमा इत्यादि दिवा-स्वप्न का कार्य करते हैं। हम नायक या नायिका के सुख-दुःख की अनुभूति करते हैं। हम नायक या नायिका के साथ एकात्मता अनुभव करते हैं। इस प्रकार हमारे संवेगों की तीव्रता बढ़ जाती है। इस अवस्था को उत्पन्न करने के लिये कल्पना की आवश्यकता होती है। कल्पना द्वारा कलाकार पाठकों या दर्शकों की दशा की कल्पना करता है तथा उसी आधार पर अपनी रचना करता है। चित्रकारी तथा वस्तु कला के संबंध में भी यही बातें लागू होती हैं।



१—Shelley.

अध्याय–१०

सीखना

मनोवैज्ञानिक-क्रिया के अध्याय में सीखने की क्रिया का संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है। प्रत्येक प्राणी में अनुभव से लाभ उठाने की क्षमता होती है। अनुभव प्राप्त करने की क्रिया को सीखना कहते हैं। इस अध्याय में हम उन दशाओं का अध्ययन करेंगे जिनके अन्तर्गत सीखना संभव होता है। प्राणी जिन नियमों से अच्छी आदतें सीखता है लगभग वही नियम बुरी आदतें सीखने के मूल में भी रहते हैं।

सीखने का महत्व इस बात से सिद्ध होता है कि जन्म के समय बालक का प्रतिक्रिया-भण्डार बहुत सीमित होता है तथा बड़े होकर उसका वह भण्डार बहुत विस्तृत हो जाता है। सब कुछ सीखना परिपक्वता पर निर्भर होता है। आवश्यक परिपक्वता[१] प्राप्त किए बिना कोई भी प्राणी किसी क्रिया को नहीं सीख सकता। बालक चलना तभी सीख पाता है जब उसको सीखने के लिये उसकी तत्सम्बन्धी मांस-पेशियाँ परिपक्व हो जाती हैं तथा उसके मस्तिष्क में आवश्यक केन्द्र स्थापित हो जाता है। दूसरी ओर परिपक्व होने के बाद कार्य करने की क्षमता में वृद्धि होने के मूल में सीखने की क्रिया रहती है। जन्म के बाद बच्चा दूध पीना, अपने हाथ से खाना, बैठना, चलना, फिरना, बोलना आदि सभी कुछ सीखता है। इसके साथ वह तरह-तरह का संवेगात्मक व्यवहार करना

१—Maturation.

भी सीखता है। इन सब क्रियाओं को सीखने के लिए बालक को जान-बूझ कर कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। बहुत कुछ सीखना केवल आकस्मिक तथा अज्ञातरूप से होता है।

सीखने की क्रिया का हमारे जीवन से ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध है कि वह अनजाने में भी सदैव चलती रहती है। सम्भवतः इसी लिए प्राणी यह समझ नहीं पाता कि सीखने का उसके जीवन में कोई विशेष महत्व है और न वह इसकी जटिलता को ही समझ पाता है। यदि हम इसको समझना चाहें तो इसका विस्तृत विश्लेषण करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

मनोविज्ञान में सीखने की समस्या एक मौलिक समस्या है। इसको अनेक मनोविज्ञान वेत्ताओं ने विभिन्न रीतियों से सुलझाने का प्रयत्न किया है जिसके फल-स्वरूप इस समय सीखने के अनेक सिद्धांत प्रचलित हो गए हैं। हम इनमें से केवल तीन सिद्धांतों पर विचार करेंगें। इस सम्बन्ध में हम एक बात पहले ही समझा देना चाहते हैं। यह सिद्धान्त एक दूसरे के विरोधी न होकर सीखने की समस्या के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालते हुए हमको गड़बड़ में डालने की अपेक्षा उसको भली प्रकार समझने में सहायता पहुँचाते हैं। सीखने से सम्बन्धित अन्य आवश्यक बातें इन्हीं सिद्धान्तों के प्रतिपादन के अन्तर्गत कहीं न कहीं आ जाती हैं।

(१)

प्रयत्न और भूल[1] का सीखना

सीखने का वह सिद्धान्त जिसका वर्णन हम इस अध्याय में सबसे पहले करेंगे 'प्रयत्न और भूल' का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन थार्न डाइक[2] नाम के एक प्रसिद्ध मनोविज्ञान वेत्ता ने किया था। इसी को बाद में कुछ सैद्धान्तिक त्रुटियाँ मिटाने के लिए उन्होंने 'चुनने

१—Trial and error. २—Thorndike.

और सम्बन्ध-स्थापन का सीखना'[१] के नाम से पुकारा था। उसका विचार था कि सीखने का मूलाधार वह साहचर्य्य है जो इन्द्रिय-संस्कार[२] और आवेगों में स्थिर हो जाता है। इस साहचर्य्य को हम एक प्रकार का सम्बन्ध-निर्माण भी कह सकते हैं। किसी समस्यापूर्ण परिस्थिति में फँस जाने पर प्राणी उससे निकलने के लिए अनेक प्रयत्न करता है किंतु उसका वही हल वह सीखता है जिससे उसको सफलता मिलती है। थार्नडाइक ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए सबसे पहले एक भूखी बिल्ली पर प्रयोग किया। इस प्रयोग में उन्होंने उस बिल्ली को एक पिंजड़े में बंद कर दिया पिंजड़े से दूर बिल्ली की पहुँच के बाहर खाना रखकर उन्होंने उस बिल्ली के सामने यह पहेली समुपस्थित कर दी कि वह किस प्रकार उस पिंजड़े से निकल कर खाना खाए। इस पिंजड़े को पहेली-बक्स[३] के नाम से पुकारा गया है। बिल्ली के सामने इस पहेली को हल करने का प्रयत्न करने के अनेक साधन सुलभ थे किन्तु सही साधन केवल एक ही था और वह था एक तरह की सिटकनी खोलकर दरवाजे से बाहर निकलना। थोड़ी देर इधर उधर भटकने के बाद बिल्ली ने ठीक साधन चुन लिया और बाहर निकल आई। तत्पश्चात् यह देखा गया कि पिंजड़े में बन्द किए जाने के बाद शीघ्र ही बिल्ली ठीक साधन चुन लेती थी। बार बार अभ्यास मिलने का परिणाम यह हुआ कि अन्त में बिना कहीं इधर उधर भटके बिल्ली तुरन्त ही सिटकनी खोलकर बाहर निकल आती थी। इस प्रयोग के आधार पर उन्होंने सीखने के अनेक नियम स्थापित किए जिनके वर्णन के साथ उनसे सम्बन्धित अन्य मनोवैज्ञानिक तथ्यों का निरुपण भी हम करते चलेंगे।

अभ्यास का नियम[४]

अभ्यास का नियम प्राचीन साहचर्य्य-वादियों के सामीप्य[५] के नियम का रुपान्तर मात्र है। इसके अनुसार उपयोग के नियम[६] से संबन्ध दृढ़ तथा अनुपयोग के नियम[७] से क्षीण हो जाते हैं।

१—Learning by selecting and connecting. २—Sense impression. ३—Puzzle-box. ४—Law of exercise. ५—Contiguity. ६—Law of use. ७—Law of Disuse.

किन्तु केवल अभ्यास से काम नहीं चल सकता। इसके लिए समुचित परिस्थिति का होना आवश्यक होता है। हम लाख प्रयत्न करें किन्तु आँख मूँद कर ठीक ३" की रेखा कभी नहीं खींच सकते।

उपयोग तथा अनुपयोग के नियमों से हमारा तात्पर्य किसी सम्बन्ध के बार बार दोहराये जाने अथवा न दोहराये जाने से होता है। किसी बात के सीखने के लिए बहुधा सम्बन्ध के दोहराए जाने की आवश्यकता पड़ती है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि प्राणी किसी बात को एक ही बार में ऐसा सीख जाता है कि फिर वह उसको आजीवन नहीं भूलता। इस प्रकार के सीखने के मूल में किसी प्रकार का अनुकरण अथवा संवेगात्मक अनुभव होता है। एक बार आग से हाथ जल जाने पर बालक फिर आग से दूर रहने लगता है। यह सीखना अभ्यास के नियम के परे रहता है। किन्तु अधिकतर सीखने की क्रिया से अभ्यास के नियम का घनिष्ट सम्बन्ध होता है। किसी भी प्रकार की कार्य-कुशलता बिना अभ्यास के नहीं आती। घर में बैठकर पूरी बेलने से लेकर सड़क पर भीड़ में होकर शीघ्रता पूर्वक साइकिल दौड़ाने तक, सभी कार्यों में अभ्यास की आवश्यकता होती है। एक सीमा तक जितनी ही बार किसी सीखे हुए कार्य को दोहराया जाता है उसके करने में उतनी ही अधिक दक्षता आ जाती है और अज्ञात रूप से उपयोग के नियम द्वारा सम्बन्ध दृढ़ तथा अनुपयोग के नियम द्वारा क्षीण हो जाते हैं। क्या वह व्यक्ति जिसने पूरी बेलने में दक्षता प्राप्त कर ली है बता सकता है कि उसने किस प्रकार आठ कोनों की मोटी पतली पूरी बेलना सीखने में अनावश्यक चेष्टाओं को छोड़कर केवल आवश्यक चेष्टाएँ करना सीखा? हमारे ख्याल से तो वह नहीं बता सकता। कारण केवल यह है कि आठ कोनों की पूरी बेलने में जो अनावश्यक चेष्टाएँ वह करता था उन्हें वह अज्ञातरूप से धीरे धीरे छोड़ता गया और अनुपयोग के नियम के अनुसार उनके सम्बन्ध क्षीण होते गए तथा आवश्यक चेष्टाओं को वह दोहराता गया और उपयोग के नियम के अनुसार पुनः अज्ञातरूप से

उनके संबन्ध दृढ़ होते गए तथा अन्त में उसने इस कार्य में दक्षता प्राप्त कर ली। इससे यह न समझना चाहिए कि हमारा सब कुछ सीखना अज्ञातरूप से होता है। ठीक तरह की पूरी बेलना सीखने की इच्छा उस व्यक्ति के हृदय में सदैव वर्तमान रही होगी। इसके साथ उसका सदैव यह प्रयत्न भी रहा होगा कि वह गोल पूरी बेले किंतु फिर भी वह आरंभ में असफल रहा और अभ्यास के बाद सफल हुआ। इससे स्पष्टतः यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रेरणा के साथ अभ्यास का नियम भी सीखने की क्रिया महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

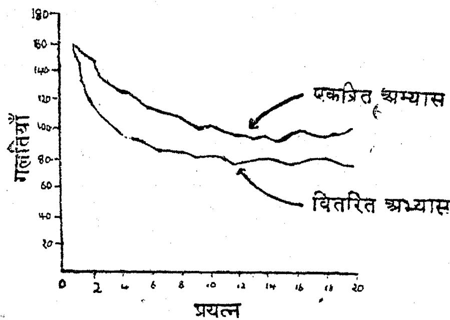
वितरित तथा एकत्रित अभ्यास[१]

किसी चीज़ के सीखने में दो प्रकार से अभ्यास किया जा सकता है (अ) या तो जब तक पूरी तौर से कोई काम सीख न लिया जाए तब तक लगातार अभ्यास किया जाए और (आ) या पूर्णतः सीखने से पहले कुछ प्रयत्नों के बाद हर बार बीच में विराम दे दिया जाए। प्रथम प्रकार के अभ्यास को एकत्रित अभ्यास तथा दूसरे प्रकार के अभ्यास को वितरित अभ्यास कहते हैं।

अधिकतर यह देखा गया है कि वितरित अभ्यास के द्वारा सीखने में एकत्रित अभ्यास की अपेक्षा अधिक सुगमता होती है तथा इस प्रकार सीखी गई क्रिया अधिक समय तक याद रहती है। वितरित अभ्यास की सफलता प्रत्येक दो अभ्यास कालों के बीच विराम की लम्बाई तथा प्रत्येक अभ्यास-काल में किए गए प्रयत्नों की संख्या पर निर्भर होती है। यदि उपयुक्त प्रयत्नों की संख्या के साथ विराम-काल का समुचित नियंत्रण हो जाता है तो वितरित अभ्यास के द्वारा सीखने में एकत्रित अभ्यास की अपेक्षा बहुत कम समय लगता है तथा प्रयत्न भी कम करने पड़ते हैं। यह तथ्य प्रयोग द्वारा प्रतिपादित किए जा चुके हैं। वितरित अभ्यास की इस उत्तमता के मूल में किसी विशेष एकान्तिक मनोविज्ञानिक

१—Distributed and massed practice.

तथ्य की खोज अब तक न की जा सकी है। मनोवैज्ञानिकों का अनुमान है कि सम्भवतः यह उत्तमता निम्न कारणों से सम्भव होती है :— (१) विश्राम-काल में अभ्यास करने वाला बहुत से अनावश्यक संबंधों



चित्र सं० ३५ — प्रयत्न और भूल के सीखने पर एकत्रित तथा वितरित अभ्यास का प्रभाव

को भूल जाता है जो कि एकत्रित अभ्यास की दशा में कठिन था; (२) सम्बन्धों की आयु के अनुसार उनमें दृढ़ता बढ़ती जाती है। सीखी जाने वाली सामग्री से विश्राम-काल में भी एक प्रकार की घनिष्ठता बढ़ती रहती और जब सामग्री फिर से दोहराई जाती है तो पूर्व परिचय के फलस्वरूप उसके सीखने में सुगमता होती है, (३) एकत्रित अभ्यास में बहुत से प्रयत्न एक साथ करने पड़ते हैं तथा अधिक समय तक काम में लगे रहना होता है। यह बात सीखने की क्रिया में बाधा डालती है। वितरित अभ्यास में यह दोष नहीं आने पाते और इसलिए सीखने में आसानी होती है।

प्रभाव का नियम[१]

थार्नडाइट का विचार है कि 'प्रभाव के नियम' के अनुसार पुरस्कृत व्यवहार का सीखना सफलता अथवा पुरस्कार के कारण सुगम हो जाता है तथा असफलता अथवा दण्ड से उस व्यवहार को

१—Law of effect

दोहराने की प्रवृति क्षीण हो जाती है सफलता से सम्बद्ध आचरण के दोहराने में हर्ष तथा असफलता अथवा दण्ड से सम्बद्ध व्यवहार के दोहराने में क्षोभ का अनुभव होता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि परिणाम के अनुसार सम्बन्ध दृढ़ अथवा क्षीण होते हैं। जब कोई ऐसा सम्बन्ध स्थापित किया जाता है जिसको और अधिक संयत किया जा सकता है तो उस सम्बन्ध में संयत की दृढ़ता, परिणाम के संतोषजनक अथवा असंतोषजनक होने के साथ घटती या बढ़ती है।

इस नियम का सीखने में प्रेरणा[1] से घनिष्ट सम्बन्ध है। प्रत्येक प्रकार के सीखने में प्रेरणा महत्पूर्ण स्थान रखती है। थार्नडाइक की बिल्ली भूख से प्रेरित होकर प्रयत्न करती थी। अन्त में भोजन मिलने पर उसको सन्तोष होता था। जिस प्रयत्न का परिणाम प्रेरणा का शान्त होना होता था वही वह सीख गई और शेष भूल गई। यथार्थ में सीखने की क्रिया में वही प्रतिक्रियाएँ सम्बद्ध होती हैं जिनके द्वारा प्रेरणाशान्त होती हैं और वे प्रतिक्रियाएँ लुप्त हो जाती हैं जिनसे प्रेरणा असन्तुष्ट रह जाती है।

यदि कोई इन्द्रिय किसी उत्तेजना विशेष को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत है तो उस अवसर पर तत्सम्बन्धी संवेदना प्राप्त होने से संतोष होता है और उसके न प्राप्त होने से असंतोष तत्परता के अप्रस्तुतरहने पर भी संवेदना वहन कराने के प्रयत्न से असंतोष होता है। तत्परता के प्रस्तुत रहने पर सीखना सम्भव है अन्यथा असम्भव।

(२) तत्परताका नियम[2]

प्रत्येक प्रतिक्रिया की व्याख्या पूर्व-लब्ध स्नयाविक सम्बन्धों तथा प्रति-क्रिया की मौलिक प्रेरणाओं के द्वारा की जा सकती है। साथ ही सीखने वाले के बिचार के अनुसार प्रत्येक प्रति क्रिया का किसी भी अन्य परिस्थिति से, जिससे वह प्राणी प्रभावित होता है, सम्बन्ध स्थापित हो सकता है।

१—Motivation. २—Law of readiness.

वे सम्बन्ध जिनमें परिग्रह-सम्बन्ध रहता है आसानी से दृढ़ होते हैं तथा जिसमें इस प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं होता कठिनाई से दृढ़ होते हैं। ऊपर के पैरा में प्रथम वाक्य के अन्त में आए हुए 'असन्तोष' शब्द का दूसरे वाक्य के आरम्भ में आए हुए 'तत्परता' शब्द से सम्बन्ध स्थापित होना कठिन है जब कि पहले वाक्य में आए हुए 'संतोष' का उसके बाद आए हुए 'होता है' शब्द से सम्बन्ध स्थापित होना अपेक्षाकृत सरल होता है। कारण यह है कि 'संतोष' और 'होता है' एक ही वाक्य के अंग है तथा 'असन्तोष' और 'तत्परता' अलग अलग वाक्यों के परिग्रह, अर्थात् एक ही समग्र के अंग होने, के कारण सम्बन्ध-स्थापन में सुगमता होती है।

(४) परिग्रह का नियम[1]

इन मुख्य नियमों के अतिरिक्त थार्नडाइक के सम्बन्ध-वाद के कुछ नियम और हैं जो यथार्थ में इन्हीं चार नियमों में से किसी न किसी के अन्तर्गत आ जाते हैं।

(२)

सापेक्षीकरण

सापेक्षीकरण का परिचय हम छठे अध्याय में दे चुके हैं। यह क्रिया प्राणी के जन्म से ही आरम्भ हो जाती है। वे समस्त प्रतिक्रियाएँ जो बालक जन्म लेते ही अत्यधिक सरलता पूर्वक सीख लेता है सापेक्षित प्रतिक्रियाएँ[2] कहलाती हैं। नन्हाँ बालक माँ के पास खेलते ही दूध पीने के लिए उसका आँचल खींचने लगता है। दूसरे को मुस्कराते देखकर मुस्कराना, अँधेरे से डरना, सड़क पर पीछे से मोटर की आवाज सुनकर किनारे हो जाना, यह सपेक्षीकरण व्यवहार हैं।

यद्यपि सापेक्षीकरण का अस्तित्व बहुत समय से विदित था किन्तु इसको यह नाम देने तथा वैज्ञानिक रूप से इसका अध्ययन करने का

१—Law of belongingness. २—Conditioned response.

श्रेय रूस के एक प्रसिद्ध शरीर-विज्ञान-वेत्ता पावलोव[1] को है। उन्होंने इस विलक्षणता की खोज आमाशय-रस-प्रवाह के सम्बन्ध में कुत्ते पर एक प्रयोग करते समय की। उन्होंने अपने कुत्ते को प्रयोग-शाला में एक विशेष दशा में खड़ा करके मुख में एक ओर छेद कर दिया। छेद में होकर एक नली द्वारा कुत्ते की राल-वाही ग्रन्थियों से प्रवाहित होने वाले रस को बाहर एक कटोरे में इकट्ठा करने का प्रबन्ध किया गया। साधारणतः भोजन देखकर कुत्ते की राल बहने लगती थी। वह राल उस नली द्वारा कटोरे में इकट्ठी हो जाती थी।

सापेक्षीकरण का प्रयोग करने के लिए उन्होंने कुत्ते को भोजन देने से पूर्व घण्टी बजाने का प्रबन्ध किया। इस प्रकार पहली घण्टी बजती थी और फिर भोजन आता था। आरम्भ में घण्टी बजती थी और फिर भोजन आता था। आरम्भ में घण्टी बजने पर राल न बह कर केवल भोजन सामने आने पर ही बहती थी। थोड़े समय तक लगातार घण्टी के बाद भोजन आते रहने से अन्त में ऐसा हुआ कि केवल घण्टी बजने पर ही राल बहना आरम्भ होने लगा। इस प्रकार भोजन और राल का जो सम्बन्ध था वही सम्बन्ध अब घण्टी और राल के बीच स्थापित हो गया। इस प्रकार के सम्बन्ध-स्थापना को उन्होंने सापेक्षीकरण के नाम से पुकारा तथा घण्टी की आवाज से राल की प्रतिक्रिया को सापेक्षित प्रतिक्रिया के। व्यापक रूप में इस प्रकार के सभी नवीन सम्बन्ध सापेक्षित सम्बन्धों के नाम से पुकारे जा सकते हैं। पावलोव ने अनेक प्रयोगों द्वारा यह प्रदर्शित कर दिखाया कि इस प्रकार का सापेक्षीकरण केवल श्रवणात्मक संवेदना से ही न होकर दृश्यात्मक, घ्राणात्मक अथवा स्पर्शात्मक किसी भी प्रकार की संवेदना से हो सकता है।

१—Pavlov.

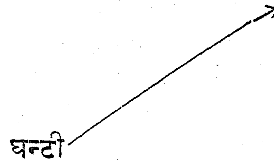
सापेक्षीकरण से पूर्व की दशा

भोजन——→राल

घण्टी——→कान खड़े होना

सापेक्षीकरण के बाद की दशा

भोजन————————→राल



चित्र सं० २६

सापेक्षीकरण में सहायक सामग्री का विशेष महत्व होता है। सहायक सामग्री से तात्पर्य उस उत्तेजना से होता है जिसकी सहायता से उससे होने वाली प्रतिक्रिया का किसी नवीन उत्तेजना से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। पावलोव के कुत्ते के प्रयोग में भोजन सहायक सामग्री थी। यदि सापेक्षीकरण हो चुकने के बाद कई बार सापेक्षक उत्तेजना के बाद सहायक सामग्री न दी जाए तथा सापेक्षक-सामग्री प्राणी के लिए सहायक सामग्री के समान महत्व पूर्ण न हो तो शीघ्र ही सापेक्षीकरण नष्ट हो जाता है। यह बात पावलोव ने अपने कुत्ते के प्रयोग में देखी। उसने भली प्रकार सापेक्षीकरण हो चुकने के बाद घण्टी के बाद भोजन देना बन्द कर दिया। पहले तो कुछ समय तक घण्टी की आवाज सुनते ही कुत्ते के मुँह से उतनी ही राल की बूँदे गिरती रहीं जितनी भोजन सामने आने पर गिरती थीं, किन्तु यह बात अधिक समय तक न चल सकी और थोड़े समय के बाद राल की बूँदों की मात्रा घटते घटते बिल्कुल

(1) सहायक सामग्री[1]

१—Reinforcement.

लुप्त हो गई। इस प्रकार साधारण सापेक्षीकरण का सहायक सामग्री के बहुत समय तक अनुपस्थित रहने से शीघ्र ही विनाश[1] हो जाता है।

इस सम्बन्ध में पावलोव ने एक बात और देखी। उसने सापेक्षीकरण का विनाश हो जाने के बाद कुछ दिन के लिए कुत्ते को छोड़ दिया। फिर दूसरा कर प्रयोग-शाला में कुत्ते को जब घण्टी की आवाज सुनाई दी तो उसकी राल फिर बहने लगी। इस प्रकार पुनः सापेक्षीकरण स्थिर हो जाने को स्वयंजात पुनर्प्राप्ति[2] कहते हैं।

(७)

सापेक्षीकरण की दिशा[3]

ऊपर तुमने देखा है कि पावलोव के कुत्ते के पक्ष में आरम्भ में भोजन उत्तेजना की प्रतिक्रिया राल बहना तथा घण्टी उत्तेजना की प्रतिक्रिया कान खड़े होना हुई थी। फिर यह क्या बात थी की सापेक्षीकरण भोजन से कान खड़े होने की ओर न होकर घण्टी से राल की ओर हुआ? उस दशा में घण्टी की आवाज न सुनने पर भी भोजन सामने आने पर कुत्ते के कान खड़े हो जाते। किन्तु ऐसा इसलिए नहीं हुआ कि भोजन की उत्तेजना कुत्ते के लिए घण्टी की उत्तेजना से अधिक महत्व रखती थी तथा कान खड़े होने की प्रतिक्रिया की अपेक्षा राल बहने की प्रतिक्रिया से उसकी शारीरिक आवश्यकता अधिक भली प्रकार संतुष्ट हो सकती थी। सापेक्षीकरण सदैव उसी दिशा में होता है जिस दिशा में प्राणी की शारीरिक आवश्यकताओं के अधिक भली प्रकार संतुष्ट होने की सम्भावना होती है।

(७४)

सापेक्षीकरण की व्यापकता[4]

उचित साधनों द्वारा सापेक्षीकरण का क्षेत्र और अधिक व्यापक बनाया जा सकता है। सहायक-सामग्री से उत्तेजित करने के साथ सापेक्षित उत्तेजना से मिलती-जुलती अन्य उत्तेजना देने से सापेक्षित क्रिया इन नवीन उत्तेजनाओं से सम्बद्ध हो जाती है और इस प्रकार सापेक्षीकरण का क्षेत्र और

१—Extinction. २—Spontaneous recovery. ३—Direction of conditioning. ४—Generalisation.

अधिक व्यापक हो जाता है। दूसरी ओर यदि किसी सापेक्षित उत्तेजना के साथ सहायक-सामग्री उससे कुछ भिन्न उत्तेजना के साथ न दी जाय तो विषय दोनों उत्तेजनाओं का अन्तर समझने लगता है और एक उत्तेजना होने पर सापेक्षित व्यवहार करता है तथा दूसरी होने पर नहीं। मान लो किसी कुत्ते को २५० चक्र की ध्वनि के बाद भोजन दिया जाता है किन्तु ३५० चक्र की ध्वनि के बाद उसको भोजन नहीं दिया जाता। कुछ समय बाद वह इन दोनों ध्वनियों में अन्तर समझने लगेगा और केवल पहले प्रकार की ध्वनि होने पर उसकी राल बहेगी, दूसरे प्रकार की ध्वनि होने पर नहीं। इस प्रकार वह इन ध्वनियों के बीच का अन्तर[1] समझने लगेगा।

अब यदि इन दोनों ध्वनियों के बीच का अन्तर धीरे धीरे घटाया जाए अर्थात् दूसरी ध्वनि घटाकर २८० अथवा २६० चक्र पर ले आई जाए तथा इन दोनों ध्वनियों को मिश्रित रूप में प्रयोग किया जाए तो संभव है कि विषय इन दोनों के बीच का अन्तर न समझ पाने के कारण कुछ असंयत व्यवहार करने लगे। पावलोव ने अपने कुत्ते के पक्ष में देखा कि ऐसी दशा में वह अपने पंजों से धरती खुरचने तथा घुर्राने लगा। उसके समस्त व्यवहार से एक प्रकार की परेशानी टपकती थी। इस प्रकार प्रयोग के फल-स्वरूप व्यवहार में व्यतिक्रम आ जाने को प्रयोग जन्य व्यतिक्रम[2] की संज्ञा दी गई है।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, कुछ मनोविज्ञान वेत्ताओं का विचार है कि जो कुछ हम सीखते हैं उस सब के मूल में किसी न किसी प्रकार का

सापेक्षीकरण के उच्चस्तर[3]

सापेक्षी करण होता है। जो क्रिया जितनी ही जटिल होती है उतने ही उच्च स्तर का उस क्रिया में सापेक्षी करण होता है। पावलोव ने आरम्भ में घन्टी से राल का सापेक्षीकरण स्थापित किया। बाद में घन्टी को सहायक-सामग्री

१—Differentiation. २—Experimental neurosis ३—Higher order conditioning.

के रूप में प्रयोग करके उसने प्रकाश से राल का सापेक्षीकरण स्थापित कर दिखाया। इस प्रकार राल अपनी असली सहायक-सामग्री भोजन से एक स्तर और हट गई और घन्टी के स्थान पर प्रकाश से आबद्ध हो गई हमारे समस्त ज्ञानर्जन के मूल में यही उच्चस्तर का सापेक्षीकरण रहता है।

सापेक्षीकरण द्वारा न केवल नई बातों को सीखा ही जा सकता है वरन् सीखी गई बातों को भुलाया भी जा सकता है। इस प्रकार के

(5) विपरीत सापेक्षीकरण[1]

सापेक्षीकरण को विपरीत सापेक्षीकरण कहते हैं। दण्ड द्वारा अवांच्छित आदतों के भुलाने के प्रयत्न के मूल में यही सिद्धान्त रहता है। यदि कोई बच्चा बार बार कोई वस्तु लेने का प्रयत्न कर रहा हो और हर प्रयत्न में उसको असफलता रहने के साथ साथ एक मामूली सा दण्ड भी मिल रहा हो तो सम्भावना यह है कि कुछ समय बाद वह उस वस्तु की ओर से उदासीन हो जायगा।

आदतों का पड़ना और छूटना दोनों के मूल में किसी न किसी प्रकार का सापेक्षीकरण रहता है बहुत से बच्चों की झूठ बोलने की आदत हो जाती है। उसका कारण यह होता है कि उनकी संकट-निवारण की प्रवृत्ति झूठ बोलने से सापेक्षित हो जाती है। जब कभी उन्हें आत्म संकट का भय होता है वे तुरन्त झूठ बोल देते हैं। धीरे धीरे यह झूठ बोलना आत्मसंकट से हटकर अन्य बातों से भी सापेक्षित हो जाता है। फिर उन-पर आत्म-संकट हो या न हो उन्हें झूठ बोलना, क्योंकि उनके कार्टेक्स में झूठ बोलने वाला संशोधन लगभग सहज-क्रिया का रूप धारण कर लेता है और प्राणी अनायास ही झूठ बोलने लगता है। कभी कभी तो उसे स्वयं झूठ बोल कर ग्लानि होती है। इस तरह की आदत छुड़ाने के लिए विपरीत सापेक्षीकरण की आवश्यकता होती है। किस प्रकार आदतें बनती और बिगड़ती हैं, इसका अध्ययन शिक्षा मनोविज्ञान के अंतर्गत

१—Negative conditioning.

आता है। यहाँ हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि प्रत्येक आदत के मूल में किसी न किसी प्रकार का सापेक्षीकरण रहता है।

(१)

अंतर्दृष्टि[1] द्वारा सीखना

प्रयत्न और भूल तथा सापेक्षीकरण दोनों प्रकार के सीखने में प्राणी सक्रियरूप से भाग लेता नहीं प्रतीत होता। बहुत बड़ी सीमा तक ऐसा प्रतीत होता है कि मानो किसी समस्या को हल करने में वह अन्धाधुन्ध प्रयत्न करता है और सौभाग्य से यदि कहीं हाथ सही हल लग जाता है तो थार्नडाइक के 'प्रभाव के नियम' अथवा पावलोव के सापेक्षीकरण द्वारा वह सही हल को अनायास ही सीख जाता है।

गेस्टाल्टवादी इस प्रकार के अन्य प्रयत्न अथवा सापेक्षीकरण को मानने को तैयार नहीं हैं। उनका विचार है कि प्रत्येक परिस्थिति का प्राणी को 'समग्र के नियम' के अनुसार समग्र-प्रत्यक्ष होता है। उस समग्र परिस्थिति में उस समय उसको जो समस्या मालूम होती है उसका हल वह अन्तर्दृष्टि द्वारा निकालने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न के फलस्वरूप दूसरे क्षण में वह समग्र बदल जाता है इससे कोई प्रयोजन नहीं कि उसको सफलता मिली या नहीं। यदि सफलता मिल जाती है तो ठीक है अन्यथा वह इस दूसरे समग्र द्वारा प्रस्तुत की गई समस्या पर अन्तर्दृष्टि को प्रयोग करता है।

अन्तर्दृष्टि

अन्तर्दृष्टि प्राणी के मस्तिष्क की एक प्रकार की गत्यात्मक क्षमता है जिसका प्रयोग वह समस्यापूर्ण परिस्थितियों का हल निकालने में करता है। विकास परम्परा में जो प्राणी जितना ही ऊँचा है उसमें उतनी ही अधिक अन्तर्दृष्टि है। इस प्रकार अन्तर्दृष्टि का कुछ सम्बन्ध प्राणी की बुद्धि से भी होती है।

१—Insight.

के रूप में प्रयोग करके उसने प्रकाश से राल का सापेक्षीकरण स्थापित कर दिखाया। इस प्रकार राल अपनी असली सहायक-सामग्री भोजन से एक स्तर और हट गई और घन्टी के स्थान पर प्रकाश से आबद्ध हो गई हमारे समस्त ज्ञानर्जेन के मूल में यही उच्चस्तर का सापेक्षीकरण रहता है।

सापेक्षीकरण द्वारा न केवल नई बातों को सीखा ही जा सकता है वरन् सीखी गई बातों को भुलाया भी जा सकता है। इस प्रकार के सापेक्षीकरण को विपरीत सापेक्षीकरण कहते हैं। दण्ड द्वारा अवांच्छित आदतों के भुलाने के प्रयत्न के मूल में यही सिद्धान्त रहता है। यदि कोई बच्चा बार बार कोई वस्तु लेने का प्रयत्न कर रहा हो और हर प्रयत्न में उसको असफलता रहने के साथ साथ एक मामूली सा दण्ड भी मिल रहा हो तो सम्भावना यह है कि कुछ समय बाद वह उस वस्तु की ओर से उदासीन हो जायगा।

(5) विपरीत सापेक्षीकरण[1]

आदतों का पड़ना और छूटना दोनों के मूल में किसी न किसी प्रकार का सापेक्षीकरण रहता है बहुत से बच्चों की झूठ बोलने की आदत हो जाती है। उसका कारण यह होता है कि उनकी संकट-निवारण की प्रवृत्ति झूठ बोलने से सापेक्षित हो जाती है। जब कभी उन्हें आत्म संकट का भय होता है वे तुरन्त झूठ बोल देते हैं। धीरे धीरे यह झूठ बोलना आत्मसंकट से हटकर अन्य बातों से भी सापेक्षित हो जाता है। फिर उन-पर आत्म-संकट हो या न हो उन्हें झूठ बोलना, क्योंकि उनके कार्टेक्स में झूठ बोलने वाला संशोधन लगभग सहज-क्रिया का रूप धारण कर लेता है और प्राणी अनायास ही झूठ बोलने लगता है। कभी कभी तो उसे स्वयं झूठ बोल कर ग्लानि होती है। इस तरह की आदत छुड़ाने के लिए विपरीत सापेक्षीकरण की आवश्यकता होती है। किस प्रकार आदतें बनती और बिगड़ती हैं, इसका अध्ययन शिक्षा मनोविज्ञान के अंतर्गत

१—Negative conditioning.

आता है। यहाँ हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि प्रत्येक आदत के मूल में किसी न किसी प्रकार का सापेक्षीकरण रहता है।

(१)

अंतर्दृष्टि[1] द्वारा सीखना

प्रयत्न और भूल तथा सापेक्षीकरण दोनों प्रकार के सीखने में प्राणी सक्रियरूप से भाग लेता नहीं प्रतीत होता। बहुत बड़ी सीमा तक ऐसा प्रतीत होता है कि मानो किसी समस्या को हल करने में वह अन्धाधुन्ध प्रयत्न करता है और सौभाग्य से यदि कहीं हाथ सही हल लग जाता है तो थार्नडाइक के 'प्रभाव के नियम' अथवा पावलोव के सापेक्षीकरण द्वारा वह सही हल को अनायास ही सीख जाता है।

गेस्टाल्टवादी इस प्रकार के अन्य प्रयत्न अथवा सापेक्षीकरण को मानने को तैयार नहीं हैं। उनका विचार है कि प्रत्येक परिस्थिति का प्राणी को 'समग्र के नियम' के अनुसार समग्र-प्रत्यक्ष होता है। उस समग्र परिस्थिति में उस समय उसको जो समस्या मालूम होती है उसका हल वह अन्तर्दृष्टि द्वारा निकालने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न के फलस्वरूप दूसरे क्षण में वह समग्र बदल जाता है इससे कोई प्रयोजन नहीं कि उसको सफलता मिली या नहीं। यदि सफलता मिल जाती है तो ठीक है अन्यथा वह इस दूसरे समग्र द्वारा प्रस्तुत की गई समस्या पर अन्तर्दृष्टि को प्रयोग करता है।

अन्तर्दृष्टि प्राणी के मस्तिष्क की एक प्रकार की गत्यात्मक क्षमता है जिसका प्रयोग वह समस्यापूर्ण परिस्थितियों का हल निकालने में करता है। विकास परम्परा में जो प्राणी जितना ही ऊँचा है उसमें उतनी ही अधिक अन्तर्दृष्टि है। इस प्रकार अन्तर्दृष्टि का कुछ सम्बन्ध प्राणी की बुद्धि से भी होती है।

अन्तर्दृष्टि

१—Insight.

अन्तर्दृष्टि द्वारा सीखने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए कायलर[1] नाम के एक प्रसिद्ध गेस्टालवादी ने चिम्पान्जियों पर अनेक प्रयोग किए हैं। एक प्रयोग में उन्होंने सुल्ताना नाम की एक चिम्पान्जी को एक कमरे में बन्द कर दिया। इस कमरे की दीवालें बिल्कुल चिकनी थी। बीच कमरे में छत से उन्होंने कुछ केले लटका रक्खे थे और कमरे के एक कोने में लकड़ी का एक हल्का सा बक्स था। जिस समय सुल्ताना ने छत से केले लटके देखे तो उन्हें लेने के लिए पहले तो बहुत उछल कूद मचाई किन्तु असफल रही; फिर थोड़ी देर इधर उधर देखने के बाद वह कोने में से बक्स उठा लाई और ठीक केलों के नीचे रख कर उस पर खड़ी होकर उछली और केलों तक पहुंच गई। इस प्रकार केलों तक पहुँचना सीखने में उसने अपनी अन्तर्दृष्टि का प्रयोग किया था।

दूसरी बार इस प्रयोग में एक के स्थान पर दो छोटे छोटे बक्स रक्खे गए और फिर सुल्ताना को उस कमरे में छोड़ा गया। इस मर्तबा वह झट से एक बक्स उठा लाई और उस पर खड़ी होकर केलों की ओर झपटने लगी किन्तु अनेक प्रयत्न करने पर भी उन तक न पहुँच सकी। फिर वह दूसरा भी बक्स उठा लाई और तरह तरह से उसको पहले बक्स के पास और उसके ऊपर रखने लगी किन्तु वह उन दोनों बक्सों को इस प्रकार स्थिर रूप में एक दूसरे के ऊपर न रख सकी जिन पर चढ़ कर वह केलों तक पहुँच जाती। यहाँ पर उसकी अन्तर्दृष्टि अपर्याप्त सिद्ध हुई। इससे यह परिणाम निकलता है कि अन्तर्दृष्टि के सीखने में बहुत बड़ा हाथ इस बात का रहता है कि सीखने वाले का मानसिक विकास किस सीमा तक हो चुका है। जिसमें जितनी ही अधिक अन्तर्दृष्टि सम्बन्धी क्षमता होती है वह उसी सीमा तक सीख सकता है। यह प्रत्येक प्राणी में भिन्न होती है। यही कारण है कि हमसे हर एक की कोई जटिल कार्य सीखने की क्षमता भी भिन्न होती है।

१—Kohler.

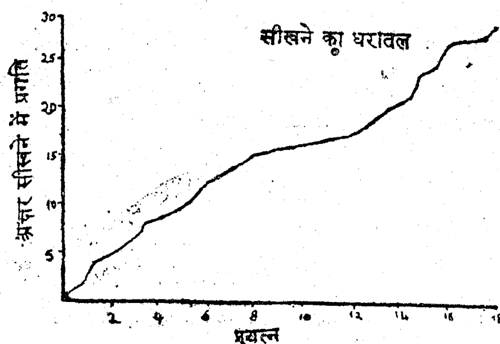
मनुष्य पर अन्तर्दृष्टि का सिद्धान्त बहुत व्यापक रूप में लागू होता है। वह अन्तर्दृष्टि की सहायता से बहुत सी संकट पूर्ण परिस्थितियों से सुरक्षित निकल जाता है। कठिन अथवा सरल सभी प्रकार की खोज के मूल में यही अन्तर्दृष्टि रहती है।

सीखने के सम्बन्ध में अन्य आवश्यक बातें

सीखने के तीन प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन करने के बाद अब हम सीखने से सम्बन्ध रखने वाली कुछ अन्य आवश्यक बातों पर विचार करेंगे।

सीखने की तिर्यक्-रेखा से यह प्रदर्शित किया जाता है कि सीखने की क्रिया में प्राणी किस प्रकार उन्नति करता है। साधारणतः यह देखा गया है कि पहले प्रयत्न में प्राणी बहुत सी अशुद्धियाँ करता है तथा दूसरे प्रयत्य में उनकी संख्या अपेक्षा कृत बहुत कम हो जाती है और फिर धीरे धीरे कार्य-कुशलता-बढ़ने

सीखने की तिर्यक्-रेखा[1]



चित्र सं० ३७— सीखने की तीर्यक्-रेखा

के साथ गलतियों की संख्या घटती जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक अगले प्रयत्न में प्राणी का कौशल प्रदर्शन पिछले प्रयत्न की अपेक्षा

१—Curve of learning.

उत्तम ही हो। यथार्थ में बीच बीच में ऐसे स्थल आ जाते हैं जहाँ पर प्राणी कई प्रयत्नों तक लगातार कोई विषेश उन्नति नहीं करता है और फिर उन्नति करने लगता है। बीच के ऐसे स्थलों को जहाँ पर प्राणी कोई विशेष उन्नति करता नहीं प्रतीत होता सीखने के पठार[1] कहते हैं।

सीखने के पठार

यह सीखने के पठार इस क्रिया के अनिवार्य अंग होते हैं। सीखने की सामग्री जितने अधिक जटिल होती है उसकी सीखने की तिर्यक्-रेखा में उतने ही अधिक पठार मिलते हैं। इन पठारों के कारण हताश नहीं होना चाहिए। यह हर प्रकार के सीखने का स्वाभाविक अंग होते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि पठार-काल में प्राणी सीखी हुई बात को संगठित करता रहता है जब वह इस प्रकार का संगठन कर चुकता है तो फिर आगे सीखने लगता है और सीखने की क्रिया में उन्नति होने लगती है। कभी सीखने का कोई ऐसा पठार बीच में आ जाता है जो सीखने की प्रस्तुत रीति से किसी प्रकार भी पार नहीं किया जा सकता ऐसी दशा में प्राणी को सीखने की रीति में कुछ परिवर्तन करना होता है।

सीखने की शारीरिक सीमा

अन्त में एक दशा वह आती है जब कि अनेक प्रकार से नवीन रीतियों द्वारा प्रयत्न करने पर भी प्राणी सीखने में कोई उन्नति नहीं कर पाता है। उस दशा को सीखने की शारीरिक सीमा के नाम से पुकारते हैं। छः वर्ष के बच्चे को साधारणतः लाख प्रयत्न करने पर भी दशमलव का जोड़-घटाना अथवा हवाई जहाज चलाना नहीं सिखाया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक सीमा भिन्न होती है किन्तु असीमित शारीरिक क्षमता किसी में नहीं होती।

सीखने की शारीरिक सीमा से मिलती जुलती समस्या सीखने वाले की क्षमता की समस्या है। यह भी सब व्यक्तियों में समान नहीं होती। इसका सीखने वाले की अवस्था, बुद्धि तथा पूर्व अनुभव से घनिष्ट

१—Plateau of Learning.

सम्बन्ध होता है। यदि बालकों के एक बड़े समूह को कुछ याद करने को दिया जाए तो उनमें से अधिक तर ऐसे होंगे जो न तो बहुत जल्दी और न बहुत धीरे याद करते हैं, कुछ ऐसे होंगे जो बहुत जल्दी तथा शेष ऐसे होंगे जो बहुत देर में याद करते हैं।

सीखने वाले की क्षमता

आयु का क्षमता पर गहर असर पड़ता है। आयु बढ़ने के साथ लगभग २० वर्ष तथा सीखने की तिर्यख्-रेखा सुधरती जाती है फिर धीरे-धीरे क्षमता घटने के साथ उस रेखा की गति नीचे की ओर हो जाती है।

सीखने की गति का सामग्री से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। यदि सीखी जाने वाले सामग्री सीखने वाले के लिए सार्थक होती है तो उसके सीखने में उसकी रुचि लगती है और सीखने में कम समय लगती है। निरर्थक समाग्री के सीखने में उसकी अपेक्षा कहीं अधिक समय लगता है। यही कारण है कि सिखाने से पहले सिखाई जाने वाली सामग्री को सार्थक रूप में प्रस्तुत करने पर जोर दिया जाता है।

सीखी जाने वाली सामग्री

सीखने की रीतियाँ

सीखने की क्रिया दो प्रकार से घटित होती है—एक में प्राणी सक्रिय रूप से भाग लेते है और दूसरे में वह अज्ञात रूप से सीख जाता है। यथार्थ में प्रत्येक प्राणी के व्यवहार-भण्डार में आरम्भ में अज्ञातरूप से सीखे व्यवहार सक्रिय रूप से सीखे गए व्यवहारों की अपेक्षा अधिक होते हैं। बाद में शिक्षा के फलस्वरूप सक्रिय रूप से सीखे गए व्यवहारों की संख्या बढ़ जाती है

सीखने की क्रिया का इस प्रकार वर्गीकरण करना भ्रामक प्रतीत होता है। दोनों प्रकार के सीखने में स्नायु-समवाय में एक से संशोधन होते हैं; केवल अन्तर इतना होता है कि एक में इच्छाशक्ति अर्थात् प्रेरणात्मक प्रबलता का अधिक हाथ रहता है और दूसरे में बहुत कम। सक्रिय रूप

की सीखने की क्रिया में प्राणी को यह अनुभव होता है कि वह स्वयं सीखने का प्रयत्न कर रहा है। यदि सीखने की रीति दोष पूर्ण होती है तो सीखने में अधिक शक्ति का व्यय होता है और समय भी अधिक लगता है। सीखने की सफलता बहुत कुछ उसकी रीति पर निर्भर होती है। अतः अब हम सीखने की विभिन्न रीतियों पर विचार करेंगे। यह सब रीतियाँ एक दूसरे की विरोधी न होकर सहायक होती हैं। किस समय सीखने की किस रीति का प्रयोग किया जाए यह बहुत बड़ी सीमा तक सीखी जाने वाली सामग्री के स्वरूप पर निर्भर होता है। नीचे के वर्णन से यह बात तुम्हारी समझ में भली प्रकार आ जाएगी।

१—वितरित तथा एकत्रित अभ्यास द्वारा सीखना

इन रीतियों का वर्णन पीछे किया जा चुका है और इस सम्बन्ध में यह भी बताया जा चुका है कि अधिकतर वितरित अभ्यास द्वारा सीखना एकत्रित अभ्यास द्वारा सीखने से उत्तम होता है। ऐसा क्यों होता है इसके अनेक कारण पहले बताए जा चुके हैं इनमें से एक कारण विशेष महत्व रखता है अतः उस पर हम पुनः विचार करेंगे।

सीखने की क्रिया में सदैव शक्ति का व्यय होता है। आरंभ में सीखने वाले को इस बात का बोध नहीं होता; किन्तु जब वह लगातार

श्रांति

बहुत समय तक अभ्यास करता रहता है तो उसको थकावट महसूस होने लगती है और फिर एक समय ऐसा आता है जब कि इच्छा न रहने पर भी उसे अभ्यास करना बन्द कर देना पड़ता है। यदि सीखने की सामग्री ऐसी होती है कि जो एकत्रित अभ्यास करने से बिना थकावट हुए थोड़े ही समय में सीखी जा सकती है तो उसके लिए वितरित अभ्यास करना व्यर्थ होता है। किन्तु यदि सामग्री काफ़ी लम्बी तथा अधिक समय में सीखी जाने वाली होती है तो उसके लिये वितरित अभ्यास ही लाभप्रद होता है। अन्यथा श्रांति के कारण अभ्यास तो वितरित हो ही जाता है, ऊपर से कष्ट और होता है।

२—समग्र या खण्ड का सीखना[1]

किसी बात को सीखने में हर प्रयत्न में पूरी बात को दोहराने की रीति को समग्र-रीति तथा उसके एक-एक खण्ड को अलग-अलग सीखने को खण्ड रीति कहते हैं।

अधिकतर खोज के आधार पर यह कहा जाता है कि समग्र-रीति खण्ड-रीति की अपेक्षा अधिक क्षमतायुक्त होती है। यथार्थ में यह आपेक्षिक क्षमता सीखने की अनेक दशाओं पर निर्भर होती है। छोटे बच्चे बड़ों की अपेक्षा खण्ड-रीति द्वारा अधिक सफलता पूर्वक सीखते हैं। किन्तु प्रतिभाशाली बालक समग्र-रीति द्वारा अधिक अच्छी तरह सीखते हैं। सीखना आरम्भ करने में खण्ड-रीति से अधिक सफलता होती है तथा कुछ अभ्यास हो जाने के बाद समग्र रीति से। यदि सीखी जाने वाली सामग्री मामूली लम्बाई की है तो समग्र-रीति के सफल होने की अधिक सम्भावना है अन्यथा खण्ड-रीति के एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि सीखने वाले को अपनी क्षमता के अनुसार सामग्री को यथा सम्भव बड़ी से बड़ी इकाइयों में बाँट कर हर प्रयत्न में पूरी एक इकाई को सीखने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि बच्चा चार संख्याएँ एक साथ बोल सकता है तो शिक्षक को उसे गिनती सिखाते समय चार चार संख्याएँ एक साथ बोलना चाहिए। इस तरह सिखाने में समग्र की काफ़ी बचत हो जाने की सम्भावना है।

सक्रिय भाग की रीति[2]

सीखने वाला काम में जितना ही अधिक सक्रिय भाग लेता है उतनी ही आसानी से काम सीखा जाता है। कभी-कभी सीखने वाले को प्राण संकट के भय से मजबूरी में सक्रिय भाग लेना पड़ता है। किन्तु पाठशाला में इस प्रकार की कोई मजबूरी न होने के कारण बालक अक्सर कक्षा में बैठे रहने पर भी कक्षा के कार्य में कोई सक्रिय भाग नहीं लेते हैं। इस

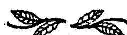
१—Whole or part learning. २—Method of active participation.

दोष का निराकरण करने के लिए शिक्षक को चाहिए कि वह बालकों को ऐसा अवसर दे कि वे कक्षा के कार्य में सक्रिय भाग ले सकें।

सक्रिय रूप से भाग लेने की एक उत्तम रीति सीखी जाने वाली सामग्री को पूर्णतः सीखने से पहले ही प्रयोग करने लगना है। यदि किसी को कोई कविता याद करना हो तो उसको चाहिए कि वह बार-बार पढ़ते हुए दोहराने की अपेक्षा उसको पढ़कर दोहराने का प्रयत्न करें। इस तरह कविता याद हो जाने की सम्भावना है। इस प्रकार पढ़ी हुई चीज को बिना देखे दोहरा कर सीखने की रीति को आवृत्तिकरण की रीति कहते हैं। अनेक प्रयोगों द्वारा देखा गया है कि आवृत्तिकरण की रीति से याद करने में अन्य रीतियों की अपेक्षा कम समय में अधिक सफलता मिली है।

आवृत्तिकरण[1]

सीखने और स्मरण रखने से सम्बन्धित अन्य समस्याओं के विषय में तुम अगले अध्याय में पढ़ोगे।



१—Recitation.

अध्याय–११

स्मरण

पिछले अध्यायों में तुमने पढ़ा कि बालक संसार में आते ही सीखने की क्रिया प्रारंभ कर देता है। उसका सीखना तभी सफल होता है जब वह उसे स्मरण रख सके और अवसर पर उपयोग कर सके। इस लिये वस्तुतः सीखने के कार्य में स्मरण की क्रिया[1] भी कार्य करती है। क्या तुमने कभी यह सोचा है कि यदि हम अपने सीखे हुये कार्यों को स्मरण न रख सकते तो हमारी क्या दशा होती। हमें प्रतिदिन प्रत्येक कार्य नये सिरे से प्रारम्भ करना पड़ता। हमें प्रतिदिन भोजन ढूढ़ने या उसे पकाने की क्रिया सीखनी पड़ती। हम एक दूसरे को पहचानते नहीं। हमने किसी से कल क्या कहा था इसका हमें कोई स्मरण नहीं रहता और इसे यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाँय तो आधुनिक सभ्यता और प्रगति का नाम निशान भी न रहता। जीवन के बहुत से सुख केवल स्मरण के कारण ही प्राप्त हैं। हम अपने बाल्यकाल का स्मरण करके सुखी होते हैं। कश्मीर की सैर करने वाला वहाँ के अनुभव दृश्यों को स्मरण रखता है और वर्षों बाद भी केवल उसके स्मरण मात्र से सुख प्राप्त करता है। हमें गाँधी जी के आदेश स्मरण हैं और हम उन पर चलने का प्रयत्न करके जीवन को सुखप्रद बनाते हैं। अन्वेषक और गणितज्ञ को सभी नियम स्मरण हैं, उनके आधार पर वह नये अन्वेषण और सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। थोड़े में स्मरण के बिना हमारी क्या दशा होती यह सोचना भी कठिन है।

---

[1]—Remembering.

साथ ही साथ स्मरण से हमें दुःख भी प्राप्त होता है। हम अपने बीते हुये दिनों को स्मरण करके दुःखी भी होते हैं। पर यह स्मरण ही हमें अपनी विगत दशा को वापस लाने या सुधारने की प्रेरणा देता है। और इस प्रकार हम प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होते हैं।

यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो 'स्मरण रखना' केवल सीखी हुई वस्तु को धारण करना है और भूल जाना केवल सीखी हुई वस्तु को धारण करने में असफल होना है। बिना कुछ धारणा के सीखना संभव नहीं क्योंकि प्रत्येक सीखने के प्रयत्न में बार बार वही प्रतिक्रिया होगी। किन्तु धारणा के कारण सीखने के कार्य में प्रगति होती है तथा भूलों की संख्या धीरे धीरे कम होती जाती है।

धारणा[1]

स्मरण रखना या भूल जाना भिन्न भिन्न क्रम का होता है। किसी स्मरण किये हुये वस्तु को हम ज्यों का त्यों दुहरा सकते हैं। किसी को हम केवल कुछ हिस्सों में दुहरा सकते हैं। कभी हम उसके कुछ हिस्सों को भी नहीं दुहरा सकते लेकिन हमें स्मरण अवश्य है कि हमने इसे सीखा है। हम उसे पहचानते हैं। किन्तु कभी ऐसा भी होता है कि हम उसे पहचान भी नहीं पाते कि हमने इसे कभी स्मरण भी किया है। हाँ यदि उसे पुनः स्मरण करने का प्रयत्न किया जाय तो उसमें समय कम लगता है और भूलों की संख्या कम हो जाती है। ऐसा ही क्रम भूल या विस्मरण के साथ भी होता है।

विस्मरण की क्रिया[2] का सबसे प्रथम वैज्ञानिक अध्ययन प्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता एबिन्घास[3] ने किया था। उसने स्वयं कुछ निरर्थक शब्दों को इस प्रकार स्मरण किया कि वह बिना भूल के उनको दुहरा सकता था। फिर वह भिन्न भिन्न अवधि के बाद उन्हें दुहराने का प्रयत्न करने लगा। उसे यह ज्ञात हुआ कि समय की वृद्धि अनुसार प्रथम ६ दिन

विस्मरण

१—Retention. २—Forgetting. ३—Ebbinghaus.

तक वह सीखे हुये शब्दों को लगातार भूलता रहा। पहले तो विस्मरण की क्रिया तीव्र गति से होती रही पर धीरे धीरे कम होती गई।

धारणा की माप

धारणा को मापने का सबसे सुगम उपाय यह जानना है कि किसी सीखी हुई वस्तु में से हम कितना दुहरा सकते हैं। इसे दुहराने[1] या पुनरुत्पादन[2] का उपाय कहा जाता है। जितना प्रतिशत हम पहले की सीखी हुई वस्तु को दुहरा सकते हैं उतना ही प्रतिशत हमारी धारणा हुई।

जैसा ऊपर कहा गया है कभी कभी वर्षों बाद हम पहले की सीखी हुई वस्तु को तनिक भी दुहरा नहीं सकते। इसे पुनः सीखने की क्रिया में बचत होती है। इसका लाभ उठाकर एबिन्घास ने पुनः सीखने[3] या बचत[4] का उपाय, धारणा को माप करने के लिये निकाला। किसी सीखी हुई बस्तु को व्यक्ति से फिर सीखने को कहा जाता है। इस बाद की क्रिया में जितना समय लगता है जितने बार प्रयत्न करना पड़ता है और जितनी अशुद्धियाँ होती हैं उन सबका पहले सीखने के प्रयत्न से मुकाबिला किया जाता है। उदाहरण के लिये यदि प्रथम वार के सीखने में एबिन्धास को ३३ बार प्रयत्न करना पड़ा और ६ दिन के बाद के सीखने में केवल ११ बार तो बचत २२ की हुई। उनकी बचत $\frac{२२}{३३}$ या ६७ प्रतिशत हुई और यही उनकी धारणा हुई।

धारणा माप करने का तीसरा उपाय है पहचान[5] का। कल्पना के अध्याय में हम ज्ञात कर चुके हैं कि स्मृति में पहचान का अंग बड़ा प्रमुख होता है। इस प्रणाली में विषय को पहले से सीखी हुई वस्तु अन्य वस्तुओं के साथ मिलाकर दी जाती है और विषय से सीखी हुई वस्तु को पहचानने को कहा जाता है। उदाहरण के लिये विषय को कुछ नाम स्मरण करा दिये जाते हैं फिर कुछ अन्य नामों के साथ मिला कर

१—Repeat. २—Reproduction. ३—Relearning. ४—Saving method. ५—Recognition.

विषय को पहचानने को दिया जाता है। अपराधियों की शिनाख्त करने में यह उपाय अधिक प्रचलित है।

चौथा उपाय धारणा माप करने का है पुनर्निर्माण[1] का इसमें व्यक्ति को कोई वस्तु सिलसिलेवार स्मरण करने को दी जाती है और फिर उसे मिला-जुला कर विषय के सन्मुख रखा जाता है। विषय से उसे पुनः सिलसिलेवार व्यवस्थित करने को कहा जाता है। इस क्रिया में जो सफल होता है उसे वस्तु स्मरण भी रहती है। इस प्रकार का माप ऐसे वस्तुओं में किया जाता है जिसकी आवृत्ति में कठिनाई होती है जैसे सुगन्धों या रंगों के उतार चढ़ाव को शब्दों द्वारा ठीक से नहीं बताया जा सकता किन्तु उन्हें व्यवस्थित किया जा सकता है।

हम ज्ञात कर आये हैं कि सीखने और धारणा करने की क्रिया में घनिष्ट संबन्ध है। इससे यह भी प्रगट होता है कि जिस प्रकार सीखने की क्षमता में वैयक्तिक भेद होता है उसी प्रकार धारणा में भी यह भेद दृष्टिगोचर होता है। प्रयोगों से यह प्रगट होता है कि अधिक बुद्धिवाला व्यक्ति कम बुद्धि वाले व्यक्ति की अपेक्षा धारणा भी अधिक कर सकता है। साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि तेज सीखने वाला अच्छी धारणा का होता है। धीरे-धीरे सीखने वाले को धारणा की क्रिया में कोई लाभ नहीं होता और न तेज सीखने वाले को कोई हानि।

धारणा में वैयक्तिक भेद

धारणा की क्रिया में केवल व्यक्तिगत भेद ही नहीं होता वरन् वस्तुगत भेद भी होता है। भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं की धारणा एक ही व्यक्ति में भिन्न-भिन्न प्रकार की होगी। प्रयोगों के आधार पर पृष्ठ २२१ पर लिखित सिद्धान्त स्थिर किये जा सकते हैं :—

भिन्न प्रकार की वस्तुओं की धारणा

१—Reconstruction.

१—निरर्थक शब्दों की अपेक्षा सार्थक शब्दों की धारणा अच्छी होती है। जिस वस्तु को हम समझते हैं उसे उस वस्तु की अपेक्षा जिसे नहीं समझते हम अच्छे प्रकार धारण करते है।

२—सीखी हुई वस्तु का विस्तार जितना ही अधिक होगा उतनी अच्छी हमारी धारणा होगी। प्रयोग करके यदि देखा जाय तो एक समान स्मरण की हुई वस्तुओं में से हम उसको अधिक धारण करते हैं जो विस्तृत और बड़ी हो। सीखने की क्रिया में जितनी ही हमारी शक्ति व्यय होगी उतना ही धारण करने में हमें उसका लाभ होगा।

३—जिन वस्तुओं के प्रति हमारी संवेगात्मक प्रति क्रिया सुखप्रद होती है उसे हम अधिक धारण करते हैं। दिन-प्रति-दिन हमें इस बात का उदाहरण प्राप्त होता रहता है। सुखप्रद घटनाओं का स्मरण हमें अधिक दिन तक बना रहता है। अपने बालपन के वे दिन हमें अब तक स्मरण हैं जब हमें कोई पुरस्कार प्राप्त हुआ था या हम अपने प्रतिद्वन्द्वी पर विजयी हुये थे। किसी मित्र से भेंट होने पर उसका स्मरण हमें अधिक दिन तक रहता है। किसी अच्छे दृश्य या ड्रामा को हम स्मरण रखते हैं। इसके विपरीत उन घटनाओं को जिससे हमें दुःख प्राप्त हुआ था हम शीघ्रता पूर्वक विस्मरण कर देते है। अपमान और शोक भरी घटनाओं का संबंध हमारी दुःखप्रद संवेगात्मक प्रतिक्रिया से होती है। मनः विश्लेषण के विद्वान डा० फ्रायड और उनके साथियों का मत है कि हम उन स्मृतियों को, जो हमारे लिये शोक और लज्जाजनक हैं, अपने चेतन से निकाल कर अचेतन में डाल देते हैं जो वहाँ से विलीन तो नहीं होती पर दबी अवश्य रहती है। उनके स्मरण मात्र से हमारे अन्दर ऐसा तनाव उत्पन्न होता है कि वह हमें बेचैन कर देता है। इसी कारण हम "दमन"[१] की क्रिया द्वारा ऐसी सभी स्मृतियों को अचेतन में ढकेल देते हैं जिससे उनकी धारणा कम या शून्य के बराबर हो जाती है।

१—Repression.

अचेतन तथा दमन की क्रिया के अतिरिक्त एक दूसरा कारण भी ऐसी वस्तुओं के कम धारण करने का हो सकता है। सीखने के अध्याय में तुम पढ़ चुके हो कि हम अपने उन अनुभवों को दुहराने का प्रयत्न करते हैं जिनमें हमारी विजय होती है या जिससे हमें सुख प्राप्त होता है। यही कारण है कि ये अनुभव अधिक स्मरण होते हैं। इसके विपरीत हम उन अनुभवों को छोड़ते जाते हैं जो असफल और दुःख प्रद होते हैं। अनुपयोग के[१] नियम के अनुसार हम न तो उनको सीखते हैं और न उन्हें धारण कर पाते हैं। साथ ही साथ दुःखप्रद अनुभवों की आवृत्ति होने पर हम अब दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया करते हैं जिसके फलस्वरूप पहली दुःखप्रद प्रतिक्रिया से हमारा ध्यान हटता जाता है और अन्त में हम उसे प्रायः भूल से जाते हैं।

धारणा पर सीखने की क्रिया का भी अधिक प्रभाव पड़ता है।

सीखने की क्रिया का धारणा पर प्रभाव

विभिन्न प्रकार के सीखने की क्रियाओं के फलस्वरूप धारणा भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है।

१—जिस प्रकार के मानसिक विन्यास[२] से किसी वस्तु को सीखा जाता है उसी क्रम की धारणा होती है। यदि इस विचार से किसी वस्तु को सीखा जाय कि उसे बहुत दिन तक स्मरण रखना है तो उसकी धारणा अधिक होगी अपेक्षा उस वस्तु के जिसे तत्काल की आवृत्ति के लिये स्मरण किया जाता है।

२—जोर से पढ़ कर सीखी हुई वस्तु की धारणा अधिक हो जाती है।

३—वितरित अभ्यास द्वारा सीखी हुई वस्तु की धारणा एकत्रित अभ्यास द्वारा सीखी हुई वस्तु से अधिक होती है।

४—सीखी हुई वस्तु जितनी ही दृढ़ होगी धारणा उतनी ही अधिक होगी।

१—Law of Disuse. २—Set.

५—सीखी वस्तु के समाप्त या असमाप्त होने का भी धारणा पर प्रभाव पड़ता है।

विस्मरण

हम ऊपर कह आये हैं कि किसी सीखी हुई वस्तु को धारण करने में असफल होना ही विस्मरण है। साथ ही साथ हमने यह भी कहा है कि विस्मरण भी कई क्रम का होता है। हमने यह भी देखा था कि किसी वस्तु के स्मरण करने में समय के साथ-साथ धारणा भी कम होती जाती है, किन्तु पहले तो धारण में शीघ्रता पूर्वक कमी आती-जाती है बाद में धीरे-धीरे आती है। इन सबके अतिरिक्त जिस प्रकार धारण की क्रिया में वैयक्तिक भेद होता है उसी प्रकार विस्मरण में भी होता है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा अधिक शीघ्र विस्मरण करता है। साथ ही साथ जिस वस्तु को आवश्यकता से अधिक सीखा गया है उसका विस्मरण धीरे-धीरे होता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार सार्थक वस्तुओं को हम अधिक धारण कर सकते हैं उसी प्रकार हम कह सकते हैं कि सार्थक वस्तुओं का विस्मरण भी धीरे-धीरे होता है और निरर्थक वस्तुओं का अति शीघ्र होता है। इसी लिए यदि कोई सार्थक वस्तु हो और वह आवश्यकता से अधिक सीखी गइ हो तो उसका विस्मरण अत्यन्त न्यून होता है।

विस्मरण का कारण

पहले लोगों का यह विचार था कि समय के बीतने के कारण ही विस्मरण होता है। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है त्यों त्यों केन्द्रीय नाड़ी तन्त्रपर बने हुये निशान मिटते जाते हैं और हम सीखी हुई वस्तु को भूलते जाते हैं। सीखी हुई वस्तु से अप्रयोग से भी विस्मरण की क्रिया होती समझी जाती थी। इस विषय के प्रयोगों से अब यह सिद्ध हो गया है कि विस्मरण की क्रिया का कारण 'समय' न हो कर वह सभी वस्तु हैं जो इस समय में घटित होती हैं। प्रयोगों से यह भी प्रकट होता है कि यह एक क्रिया है जिससे स्मरण के निशान क्षीण हो जाते हैं।

उपरोक्त कारण का उदाहरण हमें अपने प्रतिदिन के जीवन में प्राप्त होता है। जागृत अवस्था में जब हम कार्यों में व्यस्त होते हैं तो हमारी धारणा कम होती है। इसके विपरीत सुप्तावस्था में हमारी धारणा अच्छी रहती है। सो कर उठने के बाद प्रायः पिछले शाम को सीखी हुई वस्तु को हम अच्छी तरह स्मरण कर सकते हैं अपेक्षा उस वस्तु के जिसे हम प्रातः काल सीख कर शाम को आवृत्ति करने का प्रयत्न करते हैं। इसका कारण यह है कि जागृत अवस्था में हम अनेक कार्य करते रहते हैं। यदि इन प्रत्येक कार्यों का हमारे मस्तिष्क में अलग अलग केन्द्र हो तो एक कार्य में दूसरे कार्य से बाधा न उपस्थित होगी। किन्तु ऐसा नहीं है। प्रत्येक कार्य के केन्द्र एक दूसरे से मिलते जुलते तथा एक दूसरे के ऊपर होते हैं। इस कारण एक कार्य से दूसरे में बाधा उपस्थित होती है। यह बाधा तब और भी अधिक होती है जब दो सीखी हुई वस्तु एक दूसरे के अधिक समान हों। इसी बाधा के कारण हमारी धारणा कम होती है तथा हम सीखी हुई वस्तु को विस्मरण करते हैं।

१—बाधा[१]

अभी हमने देखा कि जागृत अवस्था में विस्मरण अधिक और सुप्तावस्था में कम होता है। पर इस सम्बन्ध में कुछ बातें ध्यान देने की हैं। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं यदि कोई वस्तु आवश्यकता से अधिक सीखी हुई हो तो वह दिन के कोलाहल में भी उसी प्रकार स्मरण रहती है जैसे रात्रि की निस्तब्धता में। विस्मरण की क्रिया तो अधिकतर उन वस्तुओं पर लागू होती है जिन्हें थोड़ा ही सीखा जाता है। साथ ही साथ जब हम यह कहते हैं कि सुप्तावस्था में धारणा अच्छी होती है तो इस बात पर ध्यान नहीं देते कि क्या सोने से पहले की अवस्था सीखने के लिये सबसे उपयुक्त है। किसी व्यक्ति को सोने के पहले

सुप्तावस्था में विस्मरण की कमी

१—Interference.

सीखने में सुविधा हो सकती है पर अधिक व्यक्तियों को ऐसा नहीं हो सकता। केवल धारणा के लिये सोने के पहले किसी वस्तु को करने के प्रयत्न में अपनी शक्ति व्यर्थ गँवाने से कहीं अच्छा यह होगा कि वस्तु को ऐसे समय पर याद किया जाय जो व्यक्ति के लिये सबसे उपयुक्त हो तथा सोने से पहले उसे दुहरा लिया जाय जिससे उस वस्तु की अच्छी धारणा रह सके।

जागृत अवस्था की बाधा के अतिरिक्त विपरीत विलयन की क्रिया भी विस्मरण का कारण होती है। किसी वस्तु के सीखने के प्रयत्न और उसके पूर्ण धारणा की परीक्षा के बीच के समय में यदि कोई वैसा ही अन्य वस्तु सीखी या की जाय तो इस नवीन वस्तु के कारण प्रथम वस्तु की धारणा में कमी आ जाती है। इस प्रकार की बाधा को विलयन कहते हैं। उदाहरण के लिये यदि तुम एक पद्य याद करने का प्रयत्न करो और पहले इसके कि तुम उसे पूरी तौर पर दुहरा सको तुम उसी प्रकार का दूसरा पद्य पढ़ो और फिर पहले पद्य की धारणा की परीक्षा करो तो तुम्हें ज्ञात होगा कि तुम्हारी धारणा कम हो गई है। नवीन पद्य जो पहले पद्य की ही भाँति था तुम्हारी धारणा में बाधा उपस्थित करता है।

२—विपरीत विलयन[1]

विपरीत विलयन की क्रिया में निम्नलिखित बातें ध्यान देने की है। (१) प्रथम की सीखी हुई वस्तु और बीच में आई हुई वस्तु में जितनी ही समानता होगी उतनी ही विलयन अधिक होने की अशंका होती है। ऊपर के उदाहरण में प्रथम पद्य याद करने के अनन्तर में यदि दूसरा पद्य जो उसी प्रकार का है न याद किया जाय या उसके स्थान पर कोई कहानी पढ़ ली जाय या कोई चित्रकला का कार्य कर लिया जाय तो इस क्रिया से विलयन की बाधा नहीं उपस्थित होगी। इसके अतिरिक्त (२) यदि सीखी हुई वस्तु सार्थक हुई तो इसकी क्रिया में कम बाधा उपस्थित होती है अपेक्षा उस वस्तु के जो निरर्थक है या जिसका कोई संबंध

१—Retrospective Inbilition.

नहीं है। (३) सीखी हुई वस्तु जितनी ही विस्तृत या बड़ी हो और सीखने में जितनी ही कठिन हो, उतनी ही कम विलयन की आशंका रहती है। (४) सीखी हुई वस्तु का अभ्यास यदि निरन्तर किया जाता रहे तो विपरीत विलयन की आशंका और भी कम हो जाती है।

धारणा की कमी या विस्मरण का आधिक्य इस लिये भी हो जाता है कि जिन उत्तेजनाओं और परिस्थितियों में कोई वस्तु सीखी गयी थी वे या उनमें से कुछ धारणा की परीक्षा के समय बदल जाती हैं। या तो जिस स्थान और जिस समय और जिन सामानों के बीच रह कर कोई वस्तु याद की गई थी वह नहीं रहती या याद करते समय जिस प्रकार की संवेदनायें उत्पन्न होती रहती थीं, धारणा की परीक्षा के समय में अनुपस्थित हो जाती हैं। उदाहरण के लिये तुम किसी वस्तु को कक्षा में या घर पर याद करते हो और उसकी धारणा की माप परीक्षा के कमरे में होती है यहाँ बहुत सी उत्तेजनायें बदली रहती हैं। इसके फल स्वरूप भी तुम कुछ सीखी हुई वस्तु को दुहरा नहीं सकते। किसी पाठ को सन्दर्भ के साथ तुमने याद किया है उसे अलग से दुहराने में कठिनाई होती है। उत्तर प्रदेश से कलकत्ता जा कर काम करने वाला व्यक्ति वहाँ बङ्गाली भाषा सीख कर सुगमता से बोल सकता है पर अपने प्रदेश में वापस लौट आने पर वह देखता है कि बङ्गला भाषा वह इतनी सुगमता से नहीं बोल पा रहा है क्योंकि उत्तेजनात्मक परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया है।

३—उत्तेजनात्मक परिस्थिति में परिवर्तन

कभी कभी हमारे मानसिक विन्यास में परिवर्तन होने के कारण भी हम बहुत सी सीखी हुई वस्तुओं को विस्मरण कर देते हैं। आवधान-क्रिया के अध्याय में हम देख आये हैं कि विन्यास और रुचि का हमारी अवधान-क्रिया से कितना घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि हमारा मानसिक विन्यास दूसरे प्रकार का हुआ

४—विन्यास में[1] परिवर्तन

१- Set.

तो सीखी हुई वस्तु को हम नहीं दुहरा पाते यद्यपि ऐसा देखा गया है कि दूसरे प्रकार का मानसिक विन्यास होने पर वही बातें अपने आप स्मरण हो आती हैं। किसी व्यक्ति का नाम हमें बिल्कुल स्मरण नहीं आता यद्यपि मानसिक व्यवस्था बदलते ही वह नाम हमारे मुख से निकल पड़ता है। अपनी ही रखी हुई वस्तु हजार ढूढ़ने पर भी हमको नहीं मिलती यद्यपि थोड़ी ही देर बाद मानसिक व्यवस्था के बदलते ही हमारी दृष्टि उस पर चली जाती है। सम्मोहन की अवस्था में हम उन सभी बातों को दुहरा जाते हैं जिन्हें हम विस्मृत समझते थे। सम्मोहन की दशा में यदि व्यक्ति को कहा जाय कि तुम जागृत अवस्था में आने के बाद कुर्सी उठा कर टेबल पर रख दोगे तो वह जागृत अवस्था में आते ही कुर्सी उठाकर टेबल पर रखने लगता है। वह कहता है कि उसे स्मरण नहीं कि वह क्यों ऐसा कर रहा है। प्रकट है कि यह कार्य बेवकूफी का है फिर भी उसे वह करता है। सम्मोहन की अवस्था में दिये गये निर्देश वर्षों बाद भी कार्यान्वित होते देखे गये है। मनः विश्लेषण की चिकित्सा में रोगी के कहने पर भी कि उसे अपने बाल्य काल की बातें याद नहीं हम सदैव देखते हैं कि उसे बालपन के संस्मरण अबाध गति से होते जा रहे हैं।

मनः विश्लेषण के जन्मदाता डा० फ्रायड का कथन है कि विस्मरण की क्रिया जान बूझ कर होती है। हम वास्तव में किसी वस्तु को भूलते नहीं है वरन वह बातें या तो इतनी दुखःप्रद या लज्जाजनक हैं या उनमें हमारी रुचि नहीं है या हमारे लाभ के विरोध में हैं कि हम उन्हें जान बूझ कर अपने अचेतन से निकाल कर चेतन में दमन करने का प्रयत्न करते हैं। हम किसी जगह ठीक समय पर जाना भूल जाते हैं क्योंकि अचेतन रूप से हम वहाँ जाना नहीं चाहते थे। किसी व्यक्ति का नाम हमें याद इस लिये नहीं आता कि हमारे अचेतन में उसके प्रति विरोध या घृणा है।

पुनरावर्तन[1]

ऊपर के वर्णन से हमने ज्ञात किया कि किसी वस्तु के सीख लेने से ही उसकी धारणा निश्चत नहीं हो जाती। इसी प्रकार किसी वस्तु की धारणा हो जाने से ही यह नहीं निश्चत हो जाता कि उस वस्तु का समय पर पुनरावर्तन हो ही जायगा। हमने किसी प्रश्न का उत्तर भली प्रकार सीखा था। उसकी धारणा भी अच्छी थी यह हम देख चुके थे। पर परीक्षा में हम उस उत्तर का पुनरावर्तन न कर पाये। इससे यह नहीं ज्ञात होता कि उस वस्तु को हम भूल गये थे क्योंकि परीक्षा-गृह से बाहर आते ही वह उत्तर स्वयं हमें स्मरण हो आया था। इसका कारण किसी प्रकार की बाधा थी जिसने पुनरावर्तन में कठिनाई डाल दी।

यह बाधायें कई प्रकार की होती हैं जिनमें सबसे प्रमुख संवेगात्मक बाधा होती है। चिन्ता या डर के कारण हमें बहुत सी बातें समय पर याद नहीं आतीं। ऊपर के उदाहरण में कदाचित ऐसा ही हुआ था। अध्यापक के सामने उसके डर के कारण विद्यार्थी बहुत सी बातों का पुनरावर्तन नहीं कर पाता। सभा में व्याख्यान देने के लिये खड़े होने पर कुछ लोग इतने घबड़ा जाते हैं कि जो कुछ वह बोलना चाहते हैं सब भूल जाते हैं।

इसका दूसरा कारण यह भी होता है कि जब एक ही प्रकार की दो वस्तुयें चेतना में आ जाती हैं तो एक दूसरे के पुनरावर्तन में बाधा उपस्थित करती हैं जिसके फल स्वरूप किसी का भी पुनरावर्तन नहीं हो पाता। हम किसी से कुछ कहना चाहते हैं ज्योंही हमने कुछ कहने का प्रयत्न किया उसी समय कोई दूसरा विचार उपस्थित हो जाता है और पहले विचार के पुनरावर्तन में बाधा उपस्थित करता है। फलतः हमें या तो विचार ही भूल जाता है या हम हिचकिचाने लगते हैं।

१—Recall.

पहचान[1]

स्मरण की क्रिया में पहचान का भी प्रमुख स्थान है। वस्तुतः पहचान एक अनुभव है जिसमें हमको इस बात का भास होता है कि हम अमुक वस्तु को पहचानते हैं। कभी कभी यह अनुभव चेतन रूप से होता है जैसे हमें यह ज्ञात होता है कि हम अमुक वस्तु को पहचानते हैं कभी कभी हम किसी वस्तु को इतना अधिक पहचानते हैं कि इस पहचानने की क्रिया का हमें कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। जिस वस्तु को हम प्रतिदिन देखते हैं या उसको देखने का अभ्यास हो गया है उसकी पहचान में हमें चेतन रूप से पहचान का अनुभव नहीं होता। कभी कभी पहचान का अनुभव धीरे-धीरे होता है। किसी वस्तु को देख या सुन कर हमें यह अनुभव होता है कि इससे हम परिचित तो अवश्य हैं पर इसे कहाँ देखा या सुना है इसका स्मरण नहीं है। धीरे-धीरे उसके साहचर्य से उसके संबंध की अन्य बातें भी स्मरण होने लगती हैं और हम यह देखते हैं कि हमारा विचार ठीक है।

पुनरावर्तन और पहचान

पुनरावर्तन और पहचान में पहचान की क्रिया सुगम होती है। यदि तुम्हें बहुत से चित्र दिखाये जाँय और देखने के बाद तुम्हें उनका पुनरावर्तन करने को कहा जाय तो तुम इतना अधिक पुनरावर्तन नहीं कर सकते जितना तुम उन्हें पहचान सकते हो। पुनरावर्तन में वस्तु को फिर से उपस्थित करना पड़ता है किन्तु पहचान में वस्तु स्वयं उपस्थित रहती है।

पहचान में भूल

पहचान में प्रायः भूल भी होती है। कभी अनुभव की हुई वस्तु के समान ही दूसरी वस्तु के उपस्थित होने पर हमें उसके पहचानी होने का भ्रम होता है। कभी पहचानी वस्तु के उपस्थित होने पर भी हम उसे नहीं पहचान पाते।

१—Recognition.

भुलाना[1]

जीवन में कभी-कभी सीखी हुई वस्तु को भुलाने की भी आवश्यकता हो जाती है खास कर जब बुरी आदतें पड़ जाती हैं। इस क्रिया में हम विस्मरण की क्रिया के सभी कारणों का सहयोग लेते हैं। उस आधार पर हम यह कहेंगे कि पुरानी सीखी हुई वस्तु में नई सीखी हुई वस्तु से बाधा उपस्थित करने से पहली वस्तु की साहचर्य तीव्रता कम हो जाती है, फलतः हम भूलने लग जाते हैं। बच्चों में डर की आदत पड़ जाने पर यदि उस डर को पुनर्सापेक्षीकरण[2] किया जाय या उसे सामाजिक अनुकरण[3] का अवसर दिया जाय तो उसके डर के दूर होने की आशा की जा सकती है। डर की वस्तु का किसी ऐसी वस्तु से धीरे धीरे सापेक्षीकरण किया जाय जो बालक में प्रसन्नता उत्पन्न करती है तो बालक धीरे धीरे उस वस्तु को ग्रहण करने लगेगा और उसका डर कम हो जायगा। सामाजिक अनुकरण में बालक को अन्य बालकों के साथ रख दिया जाता है। बालक देखता है कि अन्य बालक उस वस्तु विशेष से नहीं डरते। इस प्रकार उसका भी डर धीरे-धीरे कम हो जाता है। इसी प्रकार लोगों में अन्य बुरी आदतों को भुलाने का प्रयत्न किया जाता है। सिगरेट पीने वालों ने चाकलेट या चूसने की गम[4] मुँह में रखकर धीरे-धीरे पुनर्सापेक्षीकरण करके अपनी आदत छोड़ी है।

मानसिक विन्यास में परिवर्तन करके भी आदतें छोड़ी जा सकती हैं। यदि हम निश्चय कर लें तो किसी भी आदत को छोड़ना सुगम हो जाता है। ऐसी क्रिया में कभी कभी पुरानी आदत को इस दृढ़ निश्चय से कि हम इसे तोड़ेंगे बार बार दुहराया जाता है। यह कहा जा सकता

१—Unlearning. २—Reconditioning. ३—Social imitation. ४—Chewing gum.

है कि बार बार दुहराने से तो आदत और दृढ़ हो जाती है किन्तु इस अवस्था में किसी आदत को बार बार दुहरा कर हम अपने आपको सजा देते हैं और इस प्रकार आदत छोड़ देते हैं।

कभी-कभी सजा देने से भी बालकों की या अन्य व्यक्तियों की आदतें छूट जाती हैं। पर इसके बर्तने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। यदि सजा अधिक समय के बाद दी गई या आवश्यकता से अधिक हो गई तो लाभ के स्थान पर हानि होने की अधिक आशंका है। साथ ही साथ इस उपाय के फल के बारे में हम सर्वदा निश्चित नहीं हो सकते। अतः इसका प्रयोग जहाँ तक हो सके कम से कम करना चाहिये।

सीख का स्थानान्तरण[१]

यह हमारे प्रति दिन के अनुभव की बात है कि हम एक वस्तु को सीख कर उसके सहारे उस प्रकार की दूसरी वस्तु को भी कार्यान्वित कर लेते हैं। जैसे यदि हमने एक सायकिल पर चढ़ना सीख लिया है तो हम दूसरी पर भी आसानी से चढ़ सकते हैं यदि हमने कक्षा में गुणा भाग सीखा है तो उसका उपयोग हम बाजार से सौदा लाने में कर सकते हैं। किन्तु कभी कभी इसका विपरीत अनुभव की हमारे सन्मुख आता है। यदि हम एक प्रकार की मशीन पर कार्य करना सीख चुके हैं तो उससे भिन्न प्रकार की मशीन पर कार्य करना हमारे लिये कठिन हो जाता है जब एक प्रकार की सीख दूसरी प्रकार की सीख या कार्य में सहायता पहुँचाती है तो उसे हम अनुरूप स्थानान्तरण[२] कहते हैं किन्तु जब एक प्रकार की सीख दूसरी प्रकार की सीख या कार्य में बाधा उपस्थित करती है तो उसे हम विपरीत स्थानान्तरण कहते हैं[३]।

१—Transfer of learning. २—Positive transference. ३—Negative transference.

प्राचीन काल में इस स्थानान्तरण की क्रिया में अधिक विश्वास किया जाता था। बालकों को हिसाब इसलिये पढ़ाया जाता था कि कठिन वस्तु के पढ़ लेने से बालक में कठिन से कठिन कार्य कर लेने की क्षमता आ जायगी। किसी वस्तु के रट लेने से स्मृति बढ़ जायगी। सीख के अध्याय में तुम देख चुके हो कि भिन्न भिन्न व्यक्तियों में सीखने की क्षमता भिन्न-भिन्न होती है। भिन्न प्रकार के सीखने की वस्तु की सीख भी भिन्न होती है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के सीखने के उपायों से भी भिन्न प्रकार की सीख होती है इसलिये अब हम प्रयोगों के आधार पर पूर्ण और सार्वजनिक स्थानान्तरण पर विश्वास नहीं करते किन्तु स्थानान्तरण होता है इससे इन्कार भी नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में जिन तथ्यों का निरूपण हुआ है वे इस प्रकार हैं :—

(१) एक प्रकार की वस्तु को सीख लेने या अभ्यास कर लेने से उसी प्रकार की वस्तु के सीखने में सहायता प्राप्त होती है।

(२) शारीरिक कार्यों में प्रायः शरीर के एक अंग से एक कार्य के सीखने पर दूसरे अंग से उस कार्य के सीखने में सुगमता होती है। जैसे दाँये हाथ से किसी वस्तु के सीखने पर बाँये हाथ से उस वस्तु के सीखने में सुगमता होती है।

(३) जहाँ तक एक प्रकार की वस्तु के सीखने का उसके दूसरे प्रकार की वस्तु पर स्थानान्तरण होने का प्रश्न है हम यह कह सकते हैं कि इसमें सफलता नहीं प्राप्त होती। थार्नडाइक ने इस सम्बन्ध में कई प्रयोग किये और उसका यही अनुभव रहा कि एक प्रकार की वस्तु सीखने से दूसरी प्रकार की वस्तु सीखने में कोई लाभ नहीं पहुँचता। इस प्रकार समय व्यर्थ गवाने से कहीं अच्छा यह है कि दूसरे प्रकार की वस्तु को सीखने का प्रयत्न किया जाय।

प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि यदि किसी नई उत्तेजना के प्रति हमें पुरानी प्रतिक्रिया करनी पड़ती है तो इसमें हमें सुगमता होती है और इस प्रकार के स्थानान्तरण को हम अनुरूप

स्थानान्तरण[1] कह सकते हैं। किन्तु जब हमें पुरानी उत्तेजना के प्रति नवीन प्रतिक्रिया करनी पड़ती है तो हमारी पुरानी प्रतिक्रिया बाधा उपस्थित करती है। उदाहरण के लिये यदि एक सायकिल को चलाना सीख कर हम दूसरी सायकिल पर चढ़ते हैं तो हमें सरलता होती है क्योंकि हम नवीन उत्तेजना के प्रति प्राचीन प्रतिक्रिया करते हैं। किन्तु यदि एक कविता को याद कर उसे दुहराने के स्थान पर हम उसे उलटा कहने का प्रयत्न करते हैं तो हमारी पुरानी प्रतिक्रिया बाधा उपस्थित करती है। इस प्रकार के स्थानान्तरण को विपरीत स्थानान्तरण[2] कहते हैं।

विपरीत स्थानान्तरण

स्मृति में उन्नति

स्मरण और विस्मरण की क्रिया के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक जान लेने के बाद यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या स्मृति में उन्नति हो सकती है। प्रायः ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनकी इच्छा होती है कि उनकी स्मृति बढ़ जाय। उनका विश्वास है कि उनकी स्मृति कुछ कारणों से अच्छी नहीं है अतः उनको इसको बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। उनके संतोष के लिये ऐसे व्यक्तियों की भी कमी नहीं है जो उन्हें इस पुनीत कार्य में सहायता देने को तत्पर रहते हैं। जो उपाय वह बतलाते हैं यदि उन पर अमल किया जाय तो स्मृति अच्छी हो जाती है। किन्तु ज्यों ही उन सिद्धान्तों पर अमल करना बन्द कर दिया जाता है त्यों ही स्मृति अपनी पुरानी अवस्था पर पहुँच जाती है। इसका क्या कारण है? इसका कारण यही है कि स्मृति नाम की कोई शक्ति नहीं थी। जिसकी उन्नति हुई थी। वह तो विशेष प्रकार की रीति थी जिसके प्रयोग से सीखना भली प्रकार होता था, उसकी धारणा अच्छी तथा पुनरावर्तन संतोषप्रद था। इन सब के मिल जाने से स्मृति अच्छी समझी गई

१—Positive transference. २—Negative transference.

थी। प्रयोग से यह तथ्य बार बार सिद्ध हो चुका है कि सीखने की उत्तम रीतियों के प्रयोग से स्मृति अपने आप अच्छी हो जाती है। इसलिये स्मृति के सम्बन्ध में हम उन सिद्धान्तों को यहाँ पर पुनः दोहराते हैं।

१—प्रेरणा

सबसे आवश्यक है सीखने की प्रेरणा होना। यदि उचित प्रेरणा हुई तो सीख अधिक दृढ़ होगी। यह अवश्य है कि प्रेरणा कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे जब चाहा बुला लिया। फिर भी इसके अभाव में सीखना उचित प्रकार का नहीं हो सकता। अनेक सन्मुख लक्ष्य का होना आवश्यक है जिसकी ओर हमारी प्रगति हो। लक्ष्य के दूर होने पर हम उपलक्ष्य या छोटे-छोटे लक्ष्य बना सकते हैं जिनकी पूर्ति से हमें संतोष प्राप्त होता है तथा हमारी सीख दृढ़ होती है। समय-समय पर हमें अपनी प्रगति का सिंहाव-लोकन कर लेना चाहिये जिससे हम प्रेरणा पाते रहें तथा प्रगति करते रहें।

२—अवधान

प्रेरणा तथा रुचि से बाध्य होकर हमें अपनी अवधान की क्रिया करनी पड़ती है जिसके फल स्वरूप हमारा सीखना उचित प्रकार का होता है। यदि अवधान की क्रिया उचित नहीं है तो हमें ज्ञात करना चाहिये कि ऐसा क्यों है तथा वाधाओं को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

३—प्रतिमाओं की प्रचुरता

कल्पना के अध्याय में हम पढ़ चुके हैं कि प्रतिमाओं के उपयोग से स्मृति अच्छी होती है। अतः सीखने के अवसर पर हमको वस्तु की अधिक से अधिक प्रतिमा उत्पन्न का प्रयत्न करना चाहिये जिसके सहारे उपयुक्त अवसर पर हम उसे सुगमता से स्मरण कर सकें।

४—पुनरावृत्ति

सीखने के समय वस्तु की पुनरावृत्ति करते रहने से वह अधिक याद होती है अतः उसकी स्मृति भी अच्छी होती है।

सीखने की वस्तु का वितरित अभ्यास करने से उसकी सीख

५—वितरित अभ्यास दृढ़ होती है। अतः वह स्मरण भी अच्छी प्रकार रहती है।

सीखने की वस्तु यदि सार्थक होती है या उसमें कुछ अर्थ

६—सार्थकता लगाया जा सकता है तो उसकी स्मृति भी अच्छी होगी।

यदि सीखने की वस्तु को हम यों ही तोता की तरह रटते नहीं बल्कि

७—ज्ञान और तत्परता उसे समझ-समझ कर याद करते हैं तो उसकी स्मृति अच्छी होती है। साथ ही साथ यदि हम उसे उत्परता से याद करते हैं तो उसकी स्मृति भी अच्छी होती है।

(८) सीखने तथा पुनरावर्तन के बीच में यदि अन्य उत्तेजनाओं का प्रवेश कम से कम कर दिया जाय यानी सीखने तथा पुनरावर्तन के समय में आराम कर लिया जाय तो उस वस्तु की सीख और स्मृति भी अच्छी होती है।

(९) आवश्यकता से अधिक सीखने से भी उसकी धारणा अच्छी होती है।

इस प्रकार हमने देखा कि स्मृति कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसकी उन्नति के लिये कोई नुस्खा काम दे सकता है। यह सब कुछ हमारे सीखने पर निर्भर होता है जो स्वयं व्यक्ति की क्षमता, वस्तु तथा सीखने की रीतियों में उपयोग पर निर्भर होता है। स्मृति की उन्नति से तात्पर्य केवल सीखने की क्रिया को उत्तम बनाना है जिसके अभाव में स्मृति का अच्छा न होना स्वाभाविक है।



अध्याय-१२

संवेग[1]

मनुष्य संसार के अन्य जीवों से इसीलिये श्रेष्ठ समझा जाता है कि वह एक विचारवान प्राणी है तथा वह अपने कार्यों में तर्क का प्रयोग करता है। किन्तु यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो उसके जीवन की बहुत सी वैयक्तिक या सामूहिक घटनाँये तर्क से दूर होकर संवेगात्मक होती हैं। उसे केवल संवेग का अनुभव ही नहीं होता वरन् यह संवेगात्मक प्रतिक्रिया भी करता है। किसी सभा या भीड़ में वह ऐसे कार्य कर डालता है जो तर्क की दृष्टि से असंगत प्रतीत होते हैं। उस समय वह पूर्ण रूप से संवेगों के प्रभाव में रहता है। देश, जाति, धर्म इत्यादि के प्रति उसका प्रगाढ़ प्रेम तर्क पर नहीं वरन् संवेगों पर व्यवस्थित रहता है और तनिक सा भी अवसर पाकर भड़क उठता है। इस देश के नागरिकों को धर्म के नाम पर लोगों को मन्दान्ध होते तथा मनुष्यता से परे कृत्य होते देखने का भली प्रकार अनुभव है। देश के विभाजन के पहले तथा उसके बाद धर्म के नाम पर जो घटनायें घटित हुईं उनसे पशु भी लजीला हो उठता है। प्रगट है कि यह सभी कृत्य तर्क संगत न होकर संवेगात्मक थे। व्यक्ति के संवेगों की इस दशा का उनके नेताओं को पूर्ण ज्ञान रहता है तथा अवसर पाकर वह उसका लाभ उठाते हैं। तानाशाहों की तानाशाही भी इसी के बल टिकती है। वर्तमान काल का प्रचारक[2] लोगों के सामने ऐसी उत्तेजनायें उपस्थित करता है जिससे लोगों में संवेगात्मक प्रतिक्रिया हो। इस अवस्था में उनका विशुद्ध तर्क

१—Emotion. २—Propagandist.

भी अशुद्ध हो जाता है और इस नवीन तर्क के सहारे वह अपने सभी कार्यों का अनुमोदन करते हैं।

इस प्रकार का संवेगात्मक अनुभव सभी को होता है। उसके सहारे संवेगों के अनुभव के समय की कुछ विचित्रता का उसे ज्ञान रहता है। उसे ज्ञान रहता है। उसे ज्ञान रहता है कि संवेगात्मक अनुभव के समय वह पूर्ण रूप से अव्यवस्थित हो जाता है। क्षण भर के लिये उसका नियंत्रण अपने आप पर से हट जाता है और वह पूर्णरूप से "संवेगमय" हो जाता है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया आवश्यक रूप से सभी में एक प्रकार की नहीं होती। एक ही प्रकार की उत्तेजना प्राप्त होने या परिस्थिति के सन्मुख आने पर कोई तो पूर्णरूप से संवेगमय हो जाता है पर किसी पर इसका कोई प्रगट प्रभाव नहीं पड़ता। परतंत्रता के समय देश पर विदेशियों के अत्याचार देखकर कुछ नवयुवकों का खून खौल उठता था और वह बदला लेने की प्रतिज्ञा करते थे। इसी प्रकार के संवेगात्मक अनुभवों के फलस्वरूप हमारे देश के कुछ नौजवान क्रान्तिकारी हो गये तथा अपने बलिदानों से देश का गौरव बढ़ाया। उन्हीं परिस्थितियों में कुछ लोग अपनी असमर्थता प्रतीत करते थे तथा अपनी दुर्दशा पर आँसू बहाकर शान्त हो जाते थे। उन्हीं परिस्थितियों में कुछ ऐसे भी भारतीय थे जो विदेशियों के इन अत्याचारों में केवल साथ ही नहीं देते थे वरन् उन्हें और अत्याचार करने के लिये भड़काते थे।

इन संवेगों का उदय केवल बाह्य परिस्थितियों के कारण ही नहीं होता। कभी आन्तरिक उत्तेजनाओं के प्राप्त होने पर भी संवेगों का उदय होता है। शरीर में किसी प्रकार का कष्ट प्राप्त होने पर भी व्यक्ति को रोना आता है और किसी व्यक्ति का स्मरण आने पर भी उसे रोना आता है। अपने प्राचीन गौरव का भी स्मरण करके व्यक्ति रोते हैं तथा अपने विचारों और उद्देश्यों को विफल होते देख कर भी आँसू टपकता है। कविवर जयशंकर प्रसाद की 'आँसू' नाम की कविता में कवि का यही संवेगात्मक स्वरूप प्रगट होता है।

संवेगों के उदय होने पर व्यक्ति को कार्य करने की प्रेरणा होती है। या तो वह उस परिस्थिति से बचने का प्रयास करता है या उस पर विजयी होने का प्रयत्न करता है। या तो लक्ष्य की ओर उसकी प्रेरणा की तीव्रता क्षीण हो जाती है या वह अत्यन्त प्रबल हो जाती है।

उपरोक्त प्रेरणा के अतिरिक्त हमारा यह भी अनुभव है कि संवेगों के कारण कभी उसके प्रति दिन की कार्य-क्षमता में बाधा उपस्थित हो जाती है और कभी उसे ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है जिससे वह कठिन से कठिन कार्य करने में भी सफल होता है या उसमें कठिन से कठिन विपत्तियों और कष्टों को झेलने की क्षमता हो जाती है। भारत के स्वतंत्रता-संग्राम में लोगों ने जेल की कष्टप्रद कठिनाइयों को देश प्रेम के संवेग से कारण ही हँसते-हँसते झेल लिया।

कभी कभी संवेगों की तीव्रता इतनी प्रबल हो जाती है कि उसके कारण हमारा व्यक्तित्व छिन्न भिन्न हो जाता है। विक्षिप्त और सनकी मनुष्यों की वर्तमान दशा उनके संवेगों की तीव्रता के कारण ही उत्पन्न होती है।

साथ ही साथ संवेगों के कारण ही हमें संसार के कुछ ऐसे सुख प्राप्त होते हैं जिसके अभाव में जीवन कदाचित् सार्थक न होता। वात्सल्य या अन्य प्रकार का प्रेम कला कौशल आदि की ओर रुचि, कविता और संगीत का सुख केवल संवेगों के कारण ही हमें प्राप्त होता है।

इन सब अनुभवों के आधार पर हम संवेग की परिभाषा पी० टी० यंग[1] के शब्दों में निम्न प्रकार दे सकते हैं (संवेग सपूर्ण व्यक्ति की वह

परिभाषा

तीव्र अव्यवस्था है जो मनोवैज्ञानिक है तथा जिसमें व्यक्ति का व्यवहार चेतन अनुभव तथा उसके नाड़ी-तंत्र के कार्य सभी सम्मिलित हैं।)

उपरोक्त परिभाषा से हमें यह ज्ञात हुआ कि संवेग व्यक्ति को अव्यवस्थित कर देते हैं पर केवल इतना ही जानना हमारे लिये काफी नहीं

१—P. T. Young.

है। हम यह भी जानना चाहते हैं कि यह अव्यवस्था कैसे उत्पन्न होती है। हमारे व्यवहार, चेतन अनुभव तथा नाड़ियों का कार्य किस प्रकार होता है तथा हमारे व्यवहार और चेतन अनुभव में किस प्रकार का सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं पर यहाँ पर हम केवल तीन सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

संवेग के सिद्धान्त

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं सभी व्यक्तियों को अपने संवेगों का अनुभव होता है। उस अनुभव के आधार पर लोगों का विचार है

१—सर्वसाधारण का विचार

वाह्य वस्तु से प्रभावित होकर हमारे ग्राहक उत्तेजना को मस्तिष्क तक पहुँचाते है। मस्तिष्क में चेतना के साथ परिवर्तन होने पर हमें वस्तु का प्रत्यक्ष होता है और उस वस्तु का संवेगात्मक अनुभव होता है। फिर कार्य करने की प्रेरणा होती है। मस्तिष्क की यह दशा हमारे प्रभावकों में पहुँचाती है जिसके फल स्वरूप हमारे शरीर की आन्तरिक क्रियाओं में परिवर्तन होता है, भाव प्रगट होने लगते हैं तथा हमें कार्य करते हैं। सर्वसाधारण से मान्य सिद्धास्त में सबसे प्रमुख वस्तु यह हुई कि संवेग का उदय मस्तिष्क से होता है तथा शारीरिक परिवर्तन मस्तिष्क के परिवर्तन के फल स्वरूप होते हैं।

मनोवैज्ञानिक संवेगों का यह सीधा और सरल स्वरूप मानने को नहीं तैयार है। इस सिद्धान्त का विरोध अमेरिका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स[१] और डेनमार्क के मनोबैज्ञानिक डा० लैंगे[२] ने किया। चूँकि इन दोनों मनोवेज्ञानिक ने स्वतन्त्र रूप से एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया जो प्रायः साथ ही साथ लोगों को ज्ञात हुये इसलिये इस सिद्धान्त का नाम—जेम्स लैंगे सिद्धान्त[३] पड़ पया।

१—William James. २—Dr. Lange. ३—James Lange Theory.

जेम्स और लैंगे के सिद्धान्त ने सर्वसाधारण से मान्य सिद्धान्त के घटनाओं का तारतम्य बदल दिया। उनका कहना था कि व्यक्ति की शारीरिक प्रतिक्रिया मस्तिष्क के परिवर्तन के फलस्वरूप नहीं होती बल्कि ज्ञानवाही नाड़ियों इत्यादि में परिवर्तन होने के फलस्वरूप होती है। जब इन ज्ञानवाही नाड़ियों से उत्तेजित शारीरिक परिवर्तन मस्तिष्क तक पहुँचता है तब हममें संवेग का उदय होता है। इस प्रकार संवेगात्मक अनुभव के पश्चात शारीरिक प्रतिक्रियायें नहीं होतीं बल्कि शारीरिक प्रतिक्रियायों के फलस्वरूप संवेगात्मक अनुभव होता है। विलियम जेम्स का कहना है, "मेरा यह सिद्धान्त है कि किसी उत्तेजनात्मक वस्तु को देख कर हमारे शरीर में परिवर्तन होता है। इस शारीरिक परिवर्तन के होने के समय का जो हमारा भाव होता है वही संवेग होता है।......हम दुःखी होते हैं क्योंकि हम रोते हैं, हम क्रोधित होते हैं, क्योंकि हम मारते हैं, हम डर जाते हैं क्योंकि हम काँपते हैं। ऐसा नहीं कि हम इसलिये रोते, मारते या काँपते है। कि हम दुःखी या क्रोधित या डरे हुये होते हैं।" जेम्स का कहना था कि बिना शारीरिक परिवर्तन के संवेगात्मक अनुभव होना असम्भव होता है। यदि किसी संवेग के उदय पर जो शारीरिक परिवर्तन होते हैं न हों तो संवेगात्मक अनुभव न होगा और यदि वह सभी परिवर्तन हों तो संवेगात्मक अनुभव निश्चित होगा। जेम्स को अपने सिद्धान्त का सबसे बड़ा सहारा स्टेज के अभिनेताओं से प्राप्त हुआ। अभिनेताओं ने जेम्स को बताया कि किसी विशेष अवसर पर जब वे अपने में शारीरिक परिवर्तन करते हैं तो उन्हें संवेगात्मक अनुभव होता है और इस प्रकार उनका अभिनय उत्तम होता है। जेम्स को कुछ अभिनेताओं ने यह भी बताया था कि अभिनय के समय उनको किसी भी प्रकार का संवेगात्मक अनुभव नहीं होता। उनका कहना था कि अभिनय एक प्रकार की कला है जिससे वे दर्शकों में भ्रम उत्पन्न करते हैं। आज कल फिल्मों की शूटिंग का यदि

२—जेम्स-लैंगे सिद्धान्त

जेम्स का विस्तृत ज्ञान होता तो कदाचित वह अपने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन और तथ्यों पर करता पर अभिनेताओं के बयान पर न करता।

जेम्स को अपने सिद्धान्त का सहारा उस अनुभव से प्राप्त हुआ जिसे वह "वस्तु विहीन संवेग"[१] कहता है। उसके बालपन में स्वयं उसे इस प्रकार का अनुभव हुआ था। एक घोड़े को बहुत खून बहा। लड़का जेम्स ने उस खून में अपनी छड़ी खूब घुमाई और उस छड़ी को लेकर चला। उससे खून टपकता था। उस समय उनके अन्दर कोई विचार नहीं था। किन्तु एकायक उसके आँखों के सामने अँधेरा छा गया कानों में भनभनाहट होने लगी और वह बेहोश हो गया। उसे इस प्रकार का कभी अनुभव नहीं हुआ था। इस घटना से जेम्स ने यह निष्कर्ष निकाला है कि केवल वस्तु की उपस्थिति से उसके शरीर में परिवर्तन हो गया।

जेम्स के इस सिद्धान्त का बड़ा विरोध हुआ। अपने सिद्धान्तों को प्रतिपादन करने के लिये उसने जो सबूत दिये वे सब मान्य और दृढ़ नहीं थे। साथ ही साथ उसके सिद्धान्त को सच मानने के लिये अन्तर्दर्शन[२] की आवश्यकता थी। इसके बिना हम यह नहीं ज्ञात कर सकते कि संवेगात्मक अनुभव पहले होता है या शारीरिक परिवर्तन पहले होता है।

इस सिद्धान्त का विरोध इस प्रकार भी हुआ कि लोगों ने कहा कि इस सिद्धान्त के अनुसार हमारे संवेग हमारे स्थूल शरीर पर निर्भर होते हैं। यह उनको मान्य नहीं था कि संसार के पुनीत से पुनीत अनुभव को हम शरीर से उत्पन्न मानें आत्मा से नहीं।

शेरिंगटन और कैनन[३] *का विरोध :*— जेम्स के इस सिद्धान्त का विरोध इंगलैंड में शेरिंगटन और अमेरिका में कैनन ने प्रयोगात्मक रूप से किया। शेरिंगटन ने आपरेशन करके जानवरों का मस्तिष्क और

१—Objectless emotion. २—Introspection. ३—Sherington and Cannon.

थैलमस का कुछ हिस्सा निकाल दिया या चर्म और मांसपेशियों से संवेदनाओं को निकाल दिया फिर भी जानवरों में संवेगात्मक अनुभव होता रहा। इस प्रकार उसने जेम्स के सिद्धान्त पर आपत्ति की। उसके अनुभव से यह सिद्ध हुआ कि शारीरिक परिवर्तवन आवश्यक नहीं है। शेरिंगटन को यह प्रयोग जेम्स के सिद्धान्त का न तो पूर्ण रूप से विरोध ही करता है न प्रतिपादन ही। उसके सभी प्रयोग जानवरों पर हुये थे जिनमें चेतना का प्रायः अभाव रहता है। जानवर अन्त दर्शन के द्वारा अपने भावों को प्रकट नहीं कर सकते। यह हो सकता है कि उनकी वाह्य प्रतिक्रिया तो वैसी ही रही हो पर उन्हें संवेदात्मक अनुभव न हुआ हो। साथ ही इस प्रकार के आपरेशन में कापालिक अनुत्रिका नाड़ी मंडल[१] ज्यों का त्यों रह जाती है। इसके ज्यों का त्यों रह जाने से भी व्यक्तियों में संवेगों का अनुभव होता है।

कैनन ने इससे भी अधिक प्रयोग किये। उसने जानवरों के स्वतंत्र नाड़ी मंडल से सभी हिस्से जैसे दिल, लिवर, एड्रीनल इत्यादि अलग कर दिये। इन जानवरों ने सभी प्रकार के संवेग प्रकट किये। यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि इन जानवरों को अपने संवेगों की कोई चेतना नहीं थी और इस लिये यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने संवेगात्क अनुभव किया या नहीं।

इन प्रयोगों के अतिरिक्त व्यक्ति के शरीर में कृत्रिम रूप से संवेग उत्पन्न करने का भी प्रयत्न किया गया है। ऐड्रिनिन[२] के इन्जेक्शन देने से व्यक्ति में शारीरिक परिवर्तन-जैसे नाड़ी का तेज चलना, हाथ का ठंडा होना, पैर और आवाज में कँपकपी होना—इत्यादि होते हैं। व्यक्ति यह कहता है कि उसे डर जैसा लग रहा है या वह अन्य संवेगों को अनुभव करता प्रतीत होता है। पर वास्तव में वह संवेगों का सचमुच अनुभव नहीं करता उसे केवल लगता है कि वह संवेगों के प्रकार की कोई वस्तु अनुभव कर रहा है।

१—Parasympathetic nerves. २—Adrenin.

कुछ और प्रयोगों में यह प्रगट हुआ कि यद्यपि वाह्य शारीरिक परिवर्तन नहीं हुये किन्तु संवेगों के समय की आंतरिक क्रिया जैसे दिल की धड़कन, पसीना का छूटना आदि होता रहा। फिर भी व्यक्ति का कहना है कि उसे संवेगों का अनुभव नहीं हुआ।

कुछ संवेगों के समय शारीरिक व्यवहार प्रायः एक सा रहता है पर उनका संवेगात्मक अनुभव भिन्न भिन्न प्रकार का होता है जैसे डर और क्रोध में प्रायः एक सा शारीरिक परिवर्तन होता है। इससे यह प्रगट होगा कि शारीरिक परिवर्तन के कारण संवेगों का उदय कदाचित् नहीं होता।

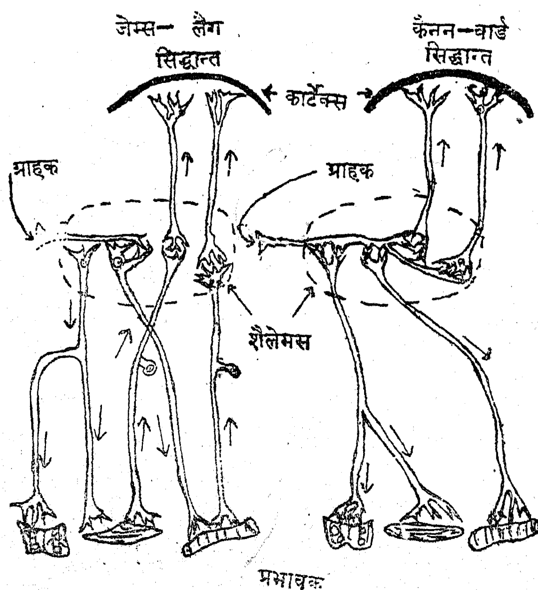
इन सभी प्रयोगों से यह प्रगट होता है कि शारीरिक परिवर्तन से व्यति किसी संवेग विशेष का अनुभव करने के लिये बाध्य होता है पर संवेगों के उदय के लिये शारीरिक परिवर्तन आवश्यक नहीं हैं।

कैनन और बार्ड का थैलमिक सिद्धान्त[1]

इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों का कहना है कि संवेगों के उदय का केन्द्र हाइपोथैलेमस है इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कैनन और बार्ड नाम के मनोविज्ञान वेत्ताओं ने किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार संवेगात्मक अनुभव और संवेगात्मक व्यवहार एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। जेम्स-लैंगे सिद्धान्त में मुख्य बात यह थी कि शारीरिक परिवर्तन के ज्ञान होने से संवेगात्मक अनुभव होते हैं। किन्तु कैनन और बार्ड का कथन है कि यह दोनों साथ साथ होते हैं। इस सिद्धान्त के मान लेने से जेम्स-लैंगे सिद्धान्त की कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। सुषुम्ना नाड़ी[2] के गर्दन के पास कट जाने पर भी हाइपोथैलेमस[3] का कार्य होता रहता है जिससे संवेग उत्पन्न होते हैं। एड्रिनिन का इन्जेकशन देने पर भी हाइ-

१—Thalamic theory of Cannon and Bard. २—Spinal chord.
३—Hypothalamus.

पोथैलेमस का कार्य नहीं होता इस लिये वास्तविक संवेग नहीं उत्पन्न होते। किन्तु इस सिद्धान्त की कठिनाई तब प्रगट होती है जब हम यह देखते हैं कि हाइपोथैलेमस के उत्तेजित करने पर भी पूर्ण रूप से संवेग उत्पन्न नहीं होते। न तो परिस्थिति से उनका कोई सम्बन्ध होता है और न व्यवस्थित होने की क्षमता। वह संवेग थोड़े देर तक ही रहते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि नाड़ीतंत्र का भी संवेगों के उदय में भाग रहता है। जेम्सलैंगे और थैलेमिक सिद्धान्तों का भेद निम्नलिखित चित्र से पूर्ण रूप से समझ में आ जायगा।



चित्र सं०—३८

इन दो सिद्धान्तों के परस्पर विरोधी होने पर भी हम न तो दोनों को पूर्ण रूप से मान सकते हैं न दोनों को छोड़ सकते हैं इन दोनों सिद्धान्तों के भी संवेगों का पूर्ण रूप से पता नहीं चलता। इन दो

सिद्धान्तों के साथ और भी प्रयोग कदाचित् इस प्रश्न पर अधिक प्रकाश डाल सकें।

संवेगों का विकास

अभी तक यह निर्विवाद रूप से सिद्ध नही हो पाया है कि संवेग नैसर्गिक होते हैं क्योंकि यदि ऐसा होता तो बालपन में इन संवेगों के स्पष्ट रूप दृष्टिगोचर होते। इस विषय पर प्रयोग भी कम हुये हैं। विशेष तौर पर संवेगों में शारीरिक परिवर्तन के सम्बन्ध में जिस प्रकार जीवों पर प्रयोग हो सके हैं उस प्रकार बालकों पर नहीं हो पाये हैं।

व्यवहारवादी मनोविज्ञान[1] का जन्मदाता वाट्सन[2] ने सर्व प्रथम इस ओर ध्यान दिया। उसने बालकों के व्यवहारों का सूक्ष्म अवलोकन किया और उसे बालकों में तीन संवेगों के स्पष्ट रूप प्रतीत हुये। वे हैं डर, क्रोध और प्यार उसने देखा कि डर में श्वांस की गति तीव्र हो जाती है, हाथ से बालक कुछ पकड़ने का प्रयत्न करने लगता है, आँखे बन्द हो जाती हैं और बालक रोने लगता है। यह संवेग बालक में सहारा दूर हो जाने, एकायक धक्का खा जाने, झकझोर उठने या तीव्र आवाज सुनने से उत्पन्न होता है। बालकों में डर का संवेग अँधेरे, या जानवरों के देखने इत्यादि से नहीं उत्पन्न होता। बड़े हो जाने पर बालकों में डर की वस्तु देखने पर भागने या छिपने की जो प्रवृत्ति होती है वह जन्मजात नहीं है बल्कि समाज के अनुकरण और सापेक्षीकरण के कारण उत्पन्न होता है।

बालक में क्रोध का संवेग तब उत्पन्न होता है जब उस पर किसी प्रकार का बंधन लग जाता है। इस अवस्था में शरीर कड़ा हो जाता है, हाथ पैर फैल जाते हैं तथा जल्दी-जल्दी ऊपर और नीचे चलने लगते हैं, बालक चिल्लाने और रोने लगता है। रोते-रोते उसका चेहरा तम-

१—Behaviourist. २—Watson.

तमा आता है और साँस रुकने लगती है। बड़े लड़कों के हाथ और पैर का फटकारना और अच्छी तरह व्यवस्थित होता है।

बालक में प्यार का संवेग उसके गुदगुदाने उसे थपथपाने या धीरे-धीरे हिलाने इत्यादि से उत्पन्न होता है। इस संवेग में बालक गरगलाता है मुस्कराता है। बड़े बालक अपना हाथ भी आगे बढ़ाते हैं। बालक के होंठ और जनेन्द्रिय के उत्तेजित करने से भी उसमें इसी प्रकार के संवेग उत्पन्न होते हैं।

इस विषय पर शर्मन[1] और उसके साथियों के प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि बालक में केवल दो ही प्रारंभिक संवेग दृष्टिगोचर होते हैं। सुखप्रद परिस्थिति के अतिरिक्त दुःखप्रद परिस्थिति दो प्रकार की होती है। एक ऐसी दुःखप्रद परिस्थिति होती है जिसमें बालक वार या हमला करता या करने को उद्यत होता है। इसे हम क्रोध का संवेग कहते है। इसी दुःखप्रद परिस्थिति में वह भागने या बचने का प्रयत्न करता है। इसे हम डर कहते है। बालकों में अन्य संवेग जो विलग विलग दृष्टिगोचर होते है उनका उदय उसके बड़े हो जाने पर होता है जब वह बाह्य परिस्थितियों का सामना करना सीख लेता है।

परिपक्वता और शिक्षा का संवेगो पर प्रभाव

बाल्य काल से निकल कर बालक ज्यों ज्यों प्रौढ़ावस्था की ओर अग्रसर होता है त्यों त्यों उसके संवेगों में परिपक्वता आती जाती है। पहले केवल कुछ परिस्थतियों के कारण ही उनमें संवेग उत्पन्न होते हैं। किन्तु ज्यों ज्यों उसका अनुभव विस्तृत होता है त्यों त्यों उनमें कई उत्तेजनाओं और परिस्थितियों से यही संवेग उत्पन्न होते हैं। साथ ही साथ उसके संवेगों के प्रगट करने के ढंग में भी परिवर्तन होता जाता है पहले उसके संवेगों का रूप अव्यवस्थित और भद्दे प्रकार का था पर अब वह धीरे धीरे परिमार्जित और सुसभ्य हो जाता है। पहले वह रोकर और

१—Sherman.

हाथ पाँव फेंककर अपना क्रोध प्रगट करता था अब वह आँखे लाल कर लेता है। भौंहों में बल पड़ जाते हैं। या वह क्रोध में भली बुरी बातें बकता है या तेजी से टहलने लगता है। कभी कभी वह अपना क्रोध पत्रों में लेख लिख कर या कहानियों द्वारा भी प्रगट करता है इसी प्रकार उसका प्रेम का संवेग मुस्करा कर ही शान्त नहीं हो जाता। वह प्यार की बातें करता है। चुम्बन आदि के लिये उत्सुक रहता है। कविता या पत्र लिखकर अपना प्रेम प्रगट करता है, वाह्य व्यवहारों ही में नहीं वरन उनकी आन्तरिक क्रियाओं के भी कुछ परिवर्तन हो जाते हैं। हमारे प्रतिदिन के अनुभव में इस बात के प्रचुर उदाहरण उपलब्ध हैं जिनसे यह प्रगट होता है कि संवेगों पर हमारी शिक्षा या सापेक्षीकरण का प्रभाव पड़ता है। बालक के सामने आग रख दीजिये और उसे वह उठाने लगेगा। आग से उसे किसी भी प्रकार का डर नहीं लगेगा। किन्तु जलजाने पर उसमें डर का संवेग उत्पन्न हो जायगा फिर वह जल्दी आग से खेलने का प्रयत्न नहीं करेगा। तुम जानते हो कि दूध का जला किस प्रकार मट्ठा फूक फूक कर पीता है। बालक साँप, बिच्छू इत्यादि से भी नहीं डरता। पर लोगों को डरते देखकर या डरा देने पर उसमें भी डर का संवेग उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार हमारे अन्य संवेग भी बाल्यकाल में सापेक्षित हो जाते हैं जिनके फल स्वरूप हमारे वर्तमान संवेगों का स्वरूप सीधा न रह कर अत्यन्त जटिल हो जाता है तथा जिनके कारण हमारा व्यक्तित्व भी अत्यन्त जटिल हो जाता है। वही कारण है मनः विश्लेषण के ज्ञाता मानसिक चिकित्सा में संवेगों के प्रथम रूप को जानने का प्रयास करते हैं जो व्यक्ति की वर्तमान चेतन अवस्था से बिलकुल ही छिपी हुई है।

संवेगों की पहचान

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट हो गया कि बालक में हम अधिक से अधिक दो या तीन संवेगों को प्रारंभिक रूप से देख पाते हैं। धीरे धीरे शिक्षा और समाज के प्रभाव से उनके प्रगट होने में कुछ परिवर्तन आ जाता है। हँसना, मुस्कुराना, गुर्राना, रोना, चीखना, सिसिकना आदि तो बालक में पाये जाते हैं किन्तु

अन्य जटिल प्रकार के व्यवहार सामाजिक अनुकरण और सीखने के फलस्वरूप होते हैं। व्यक्ति केवल संवेगों को प्रगट करना ही नहीं सीखता वरन उनको दबाना और छिपाना भी सीखता है। जिस बात पर उसे क्रोध आता है उस पर वह दूसरों के सामने मुस्कराता है और इस प्रकार अपना क्रोध छिपा जाता है। परिस्थितियों के वश होकर जिस वस्तु से उसको घृणा है उस वस्तु के प्रति वह प्रेम प्रगट करता है। इस प्रकार हम संवेगों के वाह्य व्यवहार को निर्दिष्ट रूप से नहीं देख पाते। इस सम्बन्ध में जो खोज हुये हैं उनके फल निम्न प्रकार के हैं :—

१—मुख के भाव— मुख के भाव से संवेगों का प्रायः पता लगाया जाता है। इस सम्बन्ध में सबसे सुगम प्रयोग यह है कि कई संवेगों के समय के भाव की फोटो ले ली जाय और व्यक्तियों से प्रत्येक फोटो द्वारा प्रदर्शित संवेग को पहचानने को कहा जाय। कुछ अंश तक तो लोगों के निर्णय में सहायता मिलेगी। जैसे प्यार और घृणा या क्रोध या आश्चर्य के भाव स्पष्ट रूप से पहचाने जा सकते है। किन्तु अधिक सूक्ष्म संवेगों के बारे में निश्चय करना कठिन हो जाता है। अन्य प्रयोगों से यह भी प्रकट हुआ है कि इस प्रकार का निर्णय अधिक ठीक तब होता है जब संवेग के समय की घटना का भी ज्ञान रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं मुख के भाव पर नहीं वरन् घटनाओं पर हम अधिक अवलम्बित होते हैं। यद्यपि परम्परा से हम मुख के भावों से संवेगों को पहचानते चले आये हैं पर किसी संवेग के बारे में निर्दिष्ट रूप से मुख के क्या भाव होते हैं नहीं बताये जा सकते।

२—अन्य अंगों-की प्रतिक्रिया—जिस प्रकार हम मुख के भावों से संवेगों को जानने का प्रयत्न करते हैं उसी प्रकार हम शरीर के अन्य भागों की व्यवस्था से भी संवेगों को जानना चाहते हैं। परम्परा से हम यह जानते आये हैं कि डर में व्यक्ति या तो काँपने लग जाता है' उसकी घिग्घी बँध जाती है या वह भागता है या जड़वत हो जाता है। क्रोध में भी व्यक्ति काँपने लगता, आवाज में तेजी आ जाती है, व्यक्ति हमला

करता या करने को उद्यत हो जाता है। जेम्स का विश्वास था कि यदि यह सब शारीरिक परिवर्तन न हो तो संवेग का या तो उदय न होगा या उदय हो कर भी वे दब जाँयगें। वह कहता था कि "किसी संवेग को प्रकट मत करो और वह विलीन हो जायगा"[१]। किन्तु जैसा हम जेम्स के सिद्धान्त में देख आये हैं यह सम्भव नहीं कि प्रत्येक संवेग के लिये निर्दिष्ट शारीरिक परिवर्तन बताया जा सके।

संवेग में आन्तरिक शारीरिक क्रियाएँ[२]

संवेग की अवस्था में शरीर की आन्तरिक क्रियाएँ क्या होती हैं इस पर अधिक खोज हो चुके हैं। इस सम्बन्ध की खोजों का भी यही ध्येय रहा है कि प्रत्येक संवेग के साथ किस प्रकार की शारीरिक आन्तरिक क्रियाएँ होती हैं और क्या प्रत्येक संवेग की निर्दिष्ट आन्तरिक क्रियाएँ होती हैं।

१—श्वांस और रक्त की गति

संवेग के समय श्वांस की गति जानने के लिए एक विशेष प्रकार का यन्त्र तैयार किया गया है जिसे न्यूमोग्राफ[३] कहते हैं। इस यन्त्र को व्यक्ति के सीने से बाँध दिया जाता है इसी के साथ एक दूसरा यन्त्र जिसका नाम स्फिग्मोमैनोमीटर[४] है व्यक्ति के हाँथ में बाँध दिया जाता है। इससे रक्त के गति में परिवर्तन का माप किया जाता है। इन दोनों यन्त्रो को रबड़ के द्वारा एक ऐसे यन्त्र से सम्बन्धित कर दिया जाता है जिस पर परिवर्तन अंकित होता जाता है। प्रयोगों से प्रतीत हुआ है कि संवेगों के समय की व्यक्ति की श्वांस की गति तीव्र हो जाती है और उसके रक्त की गति भी अधिक हो जाती है।

१—James: "Refuse to express a passion and it dies". २—Physiological reactions. ३—Pneumograph. ४—Sphygmomanometer.

एलेक्ट्रो कार्डियोग्राफ[1] नामक यंत्र के द्वारा हृदय की गति ज्ञात की जा सकती है। इससे यह प्रगट होता है कि संवेगों के समय हृदय की गति में परिवर्तन हो जाता है। भिन्न भिन्न संवेगों में इस परिवर्तन की अवधि भिन्न भिन्न होती है।

२—हृदय की गति

साइकोगैलवानामीटर[2] द्वारा संवेग के समय त्वचा के विद्युत विरोध[3] की गति मापी जाती है। इस यंत्र द्वारा यह प्रकट होता है कि संवेग के समय त्वचा की इस गति में परिवर्तन आ जाता है। यानी त्वचा का विद्युत्-विरोध कम हो जाता है।

३—अन्य शारीरिक परिवर्तन

इस विषय पर कैनन, पावलोव, ब्रन्जविक आदि भौतिक शास्त्र के विद्वानों ने कई प्रयोग किये हैं। अँतड़ियों की क्रिया मापने के लिये हल्के गुब्बारों का प्रयोग किया जाता है जो पेट के अंदर पहुँचा दिये जाते हैं। कैनन और पावलोव से प्रकट हुआ है कि डर का संवेग उत्पन्न होने पर राल और अंतड़ियों से बहने वाला रस का बहना बंद हो जाता है। किन्तु अन्य प्रयोगों से यह प्रकट होता है कि तीव्र सुखप्रद उत्तेजना के प्राप्त होने पर भी ऐसी ही दशा होती है। प्रायः बहुत से संवेगों के उत्पन्न होने पर अँतड़ियों की एक सी दशा होती है।

४—पेट की अंतड़ियों की प्रतिक्रिया

उपरोक्त वर्णन से यह प्रगट होता है कि संवेग के समय व्यक्ति की आन्तरिक प्रतिक्रियायें भी अव्यवस्थित हो जाती हैं। किन्तु इनसे यह नहीं पता चलता कि किसी विशेष संवेग के लिये निर्दिष्ट प्रकार की आन्तरिक क्रियायें होती हैं। यह आन्तरिक क्रियायें प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न भिन्न प्रकार की होती हैं। एक ही व्यक्ति में भिन्न भिन्न अवसरों

१—Electrocardiograph. २—Psychogalvanometer. ......३—Electrical resistance.

पर संवेगों के उत्पन्न होने पर भी इनमें भिन्नता आ जाती है। यह भिन्नता संवेग के समय व्यक्ति की दशा तथा उत्तेजना की तीव्रता पर निर्भर करता है। अधिक से अधिक केवल यह कहा जा सकता है तीव्र उत्तेजनाओं से उत्पन्न संवेगों में आन्तरिक प्रतिक्रियायें तीव्र होती हैं तथा अन्य में उतनी तीव्र नहीं होती। उदाहरण के लिए उन उत्तेजनाओं से जिन्हें हम दुःखप्रद या सुखप्रद समझते हैं हमारी आन्तरिक क्रियायें तीव्र होती हैं अपेक्षा उन उत्तेजनाओं से जिनके प्रति हम उदासीन होते हैं।

संवेग में नाड़ी मंडल

जैसा कि हमने देखा है संवेग के उदय होने पर सम्पूर्ण प्राणी उद्वेलित हो जाता है। किन्तु उसका कुछ भाग अधिक और कुछ भाग कम उद्वेलित होता है। ऐसे तो नाड़ी मंडल के सभी भाग जैसे ग्राहक और प्रभावक सभी पर संवेग का प्रभाव पड़ता है किन्तु सबसे अधिक प्रभाव हमारे स्वतंत्र नाड़ी मंडल[१], हाइपोथैलेमस[२] और बृहत् मस्तिष्क[३] पर पड़ता है।

स्वतंत्र नाड़ी मंडल का ऊपरी और नीचे का भाग मिला कर कापालिक अनुत्रिका नाड़ी मंडल[४] मंडल कहलाता है। ऊपर का भाग कापालिक[५] कहलाता है और नीचे का भाग अनुत्रिका[६] कहलाता है। इन दोनों के बीच का भाग अनुकंपिक नाड़ी मंडल[७] प्रणाली कहलाता है जो अनुत्रिका नाड़ी मंडल के विरोध में कार्य करता है। जब अनुकम्पिका नाड़ी मंडल क्रियाशील होता है तो राल का निकलना बंद हो जाता है, हृदय की धड़कन बढ़ जाती है एड्रिनल ग्रन्थियों[८] का रस प्रवाह अधिक होने लगता है।

१—स्वतंत्र नाड़ीमंडल

१—Autonomic nervous system. २—Hypothalamus. ३—Cerebral Cortex. ४—Parasympathetic uervous system. ५—Cranial. ६—Sacral. ७—Sympathetic. ८—Adrenal glands.

छोटी छोटी रक्त घटिकायें सिकुड़ जाती हैं। इसके विरोध में अनुत्रिका नाड़ी मंडल के क्रिया शील होने पर राल का निकलना बढ़ जाता है, हृदय की गति मन्द पड़ जाती है, एड्रिनल ग्रन्थियों का रस प्रवाह कम हो जाता है तथा छोटी रक्त की घटिकायें फैल जाती हैं।

संवेग की आन्तरिक क्रियायों का सम्बन्ध स्वतंत्र नाड़ी मंडल के अनुकम्पिक नाड़ी मंडल भाग से अधिक होता है। नवीनतम प्रयोगों से यह प्रकट हुआ है कि कुछ संवेगों में अनुत्रिका नाड़ी मंडल भाग भी उत्तेजित होता है।

कैनन और बार्ड के प्रयोगों से हम ज्ञात कर चुके हैं कि भौतिक शास्त्र के पंडितों का विचार यह है कि संवेगों का केन्द्र हाइपोथैलेमस है।

२—हाइपोथैलेमस

जैसे कि हमने देखा था कि हाइपोथैलेमस को उत्तेजित कर देने से जानवरों में संवेग उत्पन्न होते हैं और उसके निकाल देने से संवेगात्मक व्यवहार समाप्त हो जाता है। हाइपोथैलेमस के वर्णन में हमने यह देखा था कि इस भाग का संवेग उत्पन्न करने में प्रमुख भाग होता है पर सब कुछ इसी पर निर्भर नहीं होता। हमने यह भी देखा था कि हाइपोथैलेमस के उत्तेजित होने पर जो संवेग उत्पन्न होते हैं वह स्वाभाविक संवेगों से भिन्न होते हैं। प्रसिद्ध मनोविज्ञानिक लैश्ले[१] के विचार से हाइपोथैलेमस का संवेग में शारीरिक परिवर्तन उत्पन्न करने में अवश्य हाथ रहता है पर संवेगात्मक भाव उत्पन्न करने में उसका कितना भाग है यह अभी विवाद ग्रस्त है।

संवेगात्मक उत्तेजना या परिस्थित का ज्ञान हमें वृहत् मस्तिष्क के द्वारा ही होता है। साथ ही साथ प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि

३—वृहत् मस्तिष्क[२]

मस्तिष्क के द्वारा ही व्यक्ति अपने को उस संवेगात्मक परिस्थिति के प्रति व्यवस्थित करता है। प्रयोगों में जिन जानवरों का वृहत् मस्तिष्क निकाल दिया गया

१—Lashley. २—Cerebral cortex.

उनकी डर से भागने, या अपना क्रोध प्रकट करने इत्यादि की क्षमता नष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त संवेगात्मक उत्तेजना के समाप्त हो जाने पर भी उसके प्रति संवेगात्मक व्यवहार केवल वृहत् मस्तिष्क के कारण ही होता है। तुम पहले ही यह पढ़ आये हो कि मस्तिस्क का कार्य दमन का भी है। यदि वृहत् मस्तिष्क क्रियाशील न रहे तो हमारे संवेगों का दमन न हो पाये और फिर हमारे संवेग अधिक तीव्रता से प्रगट हों। इस प्रकार हम देखते हैं कि वृहत् मस्तिष्क का संवेग में बड़ा प्रमुख भाग होता है।

संवेगों का नियन्त्रण[1]

प्रायः सभी लोगों का मत है कि व्यक्ति को जीवन के कुछ अमूल्य सुख उसके संवेगों से प्राप्त होते हैं। यदि संवेग न उत्पन्न हो तो जीवन नीरस हो जायगा। यद्यपि इस मत का विरोध नहीं किया जा सकता पर अनुभव से यह भी प्रकट होता है कि कुछ संवेगों के उत्पन्न होने या उनके उत्पन्न होने के कारण और ढंग से व्यक्ति को कष्ट पहुँचता है और उनको क्षति होती है। इन संवेगों के उत्पन्न होने से हम लस्त-पस्त हो जाते हैं हमारा कष्ट बढ़ जाता है तथा हम शर्मिन्दा होते हैं। मानसिक चिकित्सा के उपयोग करने वालों से ज्ञात कीजिये और यह पता चलेगा कि संवेगों के कारण किस प्रकार मनुष्य का जीवन दुःखी हो जाता है। साधारण डाक्टरों की भी अब यह राय हो चली है कि उनके रोगियों में से एक तिहाई से अधिक किसी न किसी प्रकार के संवेगात्मक रोग के शिकार हैं तथा साधारण रोगियों में से आधे से अधिक रोगियों का रोग केवल इस लिये बढ़ जाता है कि उनके अन्दर संवेगात्मक संतुलन नहीं है।

इन सबको देखते हुये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि किसी प्रकार संवेगों का नियंत्रण किया जा सके। इस नियंत्रण से यह कभी न

१—Control of emotions.

समझना चाहिये कि हम संवेगों के दमन का प्रयत्न करते हैं। यह तो और भी भंयकर होता है। नियंत्रण से हमारा तात्पर्य केवल संवेगात्मक संतुलन स्थापित करने से है जिसके फल स्वरूप व्यक्ति का जीवन सुखमय हो सके।

नियन्त्रण के उपाय

१—*वातावरण में परिवर्तन*—हमें यह ज्ञात है कि संवेगों का उदय उत्तेजनाओं के कारण होता है। यदि उत्तेजना हटा दी जाय यानी वातावरण में परिवर्तन कर दिया जाय तो कुछ अवांछनीय संवेगों का उदय नहीं होगा। इस लिये संवेगों पर नियंत्रण करने के लिये वातावरण पर नियंत्रण करना आवश्यक है। यदि व्यक्ति को भूख के कारण संवेग उत्पन्न होता है तो उसकी भूख मिटाने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि किसी व्यक्ति को देख कर क्रोध उमड़ पड़ता है तो दोनों में से किसी व्यक्ति को वातावरण से हटाने पर संवेगात्मक प्रतिक्रिया के कम हो जाने की आशा हो जाती है। पुस्तकों के जाल में फँसकर उद्विग्न विद्यार्थी पुस्तकों को छोड़कर सिनेमा जाता है और इस प्रकार अपने को संतुलित करने का प्रयत्न करता है।

इस उपाय में कुछ बाधायें भी हैं। हम प्रति दिन कार्य करते हैं। वातारवण से भाग भाग कर हम प्रतिदिन कहाँ जायँगे। इससे तो कहीं अच्छा है कि परिस्थिति का सामना किया जाय। कुछ परिस्थितियों में तो हम परिवर्तन कर भी नहीं सकते। यदि हमारी दुःखप्रद संवेगात्मक प्रतिक्रिया समाज के कारण होती है तो हमारे अकेले के परिवर्तन से समाज में परिवर्तन नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त हमें प्रत्येक संवेग के विषय में पूर्ण जानकारी होनी चाहिये। उसके कारणों का ठीक ज्ञान बिना हमारा कार्य ठीक नहीं हो सकता। यह भी एक कठिनाई है।

इन सब बाधाओं के होते हुये भी इसका उपयोग किया जा सकता है और लाभ उठाया जा सकता है।

२—*संवेगों को प्रकट करना* :— यह कहा जाता है कि यदि संवेगों का दमन न किया जाय, उन्हें प्रकट कर दिया जाय तो उनकी तीव्रता कम हो जाती है। लोग कहते हैं कि अपना क्रोध निकाल डालो। यह भी विश्वास किया जाता है कि रो लेने से दुःख की मात्रा कम हो जाती है। मनः विश्लेषण के ज्ञाताओं का यह कहना है कि संवेगों को निहित या दमन कर देने से हानि होने की आशंका रहती है। उनका कहना है कि मनुष्य अपनी काम प्रवृत्तियों को दबा कर चिन्ता और दुःख पैदा करता है। यदि उनको वह प्रगट करता रहे तो उसके संवेग प्रवाहित हो जाँयगे और उसे चिन्ता इत्यादि के कष्ट न होंगे। इस विचार को पूर्ण रूप से मान लेने में कुछ आपतियाँ है। संवेग उत्तेजनाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। जब तक उत्तेजनायें दूर नहीं होतीं या उनमें परिवर्तन नहीं होता तब तक संवेगों के केवल प्रगट हो जाने से शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। साथ ही साथ यदि काम प्रवृत्ति को प्रगट किया जाय तो वह शान्त होने की अपेक्षा और तीव्र होती जाती है। ऐसे संवेग जिनका सम्बन्ध समाज के नियमों से है उसको प्रगट करना व्यक्ति और समाज दोनों के लिये हानिकारक हो सकता है। फिर भी अन्य बातों का ध्यान में रखते हुये जहाँ तक हम अपने संवेगों को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रगटकर सकें वहाँ तक अच्छा ही होगा। संवेगों के प्रगट कर देने से हमारे अंदर उत्पन्न तनाव में कमी आ जाती है। साथ ही साथ संवेगों के प्रगट होने पर वातावरण या परिस्थिति में अपने आप परिवर्तन हो सकता है। यदि किसी मित्र के प्रति हमें क्रोध है तो उसके प्रगट हो जाने से हमारे अंदर का तनाव कम हो जायगा और साथ ही साथ हमारे तथा मित्र के बीच की कठिनाई दूर हो सकती है। पर यह निश्चय रूप से नही कहा जा सकता कि ऐसा होगा ही। हम अपने दुःख की बातें दूसरों से कह कर अपने को हल्का कर सकते हैं। कदाचित दूसरों से ही हमें अपने प्रश्न हल करने का सहारा प्राप्त हो जाय। अपना दुःख कहते कहते ही हमको

उनको सामना करने की शक्ति भी प्राप्त हो सकती है क्योंकि दूसरों से कहने में हम उनका सामना तो करते ही हैं।

३—*निर्देश*[१]—वाह्य अथवा आत्मनिर्देश[२] का व्यक्ति की शारीरिक अथवा मानशिक दशा पर प्रभाव पड़ता है। इस विषय पर अधिक प्रयोग हो चुके हैं। मानसिक चिकित्सक बहुधा इसका सहारा लेते हैं। संवेगात्मक निरोध को दूर करने के लिये इनका सहारा लिया जा सकता है यद्यपि यह भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि निर्देश का प्रभाव असीमित नहीं हैं।

कष्टप्रद स्मृतियों का विलयन[३]—यह प्रायः सभी का अनुभव है कि हमारे अनुभवों की छाप हमारे वर्तमान पर पड़ती रहती है। हाँ कभी कभी यह होता है कि हम अपने पुराने अनुभवों को पहचान नही पाते। ऐसी स्मृतियाँ जो कष्टप्रद होती हैं उनके कारण ही प्रायः हमारे वर्तमान में कष्टप्रद संवेग उत्पन्न होते हैं। मनः विश्लेषण के चिकित्स्क उन्मुक्त साहचर्य[४] के द्वारा उन स्मृतियों को जो हमारे अचेतन में दबी होती हैं विलयन कराने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार हम संवेगों का नियंत्रण कर सकते हैं। इस उपाय की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह सब व्यक्तियों पर समान रूप से सफल नहीं होती।

५—*अनुपयोग का उपाय*[५]—किसी के संवेगों के नियंत्रण का एक उपाय है उसके अनुपयोग का। ऐसे अवसरों या परिस्थितियों को जितने समय तक दूर रखा जा सके रखा जाय जिससे उनकी तीव्रता कम हो जाय। पर यह उपाय सदैव सफल नहीं होता।

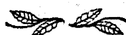
६—*सापेक्षीकरण*—एक उत्तेजना का जो किसी एक संवेग से बँधी है यदि दूसरे प्रकार के संवेग से सापेक्षीकरण कर दिया जाय तो दुःखप्रद संवेग विलीन हो सकता है। हम पहले ज्ञात कर आये हैं कि किसी वस्तु

१—Suggestion. २—Auto-suggestion. ३—Liquidation. ४—Free association. ५—Method of disuse.

से यदि डर का संवेग उत्पन्न होता है तो यदि उसी वस्तु से किसी सुखप्रद संवेग का सापेक्षीकरण कर दिया जाय तो डर का संवेग धीरे-धीरे कम होकर विलीन हो सकता है।

प्रायः सभी संवेगात्मक कठिनाइयाँ समाज से उत्पन्न होती हैं। इस लिये सापेक्षीकरण का पूर्ण लाभ तभी हो सकता है जब वह समाज में और उसके नियमों के अन्तर्गत हो। यह कठिन अवश्य है पर आवश्यक है।

उपरोक्त वर्णन से यह प्रगट हुआ होगा कि प्रायः सभी उपाय सीमित हैं तथा संवेगों के नियंत्रण का प्रश्न जटिल है। यदि उनका नियंत्रण सुगम होता तो व्यक्ति एक भावहीन प्राणी होता, जब जैसा चाहा जाता वैसा बना दिया जाता। पर ऐसा है नहीं जहाँ संवेगों के विघटन और अव्यवस्थित होने से हमें कष्ट होता है वहाँ संवेगों के कारण ही हमें अपूर्व-शक्ति प्राप्त होती है जिसके द्वारा वह कठिन से कठिन कार्य करने में भी समर्थ होता है।



अध्याय—१३

व्यक्तित्व[1]

इस पुस्तक के आरम्भ में ही तुमको बताया गया था कि मनोविज्ञान के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य सम्पूर्ण व्यक्ति का अध्ययन है। इसी दृष्टिकोण से हमने अब तक व्यक्ति के भिन्न-भिन्न भागों और क्रियाओं का अध्ययन किया जिससे व्यक्ति के सम्बन्ध का हमारा ज्ञान अच्छा हो सके। हमने उसकी शारीरिक और मानसिक रचना का अध्ययन किया, हमने उसकी प्रतिक्रिया संवेदना, अवधान-क्रिया प्रत्यक्ष, सीखना स्मृति और कल्पना क्रिया का अध्ययन किया, हमने उसके भाव और संवेगों को जानने का प्रयत्न किया। इन अध्ययनों में तुमसे बार बार कहा गया कि इन सभी क्रियाओं में वैयक्तिक भेद होता है। अब हम इस वैयक्तिक भेद के मुख्य स्रोत "व्यक्तित्व" का अध्ययन करेंगे।

व्यक्तित्व एक उत्तेजना के समान

व्यक्तित्व शब्द तुम्हारे लिये नया नहीं है। तुमने इस शब्द का कई बार कई अवस्थाओं में प्रयोग किया होगा। किन्तु यदि तुमसे पूछा जाय कि 'व्यक्तित्व' से तुम वास्तव में क्या समझते हो तो तुम्हें कठिनाई होगी। इसके अतिरिक्त जो तुम समझते हो वह दूसरे व्यक्ति की समझ से भिन्न होगा। किसी के व्यक्तित्व से यदि एक व्यक्ति उसका हृष्ट-पुष्ट शरीर, रोबीला चेहरा, सुन्दर कपड़े और सभ्य व्यवहार समझता है तो दूसरा व्यक्ति, व्यक्तित्व से किसी की शिक्षा, चरित्र और

१—Personality.

गुण समझता है। इस प्रकार यदि हम देखें तो एक ही व्यक्ति का भिन्न-भिन्न देखने वालों के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व होगा। इस दशा में हम व्यक्तित्व को केवल उत्तेजना समझते हैं और किसी से जिस प्रकार की संवेदना हमें प्राप्त होती है उसे व्यक्ति का वैसा ही व्यक्तित्व होता है। किन्तु जैसा अभी हमने देखा इस प्रकार एक ही व्यक्ति के हजारों व्यक्तितत्व हो जाँयगे तथा व्यक्ति की कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होगी जिससे यह प्रतीत हो सके कि वह अमुक कार्य अमुक ढंग से करेगा।

उपरोक्त कठिनाइयों को दूर करने के लिये हम व्यक्ति को प्रतिक्रियायों का एक समूह मानते हैं। किन्तु इस अध्ययन में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मनुष्य की प्रतिक्रियायें असीमित हैं। उनमें से किस प्रतिक्रिया को उसका व्यक्तितत्व समझा जाय यह कठिन है। साथ ही साथ इस प्रकार का अध्ययन व्यक्ति की आन्तरिक और वाह्य सङ्गठनों या उसकी शारीरिक और मानसिक विशेषताओं को जानने का प्रयत्न नहीं करता जो उसकी प्रतिक्रियायों की उद्गम हैं। साथ ही साथ हम यह भी देख चुके हैं कि व्यक्ति पर उसके वातावरण का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहता है। व्यक्तित्व का कोई अध्ययन पूर्ण नहीं हो सकता जब तक व्यक्ति के वातावरण को भी ध्यान में न रखा जाय।

व्यक्तित्व एक प्रतिक्रिया समूह के रूप में

व्यक्तित्व मनुष्य का वह गतिशील आन्तरिक संगठन है जो उसके वातावरण के प्रति उसकी प्रतिक्रिया निर्धारित करता है। इस परिभाषा के द्वारा हम उपरोक्त सभी कठिनाइयों को दूर कर लेते हैं। इसके अनुसार व्यक्तितत्व, व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक रचना, उसकी रुचि, विचार, उसकी क्षमतायें, उसकी योग्यतायें तथा उसके प्रतिक्रिया करने के निर्दिष्ट ढंग आदि सभी का एक सङ्गठन है। उसकी प्रतिक्रिया का ढंग भी निर्दिष्ट है जो उसको दूसरे व्यक्ति से विलग करती है तथा

व्यक्तित्व की परिभाषा

वह सब संगठन भी निर्दिष्ट है जो सम्पूर्ण व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से विलग करता है। यह संगठन गतिशील है जो प्रत्येक क्षण वातावरण से प्रभावित करता रहता है। इसी विचार को सम्मुख रखकर डा० गार्डनर मर्फी[1] ने व्यक्तित्व एक प्राणी—वातावरण क्षेत्र है। प्राणी में सङ्गठन होता रहता है तथा वातावरण में सङ्गठन होता रहता है। इन दोनों सङ्गठनों की अन्तर क्रिया का फलस्वरूप ही व्यक्तित्व होता है। इससे यह प्रकट हुआ कि प्राणी या वातावरण कोई निश्चित वस्तु नहीं है। दोनों की विशेषताओं का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता रहता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति प्रतिक्रिया करता है। उसकी विशेषतायें दूसरों से विलग होती हैं तथा उसका वातावरण से प्रभावित होने का ढंग भी दूसरे से विलग होता है। इस प्रकार व्यक्ति के प्रति क्रिया करने का ढंग भी अपने ही प्रकार का होता है जो उसको दूसरे व्यक्तियों से विलग करता है।

व्यक्तित्व ज्ञात करने के उपाय

१—*व्यक्ति का भूत कालीन जीवन*—व्यक्तित्व की जो परिभाषा हम दे आये हैं उसके अनुसार किसी के व्यक्तित्व के बारे में पूर्ण ज्ञान करने के लिये यह आवश्यक है कि उसके जीवन की विगत घटनाओं का हमें पूर्ण ज्ञान हो। व्यक्ति के पूर्वजों की दशा, जन्म के समय की दशा, उसके बाल्यकाल की घटनायें, उसका पारिवारिक जीवन, उसके प्रति उसके माता पिता, भाई, बहन, तथा अन्य सम्बन्धियों का व्यवहार, उसकी शिक्षा-दीक्षा, पाठशाला के अनुभव, उसके मित्र, उसके काम सम्बन्धी अनुभव इत्यादि की विस्तृत जानकारी प्राप्त करने से मनुष्य के व्यक्तित्व का सही सही पता लगाया जाता है। इसकी पूर्ण जानकारी के बिना व्यक्तित्व का अध्ययन अपूर्ण रह जाता है।

१—Dr. Gardner Murphy.

२—*प्रश्नोत्तर*[१]—इस प्रणाली में कुछ सर्वमान्य[२] प्रश्नों के द्वारा व्यक्तित्व के कुछ लक्षणों[३] का पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें सबसे बड़ा लाभ यह है कि समय सबसे कम लगता है तथा इस प्रकार से प्राप्त फल को हम गणित की रीति से भी प्रगट कर सकते हैं। इन सब सुविधाओं के कारण ही इन प्रणाली का व्यक्तित्व परिक्षण में व्यापक प्रयोग होता है। इस प्रकार से निर्मित परीक्षण व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षणों को माप करने का प्रयत्न करते हैं जैसे आत्मविश्वास, सामाजिक विश्वास, अन्र्तमुखी या बहिर्मुखी होना आक्रमण-शीलता, निर्देश ग्रहण करने की क्षमता इत्यादि। इस परीक्षण में प्रश्नों के सामने हाँ या ना लिखा रहता है और व्यक्ति जिसको अपने बारे में सही समझता है उसके आगे 'हाँ' पर निशान लगा देता और जिससे नहीं सहमत होता उसके आगे 'ना' पर निशान लगा देता है।

वैसे तो इस प्रणाणी से अधिक लाभ है पर इसकी सीमाओं का भी हमें ध्यान रखना चाहिये। मनः विश्लेषण के विशेषज्ञों को सबसे बड़ी आपत्ति तो यह हैं कि इस प्रणाली से व्यक्ति के केवल ऊपरी लक्षणों का पता चलता है। उसके गहन मनस्तर का कुछ भी पता नहीं लग सकता। इसके अतिरिक्त व्यक्ति का जो कुछ भी उत्तर होता है उसके लिये यह आवश्यक नही कि व्यबहार में भी वही बात दृष्टिगोचर हो। उसके उत्तर और व्यवहार में समानता हो या नहीं हो सकता। कुछ प्रश्नों को वह गलत समझ कर उत्तर दे सकता है। कुछ का उत्तर वह छिपा जाता है या तोड़ मरोड़ कर देता है। कुछ का उत्तर वह उस प्रकार का देता है जैसा समाज में होना चाहिये पर वह स्वयं वैसा नहीं है या कुछ बातों का उसे विस्मरण हो गया हो इस लिये उसका उत्तर उचित नहीं होगा। इसलिये जब इस प्रणाली का प्रयोग किया जाय तो इसकी सीमाओं का भी ध्यान रखना चाहिये।

१—Questionare. २—Standardised. ३—Traits.

३—*मूल्यकरण का परिमाण*[१]—इस प्रकार के मापन में किसी एक व्यक्तित्व-लक्षण को ५ या ७ या १० भागों में विभाजित कर दिया जाता है जिसमें एक ओर उसकी अधिक तीव्रता और दूसरी ओर उसकी विहीनता अंकित रहती है। उदाहरण के लिये आत्म-विश्वास का निम्न लिखित ५ अंको का माप बनाया जा सकता है :—

आत्मविश्वास

१	२	३	४	५
सुदृढ़	अच्छा आत्मविश्वास	औसत	थोड़ा	विश्वास विहीन

माप करने वाला व्वक्ति जिस दूसरे व्यक्ति का मापन करता है वह अपने विचार के अनुसार किसी एक अंक पर निशान लगा देता है।

इस रीति में सबसे बड़ी कमी यह है कि भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक ही व्यक्ति को अपने विचारानुसार भिन्न-भिन्न रूप से मूल्यांकन करेंगे। साथ ही साथ एक लक्षण के बारे में भिन्न भिन्न व्यक्तियों की विलग राय हो सकती है। मेरे लिये सुदृढ़ आत्म विश्वास की एक कल्पना है जो तुम्हारे विचार से मेल न खाती हो। इसलिये इस प्रकार के माप पर हम अधिक निर्भर नहीं रह सकते। यदि किसी व्यक्ति के बारे में हमारी पहले ही से अच्छी राय बन गई है तो हम उसका मूल्यांकन निष्पक्ष रूप से करने में समर्थ नहीं हो सकते। उपरोक्त दुर्गुणों को दूर कर इस माप का लाभ उठाया जा सकता है। जैसे किसी लक्षण के बारे में मूल्यांकन करने वाले सभी आपस में विचार विनिमय कर एक राय हो सकते हैं और प्रत्येक व्यक्ति के मूल्यांकन का क्या अर्थ होगा इसको भी पहले से निर्धारित कर सकते हैं।

१—Rating Scale.

४—*वास्तविक व्यवहार द्वारा परीक्षा*—इस परीक्षण में व्यक्ति के सामने कुछ परिस्थितियाँ उत्पन्न की जाती हैं और यह देखा जाता है कि उन परिस्थितियों में व्यक्ति वास्तव में क्या करता है। जैसे कुछ बालकों को श्रुतिलेख[1] बोला गया। उनके लिखे हुये वस्तु की प्रतिलिपि कर ली गई। दूसरे दिन बालकों को स्वयं उसे जाँचने को दिया गया। बालकों को यह अवसर है कि वह अपनी मामूली अशुद्धियों को गलत न काट कर धीरे से बना दें। उन्हें क्या पता कि उनके लिखे हुये की प्रतिलिपि कर ली गई है। इस प्रकार उनके इमानदारी का परीक्षण किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त छोटे बालकों के व्यक्तित्व का खेल द्वारा पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है। खेल में उसका व्यवहार, उसकी संवेगात्मक प्रतिक्रिया, उसका अपने साथियों के प्रति व्यवहार इत्यादि सभी उसके व्यक्तित्व की द्योतक हो सकती हैं।

इस प्रकार के परीक्षण की भी सीमा होती है। पहले तो इस प्रकार की परिस्थितयों का पैदा करना ही कठिन है। दूसरे बालकों के अतिरिक्त यदि प्रौढ़ों का परीक्षण किया जाय तो वह परीक्षण का तात्पर्य समझ जाते हैं तथा उसी के अनुरूप कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त एक और आपत्ति है। एक अवस्था में बालक में जो लक्षण पाया जाता है वह दूसरी अवस्था में भी पाया जाय यह निश्चय नहीं। प्रयोगों से सिद्ध हुआ है कि बालक एक अवस्था में बेइमानी करता है पर दूसरी अवस्था में उसने इमानदारी का व्यवहार किया है।

५—*उन्मुक्त शब्द साहचर्य*[2]— इस परीक्षा में व्यक्ति की आँखें बन्द करा कर उससे कहा जाता है कि परीक्षक एक शब्द बोलेगा। उस शब्द को सुनते ही जो दूसरा शब्द तुम्हारे मस्तिष्क में आवे उसे बोल देना। ध्यान रखना तुम्हारे बोलने का समय अंक किया जायगा। एक लिस्ट से जिसमें व्यक्तित्व के विकास के भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के द्योतक शब्द

१—Dictation. २—Free Word Association.

लिखे रहते हैं, शब्द बोले जाते हैं। परीक्षक बोलने का समय तथा उसके उत्तर को लिख लेता है। समय औसत निकाल कर यह देखा जाता है कि किस शब्द की प्रतिक्रिया में उसका अधिक समय लगा। ऐसे शब्द उसके अचेतन ग्रन्थि के द्योतक होते हैं। इस परीक्षा का उपयोग व्यक्तित्व सम्बन्धी ज्ञात बातों को और दृढ़ करने में उपयोग किया जाता है।

६—*बातचीत*[१]—व्यक्तित्व परीक्षण की सबसे प्राचीन तथा लाभप्रद रीति है बातचीत की। जिस व्यक्ति की परीक्षा हो रही है उससे बातचीत कर उसके बारे में बहुत अधिक बातें जानी जा सकती हैं। यदि बातचीत करने वाला कुशल हुआ तो वह उन बातों को भी जान लेगा जिसे व्यक्ति छिपाने का प्रयत्न करता है। यों तो बातचीत की रीति का प्रयोग कोई भी कर सकता है किन्तु इससे लाभ तभी होता है जब व्यक्ति इसमें कुशल हो तथा वह पहले ही से प्रश्नों का क्रम बनाये रहे- इस प्रकार की बात चीत हवा में न होकर सिलसिलेवार होती है तथा परीक्षक को व्यक्तित्व सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान प्रदान करती है। इसके साथ ही साथ परीक्षक को संपूर्ण व्यक्ति को समझने का अवसर प्राप्त होता है।

७—*अभिक्षेपक परीक्षण की रीतियाँ*[२]—उपरोक्त व्यक्तित्व परीक्षण की सबसे बड़ी कमी यह है कि इन सभी में व्यक्ति अपने रूप को जान-बूझ कर प्रकट करने से रोक सकता है। वह जान बूझ कर परीक्षक से बहुत सी बातें छिपा सकता है। इस कमी को दूर करने के लिये अभिक्षेपक परीक्षण की रीतियाँ निकाली गई हैं। इस परीक्षा में व्यक्ति अपने को अज्ञात रूप से प्रकट करता है। वह यह समझता है कि वह जो कुछ कह रहा है या कर रहा है वह उसके व्यक्तित्व से कोई सम्बंध नहीं रखतीं न परीक्षक को कुछ बताती हैं। इस विश्वास से वह परीक्षा में सहयोग करता है तथा अपने संबंध की बातें प्रगट करता है।

१—Interview. २—Projective Techniques.

इस रीति की केवल दो प्रमुख परीक्षण विधियों का हम यहाँ पर अध्ययन करेंगे।

(क) रोर्शा का स्याही के धब्बों[1] वाली परीक्षा :— इस परीक्षा को स्विस मनः विश्लेषण के ज्ञाता हर्मन रोर्शा ने निकाला था। इस परीक्षा में विभिन्न प्रकार के स्याही के धब्बों के १० कार्ड होते हैं। इन कार्डों को देखकर विषय बतलाता है कि वे क्या हैं किस किस्म की शक्ल है। विषय यदि उनमें गति देखता है तो उसे भी बतलाता है। उसके रंगों को देखकर अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करता है। इस परीक्षा की विशेषता यह है कि आध घण्टे या एक घण्टे में दी जा सकता है। इसका फल प्रायः और व्यक्तित्व परीक्षाओं से अधिक विश्वसनीय होता है।

(ख) थिमेटिक ए परसेप्शन टेस्ट या टी० ए० टी०—इस परीक्षा को प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एच० ए० मेरे[2] ने प्रचलित किया है। इस परीक्षा में कुछ सर्वमान्य किये हुये चित्र हैं। जिनमें कुछ अस्पष्ट दृश्य दिखलाये गये हैं। इन अस्पष्ट दृश्यों का व्यक्ति अपने विचारानुसार विभिन्न अर्थ लगा सकता है। विषय से कहा जाता है कि वह प्रत्येक चित्र को देखकर उस पर एक कहानी बनाये जिसमें वह बताये कि किन घटनाओं के कारण इस चित्र की अवस्था उत्पन्न हुई है। इस चित्र में लोग क्या कर या सोच रहे हैं, या उनकी भावनायें क्या है और इन सबका फल क्या होगा, या कहानी किस ढंग से समाप्त होगी। इन कहानियों में व्यक्ति अज्ञात रूप से अपनी भावनायें, विचार, अनुभव इत्यादि कहानी के पात्रों द्वारा प्रगट करता है। कुशल परीक्षक इन कहानियों के द्वारा व्यक्तित्व के बारे में बहुत सी आवश्यक बातें जान लेता है। इस परीक्षा को अभी पूर्ण रूप से विषयात्मक नहीं बनाया जा सका है। इसका अर्थ निकालने में परीक्षक अपनी भावनाओं को विलग नहीं कर पाता। किन्तु लगातार प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि यह परीक्षा

१—Rorschach's Ink blot test. २—H. A. Murray.

भी और परीक्षाओं की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है तथा स्याही के धब्बों वाली परीक्षा के साथ साथ व्यक्तित्व परीक्षण में इसका भी व्यापक प्रयोग होता है।

व्यक्तित्व के निर्धारक[1]

व्यक्तित्व की परिभाषा में हम देख चुके हैं कि व्यक्तित्व एक प्राणी और वातावरण का क्षेत्र है। इसलिये इसके सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि हमें उसके शारीरिक निर्धारकों तथा वातावरण के निर्धारकों का पूर्ण ज्ञान हो।

(क) शारीरिक निर्धारक :—

१ एन्डोक्रीन ग्रन्थियों[2] से रस प्रवाह

तुम पिछले अध्यायों में ज्ञात कर चुके हो कि हमारे रक्त में एन्डोक्रीन ग्रन्थियाँ अपना रस प्रवाह करती है। यदि यह रस उचित मात्रा में प्रवाहित होता रहा तो हमारा शारीरिक संतुलन उचित रूप का होता है। इस रस का उचित प्रवाह न होने से हमारे शरीर, बुद्धि भाव तथा अन्य व्यक्तित्व संबन्धी लक्षणों पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये एड्रिनल और पिच्यूटरी ग्रन्थियों से उचित माता में रस प्रवाहित होने से व्यक्ति की कामेन्द्रियों में विचित्रता आ जाती है। पिच्यूटरी ग्रन्थि से यदि कम रस प्रवाहित हो तो बालक मोटा और पुरुषोचित गुणों से विहीन होगा। इनसे सम्बन्ध रखती हुई काम ग्रन्थियाँ हैं जिनके अधिक या कम रस प्रवाह करने पर हमारी काम इच्छा का प्रवल या क्षीण होना निर्भर रहता है। संवेग के अध्याय में हम देख चुके हैं कि ऐड्रिनिल के रस प्रवाह से हमारे संवेगों का किस प्रकार घनिष्ठ सम्बन्ध है। थाइरायड ग्रन्थियों के रस प्रवाह का संबन्ध हमारे उग्र या शान्त होने से होता है। यदि इसका रस प्रवाह अधिक हुआ तो व्यक्ति अधिक बेचैन होता है और कम रस प्रवाह में व्यक्ति सुस्त होता है। इस प्रकार यह प्रगट होता

१—Determinants of Personality. २—Endocrine glands.

है कि इन ग्रन्थियों के रस प्रवाह से हमारे व्यक्तित्व संगठन का अधिक संबन्ध है। पर इससे यह न समझ लेना चाहिये कि यह प्रभाव इन्हीं ग्रन्थियों का अकेला है। इन ग्रन्थियों के रस प्रवाह से व्यक्तित्व निर्धारित अवश्य होता है पर उनके अन्य कारण भी हो सकते हैं।

शरीर की रचना से भी व्यक्तित्व का घनिष्ट सम्बन्ध है। सच तो यह है कि किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का अनुमान हम अधिकतर उसके शारीरिक रचना से ही करते हैं। इस सम्बन्ध में अधिक प्रयोग हुये हैं तथा शारीरिक रचना पर व्यक्तियों के विभागीकरण भी किये गये हैं। इन विभागों के व्यक्तियों के मानसिक गुणों को भी जानने का प्रयत्न किया गया हैं और कुछ अंश तक इसमें सफलता भी प्राप्त हुई है। किन्तु इस सफलता से हम यह नहीं मान सकते हैं कि एक निर्दिष्ट प्रकार की शारीरिक रचना होने से ही निर्दिष्ट प्रकार का व्यक्तित्व या मानसिक गुण होगा। इन दोनों की समानता इस लिये नहीं होती कि शारीरिक रचना पर मानसिक गुण निर्भर है बल्कि इस लिये कि दोनों हमारी ग्रन्थियों पर निर्भर होते हैं।

२—शारीरिक रचना

पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि हमारे नाड़ी मंडल पर हमारा व्यवहार निर्भर होता है। हमारी बुद्धि, हमारा संसार से अपने को व्यवस्थित करना, नई परिस्थितियों को सामना करने की क्षमता, इत्यादि अधिकतर इन नाड़ी मंडल की रचना से प्रभावित होते हैं।

३—नाड़ी मडलः

(ख) *वातावरण के निर्धारक :—*

बालक के माँ के गर्भ में आते ही उसका वातावरण आरंभ हो जाता है। उसके गर्भ के समय माता की शारीरिक और मानसिक दशा का बालक पर प्रभाव पड़ता है तथा कुछ अंश तक उसका व्यक्तित्व निर्धारित हो जाता है। उसके जन्म लेते ही उसका संसार से संपर्क और संघर्षण आरम्भ हो जाता है। इस अवस्था में उसके प्रति उसके माता पिता भाई बहन इत्यादि

(१) गृह

के व्यवहार अधिक अंश तक उसका व्यक्तित्व निर्धारित कर देते हैं। इस बालक का जन्म माता या पिता के लिये रुचिकर था या नहीं, उसके अन्य भाई बन्धु उसके प्रति क्या भाव रखते हैं या उसके जन्म के समय माता पिता जीवित थे या उनका प्यार उसे प्राप्त हो सका या नहीं, भाई बहन थे या नहीं यदि थे तो उनका कैसा व्यवहार था इत्यादि बातों की बालक पर अमिट छाप पड़ती है। मनः विश्लेषण के जन्मदाता डा० फ्रायड का कथन है कि बालक के प्रथम पाँच वर्षों में ही उसका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से निर्धारित हो जाता है जो उसकी प्रौढ़ावस्था में पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होता है इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि गृह के वातावरण से ही पूर्ण रूप से उसका व्यक्तित्व निर्माण होता है। जैसे हम ऊपर देख आये हैं उसकी स्वयं की रचना उसे एक प्रकार को व्यक्तित्व के लिये उद्यत कर देती हैं। वह केवल गृह के वातावरण में प्रस्फुटित और परिपक्व होता है। पिता से प्यार न पाने पर एक बालक अपने क्रोध को दमन कर लेता है, दूसरा बालक पिता से प्यार और घृणा दोनों भावनाओं के बीच उद्वेलित होता रहता है किन्तु तीसरा बालक अपने पिता का खुल कर विरोध करता है। यही तीन प्रकार की प्रतिक्रियायें आगे चलकर तीनों व्यक्तियों के व्यक्तित्व की महत्वपूर्ण लक्षण हो सकती है।

(२) पड़ोसी और पाठशाला

गृह के वातावरण से निकल कर बालक अपने पड़ोसियों और पाठशाला के द्वारा अपने साथियों के संपर्क में आता है। इन दोनों अवस्थाओं के अनुभव का उसके व्यक्तित्व पर अमिट छाप पड़ता हैं। अच्छे साथियों से प्राप्त होने पर अच्छा और बुरे साथियों के प्राप्त होने पर बुरा प्रभाव बालक पर ज्ञात और अज्ञात रूप से प्राप्त होता रहता है। सापेक्षीकरण तथा सामाजिक अनुकरण द्वारा बालक संसार की आवश्यक वस्तुएँ सीखता है तथा यह सभी उसके व्यक्तित्व की महत्वपूर्ण अंग बन जाती हैं। पाठशाला के यदि सुखप्रद अनुभव होते हैं तो एक प्रकार का व्यक्तित्व होता है। पर दुःखप्रद अनुभव होने पर हम सभी ने देखा

है कि किसी प्रकार बालक कक्षा छोड़कर भागने तथा धीरे-धीरे अन्य अवांछनीय आदतें डाल लेता है। इसी अवस्था में उसे कामेच्छा संबन्धी बहुत से ज्ञान प्राप्त होते हैं जो अधिकतर गन्दे और गलत होते हैं। इन सब का प्रभाव बालक के व्यक्तित्व पर पड़ता है। इसी समाज के द्वारा बालक सभी रीति-रिवाज, नियम-बन्धन, प्यार और घृणा तथा रुचि और भावनाएँ सीखता है जो आगे चलकर उसके जीवन को नियंत्रित करते हैं।

३—आर्थिक और सामाजिक दशा

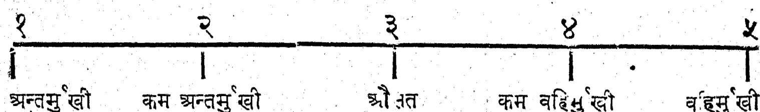
बालक के घर की आर्थिक दशा तथा सामाजिक स्तर का भी बालक व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। बालक की आवश्यक इच्छाओं की पूर्ति या अपूर्ति होने का बहुत अधिक संबंध उसके व्यक्तित्व निर्माण से हैं। दूसरे बालकों की अपेक्षा उसको आर्थिक हीनवस्था या तो उसमें हीनता का भाव[1] उत्पन्न कर देती है या वह ऐसा संकल्प करता है कि वह अपनी कठिनाइयों को दूर कर अपना स्तर ऊँचा करेगा। ऐसी ही दशा में कुछ बालक समाज के विद्रोही हो जाते हैं तथा नाना प्रकार के उपायों से समाज को छिन्न-भिन्न करने तथा उससे बदला लेने में प्रयत्नशील होते हैं। सामाजिक बन्धन और स्तर का भी प्रभाव कम नहीं पड़ता। समाज के नियम ऐसे हो सकते हैं जो व्यक्ति से पूर्ण समाज की अनुरूपता चाहते हों तथा जो व्यक्तित्व को सामाजिक इच्छा के प्रतिफल दबा और कुचल देते हों। ऐसा भी समाज हो सकता है जो व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से विकसित होने का अवसर दे। इन सभी अवस्थाओं से व्यक्ति का व्यक्तित्व निर्धारित होता है।

व्यक्तित्व के प्रकार[2]

यों तो मनोविज्ञानिकों ने व्यक्तित्व को बहुत से विभागों में रखा है पर यहाँ हम केवल दो प्रमुख विभागों का अध्यन करके संतुष्ट हो

१—Inferiority Complex. २—Typas of Personality.

जायँगे। वह हैं अन्तर्मुखी[1] और बहिर्मुखी[2]। इन दोनों प्रकारों को प्रचलित करने का श्रेय है प्रसिद्ध मनः विश्लेषण के ज्ञाता यूँग[3] को। इन दोनों प्रकार के व्यक्तित्व के विभागीकरण को जानने के पहले कुछ आवश्यक बातें जाननी चाहिये। व्यक्तित्व के विभागों से यह कदापि अर्थ न लगाना चाहिये कि जिन दो भागों में हमने व्यक्ति को बाँटा है उन्हीं दो भागों में हम संसार के सभी व्यक्तियों को बाँट सकते हैं। पहली बात तो यह है कि जिन दो भांगों में हम किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को बाँटते हैं वह व्यक्तित्व के केवल एक गुण के आधार पर होता है। इसके अतिरिक्त और भी गुण या लक्षण हो सकते हैं जिन आधारों पर व्यक्ति का विभागीकरण किया जा सकता है। एक भाग में व्यक्ति के रख देने से यह न समझना चाहिये कि वह अन्य गुणों में भी इसी प्रकार का होगा। दूसरी बात यह है कि विभागीकरण की सुविधा के लिये हम किसी गुण को लेकर उसके विपरीत गुण की कल्पना करते हैं। व्यक्ति इन दोनों गुणों के बीच एक दम से नहीं बँट जाता। वह इन दोनों के बीच कहीं स्थिति होता है। इसी लिये किसी गुण की कल्पना दो स्थिर मूल्य के दो किनारों पर कर ली जाती है और उसे सुविधा के अनुसार बाँट दिया जाता है। जब किसी व्यक्ति का मूल्याँकन करना होता है तो हम देख लेते हैं कि इस माप दण्ड पर व्यक्ति कहाँ स्थित है। जैसे अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी माप दण्ड इस प्रकार बनाया जा सकता है :—



उपरोक्त माप दण्ड पर हम किसी व्यक्ति को उसके गुण के अनुसार कहीं न कहीं स्थित कर सकते हैं।

१—Introceted. २—Extroveeted. ३—Jung.

१—अन्तर्मुखी

अन्तर्मुखी व्यक्ति अधिकतर सब कार्यों को सोच विचार कर करता है। वह प्रत्येक कार्य का कार्यक्रम बनाता है। अपनी डायरी में सब बातें नोट करता है। वह व्यवहारिक कार्यों में कम, पर विचारों में रुचि रखता है। वह अपनी दुनिया बनाता है और उसी में विचरण करता है। उसकी दृष्टि अन्तर यानी अपने ही अन्दर लगी रहती है। उसे इस बात की कम चिन्ता रहती है लोग उसके बारे में क्या सोचते हैं। वह अपने अन्दर की भावना से ही अपना कार्य निर्धारित करता है। वह एक बन्द और संकुचित प्रकार का व्यक्ति है जो वाह्य संसार से अपना संपर्क दूर रखने के प्रयत्न में रहता है। वह अपने मनोराज्य में विचरण करता है तथा उसके जीवन में दिवास्वप्नों की अधिकता रहती है समाज से उसे घृणा होती है। समाज में गुणों की अपेक्षा उसे दुर्गुण अधिक दिखलाई पड़ते हैं। यह महत्वाकांक्षी नहीं होता। उसे अपनी निराशा तथा हार का अधिक भय रहता है यद्यपि वह अपनी अच्छाई पर विश्वास रखने का प्रयत्न करता है। वह संसार की वास्तविकता से भागने का प्रयत्न करता है पर संसार की शक्तियाँ उसे घेर ही लेती हैं। ऐसी दशा में उसे इन शक्तियों से सामना करने का समुचित ज्ञान न होने के कारण अपार कष्ट होता है। वह प्रायः अव्यवस्थित हो जाता है। उसके अन्दर दूसरों पर सन्देह करने की प्रवृति होती है तथा वह दूसरों में दुर्गुण ही अधिक देखता है। वह संसार के कोलाहल से दूर रहता है। ऐसे व्यक्ति के साथ निभना कठिन हो जाता है।

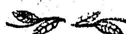
२—बहिर्मुखी

बहिर्मुखी व्यक्ति अपने आप में व्यस्त न होकर संसार की ओर बढ़ाता है। वह संसार की वस्तुओं में रुचि लेता है। वह लोगों का विश्वास करता है तथा उसे अपने पर भी विश्वास करता है तथा उसे अपने पर भी विश्वास होता है। लोगों के प्रति उसका व्यवहार सुखद और कृत्रिमता हीन होता है। उसके आ जाने पर वातावरण एक प्रकार से प्रकाशित

हो उठता है। उसे लोगों के विचारों की चिन्ता रहती है। उसमें डर की मात्रा कम रहती है। वह आपत्तियों को मोल लेकर कार्य करके दूसरों को प्रसन्न तथा अपना यश बढ़ाना चाहता है। वह वाह्य शक्तियों से शीघ्र प्रभावित हो जाता है। वह आत्म विश्लेषण नहीं करता न वह अहंभाव से प्रेरित होता है। जो कार्य करता है उसके फल की वह चिन्ता कम करता है। समाज में शीघ्र घुल मिल जाता है तथा समाज के अनुरूप अपने को शीघ्रता और सुगमता से व्यवस्थित कर लेता है। वह निर्दिष्ट तथा व्यवहारिक कार्यों में अधिक रुचि दिखलाता है उसे विचारों और सिद्धान्तों से कम प्रयोजन होता है। कार्य कर डालने की उसमें अधिक प्रवृत्ति होती है। वह अफवाहों आदि पर अधिक विश्वास कर लेता है। अपने आस पास की बात चीत में वह रुचि लेता है तथा उसमें सक्रिय भाग लेने का प्रयत्न करता है।

व्यक्तियों को इन दोनों गुणों में विभाजित करने या यह पता लगाने के लिये कि कौन व्यक्ति कितना अन्तर्मुखी और कितना बहिर्मुखी है एक परीक्षा ने मैन—कोहस्टेट[१] ने तैयार की है जिसमें चुने हुये ५० वक्तव्य हैं। इनके उत्तर हाँ या ना में होते हैं। इन उत्तरों के अध्ययन से व्यक्ति के झुकाव का पता लग जाता है।

इसी प्रकार से व्यक्तित्व के अन्य गुणों की परीक्षा के लिये भी परीक्षायें बनाई गई हैं जो प्रायः उपयोगी सिद्ध होती हैं।



१—Newmannan Kohstedt Test.

अध्याय—१४

वृद्धि तथा परिपक्वता[1]

अब तक क्या तुमने कभी यह भी विचार किया कि किस प्रकार मनुष्य बचपन की पराधीनता से निकल कर प्रौढ़ावस्था की स्वाधीनता प्राप्त करता है तथा उसके जीवन काल में अनेक विशिष्ट प्रतिक्रियाएँ करने की क्षमता का विकास किस प्रकार होता है! अब तक तुमने जो कुछ पढ़ा है उससे इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता। ये इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हम इस अध्याय में मानव के जीवन काल में होने वाली वृद्धि तथा परिपक्वता का अध्ययन करेंगे।

वृद्धि तथा परिपक्वता का सम्बन्ध

वृद्धि तथा परिपक्वता का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। एक की अनुपस्थिति में दूसरे की कल्पना भी नहीं हो सकती। वृद्धि के साथ-साथ परिपक्वता चलती रहती है। साधारणतः वृद्धि से लम्बाई तथा भार आदि के बढ़ने का अर्थ लिया जाता है। विभिन्न अंगों की वृद्धि का वही क्रम नहीं होता जो सम्पूर्ण शरीर की वृद्धि का होता है। आंगिक वृद्धि शारीरिक वृद्धि से कुछ भिन्न होती है। कुछ अंग सम्पूर्ण शरीर की अपेक्षा अधिक तेजी से तथा कुछ अङ्ग उसकी अपेक्षा कम तेजी से बढ़ते हैं। नवजात शिशु की टाँगों और सम्पूर्ण शरीर के बीच लगभग ३ : ८ का

1—Growth and Maturation.

अनुपात होता है जो १२ वर्ष की आयु में १ : २ में बदल जाता है; अर्थात् टाँगें समस्त शरीर की अपेक्षा अधिक शीघ्रता-पूर्वक बढ़ती हैं। दूसरी ओर आरम्भ में उनके सिर और सम्पूर्ण शरीर के बीच १ : ४ का अनुपात होता है जो बारह वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते १ : ८ में बदल जाता है अर्थात् बालक का सिर समस्त शरीर की अपेक्षा बहुत धीरे-धीरे बढ़ता है। अतः वृद्धि का पूर्ण ज्ञान होने के लिए शारीरिक वृद्धि के साथ विभिन्न अंगों की वृद्धि का बोध होना आवश्यक है।

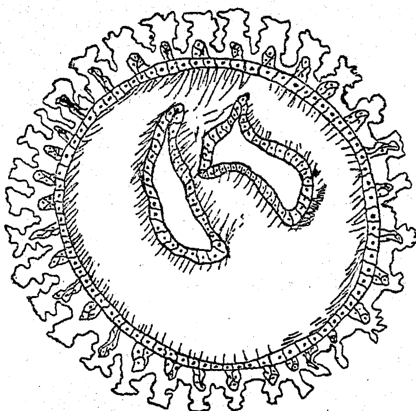
परिपक्वता इन दोनों प्रकार की वृद्धियों से भिन्न होती है। इससे हमारा तात्पर्य प्राणी के किसी अंग-विशेष अथवा संपूर्ण शरीर की उस अवस्था से होता है जिस तक पहुँचे बिना वह कोई बिना सीखा कार्य नहीं कर पाता है और न प्रयत्न करने पर किसी कार्य-विशेष को करना सीख ही सकता है। दो माह का बालक न तो चल पाता है और न उसको कोई चलना सिखा सकता है क्योंकि इस कार्य के लिए आवश्यक न्यूनातिन्यून परिपक्वता उसमें तब तक नहीं आ पाई होती है। वही बालक आवश्यक परिपक्वता आ जाने के कारण १½ वर्ष का होते-होते स्वयं प्रयत्न करके भली प्रकार चलना सीख जाता है।

आरम्भिक वृद्धि

बालक का जीवन शुक्राणु[1] और डिम्ब[2] के मिलने से आरम्भ होता है। गर्भाधान की क्रिया में पुरुष का शुक्राणु स्त्री की डिम्ब प्रणाली[3] में स्थित डिम्ब से मिलकर एक हो जाता है और गर्भ-कोषाणु[4] कहलाता है। यह गर्भ-कोषाणु आलपीन की टोपी से भी छोटा होता है। गर्भाधान के बाद तुरन्त ही डिम्ब दो कोषाणुओं में बँट जाता है। फिर दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह……कोषाणुओं की सृष्टि होती

1—Sperm. 2—Ovum. 3—Ovary. 4—Fertilised cell.

है। यह कोषाणु इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते एक कठोर गेंद का रूप धारण कर लेते हैं जिसको कलल[1] कहते हैं।



चित्र सं० ३९—भ्रूण की क्रमशः उत्पत्ति

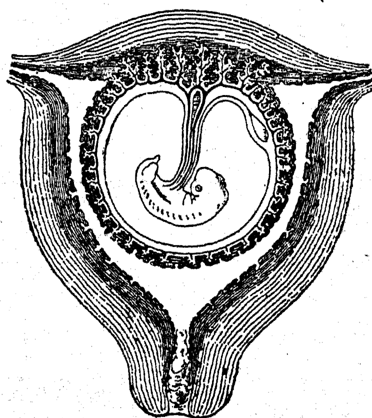
कलल की सृष्टि होने के थोड़े समय बाद इसमें कुछ तरल पदार्थ प्रविष्ट हो जाता है जिसके दबाव से भीतर के कोषाणु बाहर के कोषाणुओं से अलग हो जाते हैं और कलल में एक खोखला स्थान बन जाता है। भीतर के कोषाणुओं का समूह इस तरल पदार्थ में तैरने लगता है। इसी समूह से मानवीय शरीर की सृष्टि होती है। बाहरी कोषाणु एक झिल्लीदार थैली का रूप धारण कर लेते हैं। यह थैली तरल-पदार्थ में स्थित मानवीय शरीर के बीज-रूप कोषाणु समूह की रक्षा करती है और गर्भ के अंत में प्रसव से कुछ समय पूर्व फट जाती है। गर्भाधान के लगभग दो सप्ताह बाद यह थैली खसक कर एक स्थान पर चिपक जाती है। इस प्रकार बालक के बीज-काल[2] का अन्त होता है।

बीज काल

1—Morala. 2—Germinal period.

तत्पश्चात् अगले पाँच सप्ताह तक गर्भ का बुदबुद-काल[1] चलता है। बुदबुद अवस्था में गर्भ माता के रुधिर से पोषक पदार्थ ले लेता है और व्यर्थ पदार्थ उसको दे देता है। माता और बालक का रुधिर-संचार एक नहीं होता। यह लेन देन का कार्य एक पतली झिल्ली द्वारा होता है जिससे छन-कर माता के रुधिर में मिले हुए पोषक पदार्थ बुदबुद को मिल जाते हैं और व्यर्थ पदार्थ माता के रुधिर में मिलने चले जाते हैं। इस काल में पहले के समान कोषाणुओं के बढ़ने और विभाजित होते रहने से वृद्धि होती रहती है। इसके साथ-साथ विभेदन[2] भी आरम्भ हो जाता है। यही विभेदन अनेक अवयवों का जन्म-दाता होता है। इनमें से कुछ तो

बुदबुद काल



चित्र सं० ४०—गर्भ कला और भ्रूणावरण

शीघ्र ही स्पष्ट हो जाते हैं किन्तु कुछ का स्वरूप कई सप्ताह तक नहीं पहचाना जा सकता है। इस काल का लगभग १ सप्ताह व्यतीत होते होते कुछ कोषाणुओं में धड़कन आरम्भ हो जाती है और बाद में इन्हीं

1—Embryonic period. 2—Differentiation.

कोषाणुओं से हृदय का निर्माण होता है। इस विभेदन के परिणाम स्वरूप लगभग दो माह में बुदबुद मानवीय रूप धारण कर लेता है।

भ्रूण-काल

लगभग दो माह के बाद गर्भ का भ्रूण-काल[1] आरम्भ होता जो प्रसव के पूर्व तक चलता रहता है। इस काल में विभिन्न शारीरिक अवयवों की वृद्धि बड़ी शीघ्रता-पूर्वक होती है। आँख, नाक, कान, मुँह, हाथ, पैर आदि सभी अंग स्पष्ट हो जाते हैं। इनके साथ साथ फेफड़े, हृदय, मांस-पेशियाँ, नाड़ियाँ तथा अन्य शारीरिक अवयव भी अपना विशिष्ट कार्य करने योग्य हो जाते हैं। चार मास के बाद भ्रूण माता को गर्भ में हिलता डुलता प्रतीत होने लगता है। उसमें संवेदनशीलता तो लगभग दो माह के आस-पास ही आ जाती है।

प्रतिक्रियात्मक अवयवों का विभेदन तथा वृद्धि

वृद्धिशील भ्रूण के प्रतिक्रियात्मक अवयवों में सबसे पहले स्नायु-समवाय की सृष्टि होती है। सबसे पहले बहुत भद्दे रूप में केन्द्रीय-स्नायु-समवाय का विभेदन होता है। फिर धीरे-धीरे प्रत्येक भाग अलग हो जाता है। मस्तिष्क की वृद्धि बड़ी शीघ्रता-पूर्वक होती है। यह वृद्धि प्रसव के बाद घट जाती है। उत्पत्ति के समय तक बालक के मस्तिष्क के लगभग सभी कोषाणु बन चुके होते हैं। बाद की वृद्धि तो नाड़ी तन्तुओं की लम्बाई तथा मोटाई बढ़ने के कारण होती है। उनकी संख्या में कोई अन्तर नहीं पड़ता। केन्द्रीय-स्नायु-समवाय के साथ ग्राहकों और प्रभावकों का भी विभेदन तथा वृद्धि होती है।

प्रसव तथा प्रसवोत्तर वृद्धि

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रसव का बहुत बड़ा महत्व माना जाता है। योनि से बाहर आते ही शिशु को एक नए विश्व का सामना करना

1—Fetal period.

पड़ता है जहाँ जीवित रहने के लिए उसको श्वास तथा वाह्य उपकरणों की सहायता से अपना भोजन लेना है। माता के गर्भ में रहते हुए ऐसी कोई समस्या उसके सामने नहीं थी। माता के रुधिर-संचार द्वारा उसको स्वयमेव ही पोषक-पदार्थ मिल जाते थे। प्रसव के बाद का संसार उसके पहिले के संसार की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल तथा विस्तृत होता है। अब उसके संवेदना-जगत में भूख प्यास जैसी अन्य नवीन संवेदनाएँ बढ़ जाती हैं। अब वह भूख लगने पर चिल्लाता है। इससे पहले यह सम्भव न था।

प्रसव का मनोवैज्ञानिक महत्व

मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने नवजात शिशु के संवेदना-जगत की भली भाँति खोज की है। उनका विचार है कि प्रौढ़ों में पायी जाने वाली लगभग सभी संवेदनाएँ प्रसव के बाद कुछ ही सप्ताहों के अन्दर क्रियाशील हो जाती हैं, यह दूसरी बात है कि कुछ संवेदनाओं को प्रसारित करने के लिए बचपन में उत्तेजना की तीव्रता की मात्रा बाद को अपेक्षा कुछ अधिक अथवा कम रखनी पड़ती है।

नवजात शिशु की संवेदनाएँ

जन्मोत्तर वृद्धि का क्रम लगभग बीस वर्ष की आयु तक चलता रहता है। गर्भावस्था में अनेक अवयवों की वृद्धि की गति लगभग एक सी होती है। जन्म के बाद इस गति में स्पष्ट अन्तर हो जाता है। अस्थिपञ्जर (सिर और गर्दन को छोड़कर), श्वास पाचन अवयव, गुर्दे अनेक माँस-पेशियाँ आदि लगभग एक सी गति से बढ़ते हैं। जननेन्द्रिय तथा तत्सम्बन्धी अन्य अवयवों की वृद्धि लगभग बारह वर्ष तक कम तथा उसके बाद बहुत शीघ्रतापूर्वक होती है। सामान्यतः वह किसी भी अवस्था में पूर्व वर्णित शारीरिक वृद्धि की गति से अधिक नहीं हो पाती है। मस्तिष्क, सुषुम्ना-नाड़ी तथा अन्य स्नायविक अवयवों की वृद्धि-गति बारह वर्ष तक शारीरिक वृद्धि-गति से बहुत अधिक रहती है।

प्रसवोत्तर वृद्धि

इस दिशा में प्राणी की वृद्धि का बहुत बड़ा भाग लगभग बारह वर्ष की आयु तक पूर्ण हो जाता है। उसके बाद तो केवल नाम मात्र को वृद्धि होती है। यही कारण है कि बचपन में सिर बहुत बड़ा और फिर अपेक्षा-कृत छोटा मालूम होने लगता है। बीस वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते इन सभी दिशाओं में होने वाली रचनात्मक वृद्धि या तो ठहर जाती है और बहुत धीमी पड़ जाती है। स्त्रियों में यह क्रम पुरुषों से कुछ पहले रुक जाता है। वृद्धि के ठहर जाने के बाद आयु के बढ़ने के साथ भार आदि में अन्तर हो सकता है, शारीरिक रचना में नहीं।

परिपक्वता

परिपक्वता का अर्थ वृद्धि का पूर्ण हो जाना होता है। शारीरिक दृष्टिकोण से मनुष्य बीस वर्ष की आयु में परिपक्व हो जाता है। उस समय तक उसके लगभग सभी अवयवों का उपकर्ष[1] पूर्ण हो चुका होता है। परिपक्वता आ जाने के बाद आकार में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। शरीर के कुछ अवयव शीघ्र ही परिपक्व हो जाते हैं और कुछ की वृद्धि काफ़ी समय तक चलती रहती है। पूर्ण परिपक्वता के बाद लगभग २० या ३० वर्ष तक एक सी दशा रहती है जिसके बाद बुढ़ापे में रचनात्मक आकार का कुछ अपकर्ष[2] होने लगता है।

बालक में प्रसव से पूर्व की वृद्धि का क्रम उसके बाद भी चलता रहता है। किन्तु, जैसा हम पहले कह चुके हैं, इस नवीन विश्व में प्रविष्ट होते ही उसे कुछ नवीन समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उनका सफलतापूर्वक सामना कर सकने के लिए यह आवश्यक होता है कि प्राणात्मक क्रिया सम्बन्धी उसके शारीरिक अवयवों में परिपक्वता आ जाए। उसके श्वास तथा पाचन-अवयव प्रसव से पूर्व परिपक्व हो

नवजात शिशु की परिपक्वता

1—Development. 2—Deterioration.

चुकते हैं जिसके फल-स्वरूप उत्पन्न होते ही उसका श्वास तथा पाचन क्रम चल पड़ता है। रुधिर-संचार, श्वास तथा पाचन के अवयव लगभग ७ माह के गर्भ में परिपक्क हो जाते हैं। यही कारण है कि बहुधा आठ माह के गर्भ से उत्पन्न बालक जीवित रह जाता है तथा ६ माह के गर्भ से उत्पन्न बालक मर जाता है।

शारीरिक परिपक्कता के बढ़ने के साथ चेष्टात्मक परिपक्कता भी बढ़ती है। इसके सम्बन्ध में यह दो नियम विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं :—

(१) परिपक्वता का क्रम सिर से पैर की ओर चलता है। बच्चा सबसे पहले सिर उठाना और सबसे बाद में चलना सीखता है।

(२) परिपक्वता का क्रम केन्द्रीय-समवाय के समीप से दूर की ओर चलता है। जो अंग केन्द्रीय-स्नायु-समवाय से जितना ही दूर होता है वह उतनी ही देर में परिपक्व होता है। बच्चा चीज़ को मुट्ठी में पकड़ना पहिले और अँगुलियों से पकड़ना बाद में सीखता है।

चेष्टात्मक परिपक्कता

एक माह का बालक उल्टे लिटा देने पर अपना सर ऊपर नहीं उठा पाता क्योंकि उसकी गर्दन की मांस-पेशियों में उतनी परिपक्वता नहीं आ पाई होती है। दो से तीन माह तक का बालक पलटा खाकर अपने हाथों के सहारे गर्दन तथा सीना ऊपर उठाने लगता है। चार माह का बालक सहारा देकर बिठाया जा सकता है। उस समय तक वह पेट के बल खिसकने का प्रयत्न करने लगता है। छः माह का बालक बिना सहारे बैठने लगता है। इसके साथ ही वह घुटनों से चलना शुरू कर देता है। आठ माह का होते होते वह दूसरों के हाथ के सहारे खड़ा होने लगता है। नौ माह का होते होते वह स्वतन्त्र-रूप से खाट, दीवार या मेज़ आदि का सहारा लेकर खड़ा होने लगता है। इस समय वह सहारे से एक दो कदम चलने का प्रयत्न करता है किन्तु मुख्यतः वह घुटनों के बल ही चलता है। ग्यारह माह से तेरह माह तक का बालक स्वतन्त्र रूप से खड़ा होने

लगता है। धीरे धीरे वह सहारा लेकर चलना छोड़कर स्वतन्त्रता-पूर्वक चलने लगता है और डेढ़ वर्ष तक पहुँचते-पहुँचते खूब भागने लगता है। यह समस्त व्यवहार बालक की परिपक्वता की गति पर निर्भर होता है। जिन बालकों में परिपक्वता की गति कुछ धीमी होती है वे सामान्य से कुछ अधिक आयु बाद यह सब व्यवहार करते है। इस समस्त व्यवहार में समय-समय पर बालक के सामने संतुलन[1] तथा नियमन[2] की कठिन समस्याएँ आती जाती है जिसको वह उपयुक्त परिपक्वता प्राप्त कर चुकने के कारण आसानी से हल कर लेता है। दो माह के बालक को प्रयत्न करने पर भी चलना नहीं सिखाया जा सकता क्योंकि तब तक न तो उसकी जंघाओं की मांस पेशियाँ परिपक्व हो पाती हैं और न उसके मस्तिष्क में आवश्यक क्रियात्मक केन्द्र स्थापित हो पाता है।

उपर्लिखित समस्त व्यवहारों के सम्भव होने के लिए शारीरिक के साथ मस्तिष्कात्मक परिपक्वता भी आवश्यक होती है। मस्तिष्क के परिपक्व होने के साथ उसमें नवीन केन्द्र बनते जाते हैं जिनके द्वारा पकड़ना, बैठना, चलना, भागना आदि क्रियाएँ सम्भव होती है। बोलने की क्रिया भी इसी प्रकार की परिपक्वता पर निर्भर होती है। बालक का भाषा-भण्डार शुरू में बहुत सीमित होता है। आरम्भ में वह अस्पष्ट, फिर अलग-अलग तथा बाद में मिले हुए सार्थक शब्द बोलता है। इस समय उसके शब्द-भण्डार के सभी शब्द मूर्त[3] पदार्थों के नाम होते हैं। जिन शब्दों का प्रयोग वह करता है उनमें से अधिकतर तो वह बोलना सीखने से पहले समझने लगता है। लगभग एक वर्ष की अवस्था तक वह सम्भवतः अपना नाम पुकारे जाने पर पुकारने वाले की ओर देखना तथा एक दो शब्दों को और समझने लगता है। किन्तु फिर जिस गति से उसकी अवस्था बढ़ती है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक शीघ्रता-

1—Balancing. 2—Co-ordination. 3—Concrete.

पूर्वक उसका शब्द-भण्डार बढ़ता है और पाँच वर्ष का होते होते वह सैकड़ों शब्द समझने और प्रयोग करने लगता है।

संवेगात्मक परिपक्वता[1] से हमारा तात्पर्य उस परिपक्वता से है जिसकी अनुपस्थिति में प्राणी किसी भी प्रकार का संवेगात्मक व्यवहार नहीं कर सकता। इसके सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि बालक उत्पन्न होते ही क्रोध, भय अथवा प्यार (वाटसन ने नवजात शिशु में केवल इन संवेगों की स्थिति की कल्पना की थी) के संवेगों को व्यक्त करने की क्षमता रखती है। यथार्थ में उसमें उस समय एक व्यापक उद्दीपन शीलता रहती है जो किसी प्रकार की आकस्मिक घटना—जैसे एकाएक ज़ोर का शब्द, अचानक उछाले जाना, अथवा किसी प्रकार के अनावश्यक बन्धन के परिणाम स्वरूप शिशु के व्यवहार के रूप में प्रस्फुटित होती है। इस व्यवहार में विभेदन आना बाद की चीज़ है और बहुत कुछ सीखने से सम्बन्ध रखता है।

संवेगात्मक परिपक्वता

व्यापक अथवा विशिष्ट प्रत्येक प्रकार के संवेगात्मक व्यवहार के संभव होने के लिए थैलेमस से मिले हुए स्थित हाइपोथैलेमस[2] नाम के निम्न केन्द्र[3] का परिपक्व होना आवश्यक होता है। हाइपोथैलेमस विभिन्न संवेगात्मक व्यवहारों को उद्दीप्त[4] करता है और कार्टेक्स उनका निरोध[5] करता है। कुत्ते अथवा बिल्लियों के कार्टेक्स को शल्य-क्रिया द्वारा हटाकर देखा गया है कि मामूली सी उत्तेजना होने पर भी ऐसे जानवर अत्यन्त क्रुद्ध मालूम होने लगते हैं और गुर्राना, भौंकना, फुफकारना आरम्भ कर देते हैं। उनके अन्दर संवेगों का वह नियंत्रण बिलकुल नष्ट हो जाता है जो कार्टेक्स के रहने पर था। अतः इससे यह परिणाम निकलता है कि जीवों में कार्टेक्स की परिपक्वता पर संवेगात्मक निरोध

1—Emotional maturity. 2—Hypothalamus. 3—Lower centre.
4—Inducement. 5—Inhibition.

निर्भर होता है। जैसे जैसे प्राणी का कार्टेक्स परिपक्व होता जाता है वह अधिकाधिक नियंत्रण सीखता जाता है। सामान्यतः प्रौढ़ों में बालकों की अपेक्षा संवेगात्मक व्यवहार अधिक नियंत्रित हो जाता है। दूसरी ओर हाइपोथैलेमस हटा देने पर या उसका कोई भाग काट देने पर देखा गया है कि प्राणी लगभग प्रत्येक संवेगोत्पादक उत्तेजना के प्रति उदासीन हो जाता है। अतः यह कहना बिलकुल ठीक मालूम होता है कि हाइपो-थैलेमस की परिपक्वता पर संवेगात्मक अभिव्यक्ति निर्भर होती है।

परिपक्वता तथा सीखना

अब तक हमने अपने विषय को वृद्धि तथा न सीखे गए व्यवहारों की परिपक्वता तक सीमित रक्खा है। किन्तु प्राणी वृद्धि पाने तथा परि-पक्व होने के साथ वाह्य-शक्तियों से प्रभावित होकर कुछ सीखता भी जाता है। इस सीखने की क्रिया का परिपक्वता से ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध होता है कि यह कहना कठिन है कि कहाँ पर परिपक्वता समाप्त हो गई और कहाँ से प्राणी ने सीखना आरम्भ किया। यथार्थ में परिपक्वता का सम्बन्ध प्राणी के शरीर में होने वाले केवल प्राणात्मक व्यापारों से है तथा सीखने का सम्बन्ध उसके वाह्य-जगत में स्थित शक्तियों के प्रभाव से। संसार में आते ही परिपक्वता क्रम के चलते रहने के साथ उस पर वाह्य-शक्तियों का प्रभाव पड़ने लगता है और इस दशा में यह कहना कठिन है कि वह जो कुछ करता है वह परिपक्वता के परिणाम-स्वरूप अथवा सीखने के। कुछ मनोविज्ञान-वेत्ताओं का कहना है कि यह भी सम्भव हो सकता है कि नवजात प्राणी अपनी असफलता अथवा सफलताओं और अभ्यास से सीखता हो, तथा सीखने की क्रिया में परिपक्वता का कोई हाथ न होता हो। परिपक्वता की पूर्ण उपेक्षा करने वाले इस अनुमान की सत्यता का परीक्षण करने के लिए अनेक प्रयोग किए गए हैं जिनके आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि सीखने की क्रिया में परिपक्वता का बहुत बड़ा हाथ होता है। नीचे लिखे

तीन प्रयोगों का वर्णन पढ़कर तुम सरलता-पूर्वक समझ जाओगे कि सीखने में परिपक्वता का कहाँ तक हाथ होता है और कहाँ तक अभ्यास अथवा सफलता-असफलता का।

(१) एक साथ पैदा हुए बहुत से मुर्गी के बच्चों को पाँच बराबर समूहों में बाँट लिया गया। इन समूहों को हम सुविधा के लिये 'त', 'थ', 'द', 'ध' और 'न' से सम्बन्धित करेगें। 'थ', 'द', 'ध' और 'न' समूहों की आँखों पर पट्टी बाँध दी गई जिससे वे बच्चे देखकर चुग्गा उठाना न सीख सकें। केवल 'त' समूह को पहले दिन चुग्गा उठाने के लिए छोड़ा गया। उस समूह ने चुग्गा उठाने में २५ प्रयत्नों में औसतन ६ गलतियाँ की। दूसरे दिन 'थ', तीसरे दिन 'द', चौथे दिन 'ध' और पाँचवें दिन 'न' समूहों को इसी प्रकार क्रमशः चुग्गा खाने को छोड़ा गया और प्रत्येक समूह को ५ प्रयत्न करने दिए गए। उनकी औसत गलतियाँ ४, ३, २, और १ आईं। इससे यह स्पष्ट है कि मुर्गी के इन बच्चों में आयु बढ़ने के साथ बिना अभ्यास के भी चुग्गा उठाने की क्षमता बढ़ती गई। अर्थात् सीखने की क्षमता पर परिपक्वता का कुछ प्रभाव पड़ता है।

आरम्भ में मुर्गी के जिन बच्चों ('त' समूह) को पाँच दिन तक अभ्यास करने को मिल गया था उनमें उनकी अपेक्षा कहीं अधिक दक्षता आ गई थी जिनको ('न' समूह) पाँच दिन बाद पहली बार चुग्गा उठाने को मिला, किन्तु दक्षता का यह वैषम्य बहुत दिन तक न रहा। कुछ समय बाद सब समूह समान रूप से दक्ष हो गए।

(२) दो जुड़वाँ बच्चों के व्यवहार का अध्ययन २१ दिन की आयु से लेकर २१ माह की आयु तक किया गया। उनमें से एक को चेष्टात्मक दक्षता बढ़ाने के लिए बराबर अभ्यास कराया गया। दूसरे को प्रतिदिन प्रातःकाल से लेकर संध्या तक प्रयोगशाला में एक खटोले में बन्द रक्खा जाता था। उसके बाद उनकी आपस में अन्य ६८ बच्चों के साथ तुलना की गई। इस अध्ययन से यह परिणाम निकला कि सादे

कामों के लिए आवश्यक मौलिक सामान्य शारीरिक क्षमता पाने के लिए अभ्यास की कोई आवश्यकता नहीं होती, परिपक्वता स्वयं वह क्षमता प्रदान कर देती है। पेचीदा काम सीखने के लिए अभ्यास आवश्यक होता है। मनुष्य के पक्ष में जो प्रारम्भिक अन्तर पड़ जाता है उसका प्रभाव बहुत दिन तक रहता है। ऊपर के दोनों बालकों में से जिसको आरम्भिक अभ्यास कराया गया था वह लगभग दस वर्ष तक हर शारीरिक कार्य में अपने भाई से अधिक कुशल रहा। मनुष्य अपने मस्तिष्क के कारण अन्य जन्तुओं से कुछ भिन्न होता है। उसके लिए उचित अभ्यास का लगभग उतना ही महत्व होता है जितना परिपक्वता का।

किसी व्यवहार से सम्बन्धित अवयवों के परिपक्व होने से पूर्व यदि उस व्यवहार का अभ्यास कराया जाए तो उससे परिपक्वता की गति कुछ बढ़ जाती है। अभ्यास से माँस-पेशियों में वृद्धि होती है जिससे परिपक्वता की गति बढ़ जाती है। इस प्रकार का अभ्यास परिपक्वता-पूर्ण होने से थोड़े समय पूर्व दिए जाने पर लाभकर होता है अन्यथा नहीं। यदि दो माह के बालक को चलने का अभ्मास करवाया जाए तो वह व्यर्थ होगा। वही अभ्यास यदि ११ माह के बालक को करवाया जाए तो संभवतः वह तब से कुछ पहले चलना सीख लेगा जब कि वह अभ्यास न मिलने की हालत में सीखता। विशिष्ट क्षमता वाले कार्यों को सीखने में अभ्यास का बड़ा महत्व होता है। तैरना अभ्यास से आता है परिपक्वता से नहीं।

(३) एक बालक और एक बनमानुस[1] ढाई वर्ष तक एक ही कुटुम्ब में पाले गए और उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया गया। इस अध्ययन के आधार पर कई बड़े रोचक तथा महत्वपूर्ण परिणाम निकाले गए। वे पृष्ठ २७६ पर दिये गये हैं :—

1—Chimpanzee.

(क) परिपक्वता की गति में व्यक्तिगत अन्तर होने से सीखने की गति में भी व्यक्तिगत अन्तर आ जाता है। बनमानुस बहुत सी क्रियाएँ बालक की अपेक्षा जल्दी सीख गया, जैसे वह उसकी अपेक्षा अच्छी तरह चम्मच पकड़ सकता था। दरवाजा खोलना और बन्द करना आदि अनेक कार्य करना वह बालक की अपेक्षा बहुत पहले सीख गया।

(ख) यद्यपि दोनों के साथ यथा सम्भव एक सा व्यवहार किया गया था, फिर भी स्वतन्त्रता मिलने पर बनमानुस बालक की अपेक्षा अधिक क्षमता पूर्वक कूद फाँद सकता था। दूसरी ओर बालक ने बोलना सीख लिया जो बनमानुस न सीख सका इससे यह परिणाम निकलता है कि अपनी जाति के अनुसार प्रत्येक प्राणी परिपक्व होता है। समान वातावरण होने से परिपक्वता के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

(ग) जब मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों के प्रयोग का समय आया तो बालक ने अनेक ऐसे कार्य सीख लिए जिनको बनमानुस किसी तरह भी न सीख पाया। एक सीमा तक पहुँच कर उसकी परिपक्वता पूर्ण हो कर रुक गई जब कि बालक की चलती रही। विभिन्न प्राणियों की परिपक्वता पूर्ण होने का समय भिन्न होता है तथा प्रत्येक प्राणी का प्रतिक्रिया-भण्डार उसकी जाति में पाये जाने वाले विशिष्ट शारीरिक अवयवों की परिपक्वता पर निर्भर होता है। मानवीय प्रतिक्रिया-भण्डार अन्य प्राणियों की अपेक्षा बहुत व्यापक होता है।



अध्याय—१५

बुद्धि-परीक्षण[1]

विभिन्नता प्रकृति का साधारण नियम है। कोई दो प्राणी एक से नहीं होते। प्रत्येक बालक एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व लेकर उत्पन्न होता है तथा क्रमशः अपने चारों ओर के वातावरण से प्रभावित होकर एक व्यक्ति विशेष के रूप में विकसित होता है। वह अन्य व्यक्तियों के समान होते हुए भी उनसे भिन्न होता है। इस भिन्नता अथवा अन्तर का अध्ययन आज के मनोविज्ञान का एक प्रमुख अंग है। साधारणतः इस अन्तर का अध्ययन बुद्धि, सम्प्राप्ति,[2] प्रवणता[3] तथा व्यक्तित्व के क्षेत्र में विशेष रूप से तैयार किए गए मनोवैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा किया जाता है। व्यक्तित्व-क्षेत्र में पाए जाने वाले व्यक्तिगत अन्तरों का अध्ययन तुम अन्य स्थान पर कर चुके हो और करोगे। इस अध्ययन में सम्प्राप्ति तथा प्रवणता की व्याख्या और उनके क्षेत्र में पाए जाने वाले व्यक्तिगत अन्तरों पर संक्षेप में प्रकाश डालने के पश्चात् बुद्धि की परिभाषा परीक्षण तथा मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के निर्माण की रीति के विषय में विचार करेंगे।

सम्प्राप्ति

हम ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से हर समय कुछ न कुछ सीखते तथा भूलते रहते हैं। किसी क्षण विशेष पर हमारा जितना भी ज्ञान होता है उतनी ही हमारी सम्प्राप्ति समझी जा सकती है। इस व्यापक अर्थ में सम्प्राप्ति हमारे ज्ञान-भंडार की तत्सम हो जाती है। किंतु साधारणतः मनोविज्ञान में सम्प्राप्ति शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयोग किया जाता है तथा इसका सन्बन्ध पाठ-

1—Intelligence Tests. 2—Attainment. 3—Aptitude.

शाला में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की विषयात्मक योग्यता से होता है। जैसा तुम जानते हो कि पाठशालाओं की विभिन्न कक्षाओं में अनेक विषय पढ़ाए जाते हैं; प्रत्येक कक्षा में पढ़ाए जाने वाले सब विषयों का विशेष पाठ्य-क्रम होता है। यह पाठ्य-क्रम अधिकतर बच्चे की क्षमता तथा समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर निर्धारित किया जाता है तथा यह आशा की जाती है कि यदि कोई बालक एक निश्चित समय में उस पाठ्य-क्रम में रक्खी गई बातों को सीख लेता है तो वह उससे अगली कक्षा के पाठ्य-क्रम को सीखने का अधिकारी हो जाता है। दूसरे दृष्टि-कोण से देखने पर इसका तात्पर्य यह है प्रत्येक कक्षा में किसी विशेष विषय के पाठ्य-क्रम समाप्त हो जाने पर यह आवश्यक होता है कि उस कक्षा के बालकों ने उस कक्षा में रहते हुए योग्यता का एक न्यूनातिन्यून स्तर प्राप्त कर लिया होगा जो सामान्यतः पिछली कक्षा के अन्त के उस विषय के स्तर से अधिक तथा अगली कक्षा के अन्त के स्तर से कम होता है। इस प्रकार के योग्यता के स्तर को उनकी सम्प्राप्ति कहा जाता है। आठवीं कक्षा के अंत में, मान लो, बालकों से साधारणतः यह आशा की जाती है कि वे हिन्दी के कुछ प्रमुख कवियों के नाम जान जाएँ, गद्य तथा पद्य को साधारण रूप में समझने लगें, उन्हें सन्धियों को पहचानने तथा विग्रह करने का ज्ञान प्राप्त हो जाए, वे समास तथा शुद्ध रूप समझने लगें तथा इसी प्रकार की अन्य कुछ व्याकरण तथा साहित्य की बातों को जानने लगें। इसके साथ साथ उन्हें अपनी कक्षा की हिन्दी की पाठ्य-पुस्तक का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए। अब यदि एक विद्यार्थी ऊपर लिखी थोड़ी भी बातें नहीं जानता तथा न उसने अपनी पाठ्य-पुस्तक ही ढंग से पढ़ रक्खी है तो उसकी सम्प्राप्ति आठवीं कक्षा के अन्त पर सामान्य से कम मानी जाएगी तथा वह नवीं कक्षा में हिन्दी में प्रविष्ट होने के योग्य नहीं समझा जा सकता।

सम्प्राप्ति का सम्बन्ध मुख्यतः विषय तथा ज्ञान से होता है, बालक की अवस्था अथवा बुद्धि से नहीं। यह दूसरी बात रही कि बहुत प्रतिभा-

शाली बच्चों की सम्प्राप्ति भी अच्छी होती है। यदि कोई ६ वर्ष का प्रतिभाशाली बालक ५ वीं कक्षा में रहते हुए भी ७ वीं कक्षा के योग्य हिन्दी का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो उसकी सम्प्राप्ति स्पष्टतः सातवीं कक्षा के बराबर हो जायगी, वह हिन्दी में सातवीं कक्षा के बालकों के बराबर चल सकता है। दूसरी ओर ११ वर्ष का बालक ५ वीं कक्षा में होते हुए भी सम्प्राप्ति में चौथी कक्षा के बराबर ही हो सकता है।

सम्प्राप्ति ज्ञात करने के लिए सम्प्राप्ति-परीक्षणों का प्रयोग किया जाता है। इनके बनाने में बालकों के पाठ्य-क्रम का ध्यान रक्खा जाता है। ठीक प्रकार बनाए गए परीक्षणों द्वारा बालकों के सम्प्राप्ति-स्तर का ठीक पता लगाया जा सकता है जिसकी सहायता से एक सी सम्प्राप्ति वाले बालकों की पढ़ाई एक साथ करने का प्रबन्ध किया जा सकता है। साधारणतः यह देखा गया है कि प्रत्येक कक्षा के अन्त में अधिकतर बालकों का हरेक विषय में सम्प्राप्ति-स्तर लगभग समान होता है। यही कारण है कि वे साथ अगली कक्षा में चढ़ा दिए जाते हैं किन्तु इस प्रकार के प्रबन्ध में दो प्रकार के बालकों को विशेष हानि हो सकती है तथा होती है, एक तो वे जिनका सम्प्राप्ति स्तर कक्षा से नीचे है और दूसरे वे जिनका बहुत ऊँचा है। पिछड़े हुए बालक असफल होने पर भी पिछड़े ही रहते हैं क्योंकि उन्होंने उससे पूर्व की बहुत सी बातों को नहीं सीख रक्खा होता है जिनका प्रयोग कक्षा में होता है। अध्यापक कक्षा के हित में पिछड़े बालकों की ओर कोई ध्यान न देकर अपना काम करता रहता है और वे जैसे के तैसे ही बने रहते हैं। दूसरी ओर प्रतिभाशाली बालक पाठ्य-क्रम को बहुत सरल पाकर उसको जल्दी से समाप्त कर लेते हैं और फिर अपनी शक्ति का कोई सदुपयोग न पाकर इधर उधर भटकने लगते हैं। यह विषय मुख्यतः शिक्षा-मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखता है अतः इसके सम्बन्ध में जितना यहाँ कह दिया गया उसमें भी हम साधारण-मनोविज्ञान की सीमा का उल्लंघन कर गए हैं।

व्यक्तिगत अन्तर के अध्ययन का दूसरा क्षेत्र प्रवणता का क्षेत्र है। सब कुछ सीखने से नहीं हो जाता। हममें एक व्यक्ति एक बात को अधिक आसानी से सीख जाता है दूसरा दूसरी बात को, यद्यपि दोनों को दोनों बातें सिखाने का सामान रूप से प्रयत्न किया जाता है। यह तो हमारे नित्य-प्रति के अनुभव की बात है कि यदि एक बालक गणित में अच्छा होता है तो दूसरा इतिहास में और तीसरा संगीत में। कोई यन्त्रों को अच्छी तरह बना तथा समझ सकता है, कोई संगीत की बारीकियों को जल्दी समझने लगता है तथा कोई चित्रकारी में शीघ्र ही निपुण हो जाता है। इसका क्या कारण है? वाट्सन के अनुयायी कहेंगे 'वातावरण अथवा परिवेश'[1] अर्थात् जो जैसे वातावरण में रहता है वैसी ही बातें शीघ्र सीख जाता है। प्रत्येक प्रकार के व्यक्तिगत अन्तर के मूल में प्राणी का वातावरण ही रहता है अन्य कोई बात नहीं। किन्तु इस विचार में जन्मजात प्रवृत्तियों की पूर्ण अवहेलना की गई है जो बहुत युक्ति-संगत नहीं मालूम होती। इस विषय पर बुद्धि का अध्ययन करते समय विचार किया जाएगा। हमारी समझ से इस प्रकार के अन्तर के मूल में प्राणी की जन्म जात अनुद्भूत प्रवृत्तियाँ रहती हैं जो अनुकूल वातावरण पाकर शीघ्र ही प्रस्फुटित हो जाती हैं। बिना प्रयत्न के कोई काम नहीं आता किन्तु उतने ही प्रयत्न से एक प्राणी एक चीज को कम और दूसरी को अधिक सीख पाता है। पहली बात को सीखने में उसकी रुचि कुछ कम तथा दूसरी को सीखने में कुछ अधिक रहती है। इसका कारण दूसरे काम को सीख सकने की जन्मजात क्षमता ही समझना अधिक उपयुक्त मालूम होता है। यह विषय बहुत विवादास्पद है, अतः प्रस्तुत आवश्यकता की पूर्ति के लिए यही कहना पर्याप्त मालूम होता है कि हम केवल इस बात पर ध्यान दें कि कुछ व्यक्तियों में एक प्रकार के काम को अधिक

प्रवणता

1—Environment.

सरलता पूर्वक सीखने व कर सकने की क्षमता पाई जाती है तथा दूसरे व्यक्तियों में दूसरे प्रकार के काम को सीखने व कर सकने की क्षमता पाई जाती है। इसको प्रवणता के नाम से पुकारा जाता है। पाठ्य-विषयों की प्रवणताओं को छोड़ कर यांत्रिक, संगीतात्मक तथा चित्र कलात्मक प्रवणताओं की खोज की जा चुकी है। उनका पता लगाने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रवणता-परीक्षणों का निर्माण किया गया है। संगीतात्मक प्रवणता का पता लगाने के लिए 'सीशोर टेस्ट आफ म्यूजीकल एप्टीच्यूड'[1] प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार यांत्रिक तथा चित्रात्मक प्रवणता के भी अनेक परीक्षण बनाये गए हैं और सफलता पूर्वक प्रयोग किए जा रहे हैं।

सम्प्राप्ति और प्रवणता के बीच अन्तर समझ लेना आवश्यक है। सम्प्राप्ति से हमारा तात्पर्य इससे होता है कि बालक ने क्या सीख लिया है परन्तु प्रवणता से यह कि वह क्या सीखने की दक्षता रखता है। बालक में गाने की सम्प्राप्ति न्यून होने पर भी उसकी प्रवणता अधिक हो सकती है। वह गाना न समझ पाता या जानता हो किन्तु सीखने की क्षमता रखता है। यदि उसको उपयुक्त वातावरण में रक्खा जाय तो सम्भव यह है कि वह शीघ्र ही संगीत का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकता है। सम्प्राप्ति में देखा जाता है कि कोई क्या प्राप्त कर चुका, प्रवणता में, वह क्या प्राप्त कर सकता है। एक का सम्बन्ध सीखने से है, दूसरे का नहीं। कभी कभी सम्प्राप्ति द्वारा प्रवणता का कुछ आभास मिल सकता है। किन्तु बहुधा ऐसा भी होता है कि उपयुक्त वातावरण न मिलने के कारण प्रवणता विशेष अविकसित रह जाती है तथा किसी अन्य दिशा में सम्प्राप्ति हो जाती है। यदि प्रवणता की दशा में प्राणी का विकास हो तो सम्प्राप्ति के उत्तम होने की सम्भावना है। यदि किसी प्राणी में गणित की प्रवणता है जो उपयुक्त शिक्षा मिलने पर उसका गणित-सम्प्राप्ति का

1—Seashore Test fo Musical Aptitude.

स्तर सम्भवतः उस विषय की अपेक्षा ऊँचा होगा जिसमें उसकी प्रवणता नहीं है।

प्रवणता के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक प्राणी का विकास अपनी सभी प्रवणताओं की दिशा में ही हो। बहुधा ऐसा होता है कि हमें बालक की प्रवणताओं का कोई बोध ही नहीं हो पाता और हम उसे यह पढ़ाते हैं जो हम ठीक समझते हैं, वह नहीं जो उसके अनुकूल हो, अर्थात् उसकी प्रवणताओं की दशा में हो। ऐसी दशा में उसकी प्रवणताएँ सुप्त रह जाती हैं और बालक वह नहीं बन पाता जो वह बन सकता है। मान लो एक बालक में विज्ञान के लिये विशेष प्रवणता विद्यमान है किन्तु वह जिस नगर में रहता है वहाँ विज्ञान पढ़ाने का कोई उपयुक्त प्रबन्ध नहीं है, तो न तो किसी को यह पता ही लग सकता है कि बालक में विज्ञान की प्रवणता है और न उसकी यह प्रवणता प्रस्फुटित ही हो सकती है। ऐसी दशा में उसकी यह प्रवणता सुप्त रह जाती है और वह राष्ट्र के लिये उतना हित-कर सिद्ध नहीं हो पाता जितना हो सकता है।

व्यक्तिगत अन्तर की खोज का एक अन्यतम क्षेत्र मानवीय बुद्धि-क्षेत्र है। बिल्कुल ठीक ठीक वैज्ञानिक रीति से यह कहना कठिन है कि

बुद्धि

बुद्धि क्या है। साधारणतः हम उस व्यक्ति को बुद्धिमान कहते हैं जो किसी समस्या के समुपस्थित होने पर समुचित समय में उसका बहुमत से सर्व-मान्य तथा वैज्ञानिक रूप से यथासम्भव अकाट्य हल निकाल लेता है और कुछ व्यक्तियों की अपेक्षा शीघ्रता पूर्वक उसके सब पक्षों को समझ लेता है। जो जितनी शीघ्रतापूर्वक बात को समझ और नई बात को खोज लेता है वह उतना ही बुद्धिमान कहलाता है। दूरदर्शिता बुद्धिमत्ता का विशेष अंग मानी जाती है। किसी के व्यवहार की रीति से उसकी बुद्धि का निर्णय होता है। व्यवहार करने में व्यक्ति जन्मजात शक्तियों के साथ पूर्व संचित ज्ञान का भी प्रयोग करता है तथा उसके व्यवहार

की रीति को जन्म-जात तथा अनुभव प्राप्त अंगों में बाँटना कठिन ही नहीं वरन् मनोवैज्ञानिक ज्ञान की वर्तमान अवस्था में असम्भव प्रतीत होता है। अतः बुद्धि के विषय में यह कहना कठिन है कि वह जन्म-जात होती है अथवा अनुभव प्राप्त।

सामान्यतः मनोविज्ञान में बुद्धि का तात्पर्य उस शक्ति से समझा जाता था जिसके द्वारा प्राणी नवीन परिस्थितियाँ प्रस्तुत होने पर अपने व्यवहार में आवश्यक परिवर्तन करके अधिक सफलतापूर्वक कार्य करता है। यह जन्म-जात समझी जाती थी। किन्तु मनोवैज्ञानिक ज्ञान का विकास होने के साथ इस परिभाषा पर आपत्ति उठाई जाने लगी। यदि बुद्धि कोई जन्म-जात शक्ति है तो उसका पता लगाना कठिन है क्योंकि जिन साधनों के द्वारा भी हम उसे ज्ञात करने का प्रयत्न करते हैं उन पर अनुभव का प्रभाव अवश्य रहता है और ऐसी दशा में हम यह नहीं कह सकते किस में कितनी बुद्धि है। यह बात तुम्हारी समझ में आगे दी गई बुद्धि की प्रकृति की व्याख्या पढ़ने के बाद भली प्रकार आ जाएगी। इस समय यदि हम बुद्धि की इस परिभाषा को कि वह उस क्रिया का नाम है जिसके द्वारा प्राणी नवीन परिस्थिति से सामना होने पर उस परिस्थिति से सम्बंधित विभिन्न पक्षों को पूर्णतः समझकर पूर्व प्राप्त अनुभव तथा जन्म-जात विशेषताओं की सहायता से अधिक से अधिक सफलता पूर्वक उद्देश्य-प्राप्ति करता है, सर्वमान्य समझ लें (और इस समय जबकि हम इस जटिल विषय में प्रवेश कर रहे हैं इस परिभाषा को ग्रहण कर लेने में कोई विशेष आपत्ति भी न होनी चाहिए) तो किसी व्यक्ति की बुद्धि का पता लगाने में कोई विशेष कठि-नाई न होनी चाहिए। उसको किसी नई परिस्थिति में डालकर उसके व्यवहार की रीति के आधार पर उसकी बुद्धि का पता लगाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में इस बात का विशेष ध्यान रखने की आवश्य-कता है कि प्रस्तुत की जाने वाली परिस्थितियों का प्राणी के संवेगात्मक जीवन से न्यूनातिन्यून सम्पर्क हो। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के शैशवकाल

में बुद्धि के कुछ पक्षों को अधिक सही रीति से नापने का प्रयत्न किया गया। सन् १८८० में ऐबिंगास[1] ने बौद्धिक-क्षेत्र में स्थित व्यक्तिगत अन्तर को ज्ञात करने के लिए अनेक प्रकार की सामग्री को स्मरण करने के परीक्षण तैयार किए। इसके बाद वाक्य-पूर्ति, चित्र-पूर्ति, चित्र, शब्द-अथवा वाक्य पहचानने की गति, गणित के प्रश्न अथवा साहचर्य्य परीक्षण जैसे अनेक परीक्षणों को बुद्धि-मापन की कसौटी समझे जाने की ओर संकेत किया गया किंतु कोई भी ऐसा परीक्षण तैयार न किया जा सका जो बुद्धि को केवल एक किसी विशेष कार्य में प्रकट होता दिखा सके।

फ्रांस के एक प्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता ऐल्फ्रेड बिने[2] ने इस विषय पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला। उनका कहना था कि बुद्धि कोई एकांकी संकुचित गुण अथवा शक्ति नहीं होती वरन् वह अनेक योग्यताओं की एक जटिल संगठन होती है। इस विचार को ध्यान में रखकर उन्होंने सन् १९०५ में पहला बुद्धि-परीक्षण निर्मित किया। इसमें निकटतम कठिनाई के अनुसार क्रम-बद्ध किए गए, विभिन्न योग्यताओं से सम्बन्धित ३० प्रश्न थे। सन् १९०८ में थियोडोर साइमन[3] की सहायता से उन्होंने उसका पहला संशोधन प्रकाशित किया। इस संशोधन की सफलता से प्रोत्साहित होकर विभिन्न देशों के मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने अपने अपने देश के परिवेश के अनुकूल उसका प्रसार तथा अनुशीलन[4] किया इनमें से दो अनुशीलन विशेषरूप से प्रसिद्ध हैं; पहला, बर्ट का लंदन रिवीजन[5] तथा दूसरा, टर्मन[6] का स्टैन्फोर्ड रिवीजन[7] जो कि सन् १९१६ में प्रकाशित हुआ। सन् १९३७ में इसका अर्वाचीन संशोधित रूप टर्मन-मेरिल स्केल[8] के नाम से प्रकाशित हुआ है।

1—Ebbinghaus. 2—Alfred Binet. 3—Theodore Simon. 4—Adaptation. 5—Burt's London Revision. 6—Terman. 7—Stanford Revision. 8—Terman-Merrill Scale.

इस प्रकार बुद्धि-परीक्षणों का प्रचार होने से इस क्षेत्र में एक बाढ़ सी आ गई और यह समझा जाने लगा कि अन्ततोगत्वा आज के मनोविज्ञानवेत्ता ने प्राणी के व्यवहार के कम से कम एक पहलू पर तो अधिकार पा लिया और वह अब उसके विषय में बहुत बड़ी सीमा तक सही भविष्यवाणी कर सकता है। इस विचार के फलस्वरूप अनेक प्रकार के बुद्धि-परीक्षणों का निर्माण किया जाने लगा जिनके विषय में अब तुम पढ़ोगे।

बुद्धि-परीक्षणों के प्रकार

साधारणत: बुद्धि-परीक्षणों को भाषायुक्त[1] तथा भाषा रहित[2], इन दो वर्गों में विभाजित किया जाता है किन्तु इस दृष्टिकोण से कि कोई परीक्षण एक समय में केवल एक व्यक्ति को दिया जा सकता है अथवा समूह को, प्रत्येक के दो वर्ग और किए जाते हैं। इस प्रकार बुद्धि-परीक्षणों के चार वर्ग होते हैं :—

(१) भाषायुक्त व्यष्टि-बुद्धि-परीक्षण[3]

(२) भाषा रहित व्यष्टि-बुद्धि-परीक्षण[4]

(३) भाषायुक्त समष्टि-बुद्धि-परीक्षण[5]

(४) भाषा-रहित समष्टि-बुद्धि-परीक्षण[6]

भाषायुक्त व्यष्टि बुद्धि-परीक्षण

एक समय में एक ही व्यक्ति को दिए जाने वाले ऐसे बुद्धि-परीक्षण को जिसमें भाषा का प्रयोग पर्याप्त-मात्रा में वर्तमान रहता है भाषा-युक्त व्यष्टि-बुद्धि-परीक्षण कहते हैं। बिने-साइमन बुद्धि-परीक्षण तथा उसके विभिन्न अनुशीलन सब इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। उत्तर प्रदेश के मनोविज्ञान-केन्द्र ने इस परीक्षण के टर्मन-मेरिल-स्केल, फार्मएल नामक[7] संशोधन का हिन्दी में अनुशीलन किया है। इसमें

1—Verbal. 2—Non-Verbal. 3—Verbal Individual Intelligence Test. 4—Non-Verbal Individual Test. 5—Verbal Group Test. 6—Non-Verbal Group Test. 7—Formal.

प्रयुक्त सामग्री विविध प्रकार की है, स्थूल पदार्थों से लेकर दुर्बोध प्रश्नों तक। प्रारम्भिक प्रकरण अधिकतर सरल तथा स्थूलता प्रधान हैं। जैसे भिन्न-भिन्न आकार के लकड़ी के टुकड़ों का उनके अनुकूल रिक्त स्थानों में जमाना अथवा गुटकों से पुल अथवा मीनार बनाना। अन्त में इस प्रकार के प्रश्न आ जाते हैं जैसे 'पिघलना और जलना किस बात में एक से होते हैं' जिनमें पर्याप्त मात्रा में उच्च स्तर के दुर्बोध विचारात्मक विश्लेषण की आवश्यकता होती है। इस परीक्षण की एक बड़ी विशेषता शब्द-भण्डार[1] का प्रकरण है। यह परीक्षण विभिन्न आयु-वर्गों में बटा हुआ है। नीचे के वर्गों में भाषा का प्रयोग बहुत कम और ऊपर के वर्गों में बहुत अधिक पाया जाता है। उदाहरण के लिए देखो 'वर्ष २' में निम्न प्रकरण हैं :—

१—तीन छिद्र वाला आकार पटल
२—नाम द्वारा वस्तु पहचानना
३—शरीर के अंग पहचानना
४—गुटकों की मीनार बनाना
५—चित्र देखकर वस्तु का नाम बताना
६—शब्द-क्रम

तथा वर्ष १० में यह :—

१—शब्द-भण्डार
२—असंगत-चित्र II
३—पढ़ना और बताना
४—कारण बताना
५—शब्द बोलना
६—छः अंक दोहराना

तथा 'उत्तम प्रौढ़ ३'[2] में जो कि इस परीक्षण का अन्तिम आयु वर्ग है, यह है :—

1—Vocabulary. 2—Superior Adult III.

१—शब्द-भण्डार
२—दिशा-बोध
३—विपरीत समधर्मता II
४—कागज काटना II
५—तर्कना
६—नौ अंक दोहराना

इन उदाहरणों द्वारा ऊपर कही गई बात की यथार्थता तुम्हारी समझ में भली प्रकार आ जाएगी। इसमें एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस परीक्षण के परिणाम पर विषय की भाषा-योग्यता का कितना अधिक प्रभाव पड़ता है। अतः यह परीक्षण विद्यार्थियों अथवा केवल उन व्यक्तियों की बुद्धियों में अन्तर प्रकट कर सकता है जो पढ़े लिखे हैं अथवा बहुत बड़ी सीमा तक भाषा को प्रयोग कर अथवा समझ सकते हैं। किन्तु बुद्धि का प्रयोग तो सभी के व्यवहार में पाया जाता है। अशिक्षितों के बीच बौद्धिक अन्तर ज्ञात करने अथवा किसी अशिक्षित की बुद्धि नापने के लिए भाषा-युक्त परीक्षणों का प्रयोग करना व्यर्थ तथा अनुपयुक्त होता है क्योंकि उनके द्वारा प्राप्त परिणाम सभी अशिक्षितों के लिए लगभग एक से होते हैं। ऐसी दशा में अशिक्षितों की बुद्धि नापने के लिए किन्हीं अन्य साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए और यह कार्य भाषा-रहित-व्यष्टि-बुद्धि परीक्षण के द्वारा किया जाता है।

भाषा रहित व्यष्टि-बुद्धि-परीक्षण में ऐसे प्रकरण सम्मिलित किये जाते हैं जिनमें भाषा का प्रयोग न्यूनातिन्यून हो तथा परिणाम पर पुस्तकीय ज्ञान का कम से कम प्रभाव पड़े। इस प्रकार का एक परीक्षण कौशल-प्रदर्शक परीक्षण[1] भी कहलाता है। उत्तर-प्रदेश के मनोविज्ञान-केन्द्र के वर्तमान संचालक डा० चन्द्रमोहन भाटिया ने इस प्रकार के एक

1—Performance Tests;

परीक्षण का निर्माण किया है। इसको 'भाटिया की कौशल-प्रदर्शक परीक्षण बैटरी[1] के नाम से पुकारा जाता है। यह पाँच उप-परीक्षणों[2] में विभाजित है। वे इस प्रकार हैं :—

(१) कोहज़ब्लाक डिज़ाइन टेस्ट[3]—इसमें कोहज द्वारा निर्मित ब्लाक डिज़ाइन टेस्ट में से १० प्रकरण डा० भाटिया ने अपनी बैटरी में सम्मिलित कर लिए हैं। प्रत्येक प्रकरण के लिये एक कार्ड रहता है जिस पर कोई रंगीन डिज़ाइन बना होता है। उस डिज़ाइन को देखकर रंगीन गुटकों की सहायता से, जो अलग से दिये जाते हैं, वैसा ही डिज़ाइन बनाना रहता है। यह डिज़ाइन आरम्भ में सरल रहते हैं किन्तु बाद में जटिल हो जाते हैं।

(२) ऐलेक्ज़ेंडर पास ऐलाँग-टेस्ट[4]— यह परीक्षण मूलतः ऐलेक्ज़ेंडर साहब ने बनाया था। इसको भी डा० भाटिया ने अपनी बैटरी में सम्मिलित कर लिया है। इसमें भी कुछ डिज़ाइन रहते हैं। प्रत्येक डिज़ाइन को देखकर एक खुले बक्स में रक्खे रंगीन टुकड़ों को खिसकाकर उस डिज़ाइन की तरह रखना होता है।

(३) पैटर्न-ड्राइङ्ग-टेस्ट[5]—इस परीक्षण का निर्माण स्वयं डा० भाटिया ने किया है। इसमें आठ कार्ड हैं। प्रत्येक कार्ड पर एक रेखा-आकार बना है। कुछ नियमों के अन्तर्गत विषय को उस आकार को देखकर वैसा ही आकार बनाना होता है।

(४) इमीडियट-मैमरी-टेस्ट[6]—इसमें कुछ अंक बोल कर और विषय से उनको दोहरवा कर उसकी तात्कालिक स्मृति[7] का बोध प्राप्त किया जाता है।

(५) पिक्चर-कांस्ट्रक्शन-टेस्ट[8]—यह उप-परीक्षण ५ प्रकरणों में विभाजित है। इन पाँच प्रकरणों में भारतीय ग्राम्य-जीवन से सम्बन्धित पाँच

1—Bhatia's Battery of Performance Test. 2—Subtests. 3—Koh's Block Design Test. 4—Alexander's Pass-along Test. 5—Pattern Drawing Test. 6—Test of Immediate Memory. 7—Immediate Memory. 8—Picture Construction Test.

चित्रों के क्रमशः २, ४, ६, ८, और १२ टुकड़े सम्मिलित हैं। प्रत्येक चित्र के टुकड़े एक निश्चित क्रम में व्यवस्थित करके विषय के सामने रक्खे जाते हैं। एक चित्र को ठीक बना लेने पर दूसरे के टुकड़े उसके सामने रक्खे जाते हैं और इसी प्रकार परीक्षण आगे चलता है।

उत्तर प्रदेश के मनोविज्ञान-केन्द्र ने ४ वर्ष से १० वर्ष की आयु वाले बच्चों के लिए कौशल-प्रदर्शक-परीक्षणों की एक दूसरी बैटरी एकत्रित की है जो इस समय वहाँ छोटे बालकों की बुद्धि नापने तथा बच्चों और बड़ों में पिछड़ेपन[1] की सीमा का पता लगाने के लिए मान निरूपित[2] की जा रही है।

कौशल-प्रदशक-परीक्षणों की इन बैटरियों का वर्णन पढ़कर तुम इनकी उपादेयता भली प्रकार समझ सकते हो। इसका प्रयोग शिक्षित, अशिक्षित, अन्य भाषा-भाषी तथा बहिरों आदि पर समान रूप से सफलतापूर्वक किया जा सकता है तथा बहुत बड़ी सीमा तक सफलतापूर्वक उनमें आपस में पाए जाने वाले बौद्धिक अन्तर का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

भाषायुक्त तथा भाषा रहित दोनों प्रकार के व्यष्टि परीक्षणों के प्रयोग में दो बड़ी कठिनाइयाँ हैं (१) समय की कठिनाइयाँ तथा (२) परीक्षक के विशेष प्रकार से दीक्षित होने की कठिनाई। व्यष्टि परीक्षण एक समय में एक ही व्यक्ति को दिया जा सकता है तथा उसमें लगभग १ घन्टा अथवा इससे भी अधिक लगता है। अतः वृहद्माप में इसका प्रयोग करने के लिए अनेक दीक्षित परीक्षकों का एक साथ उपलब्ध होना आवश्यक होता है। यह दूसरी कठिनाई पहली की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल होती है। अनुभव-रहित परीक्षकों के साथ में इस परीक्षण से लाभ होने की अपेक्षा हानि होने की अधिक संभावना रहती है। अतः इसके प्रयोग को सफल बनाने के लिए पर्याप्त मात्रा में परी-

---

1—Backwardness; 2—Standardize.

क्षकों का दीक्षित करना अत्यन्त आवश्यक होता है। किसी राष्ट्र की आवश्यकता की पूर्ति के लिए हजारों अथवा लाखों की संख्या में परीक्षकों को व्यष्टि परीक्षण में दीक्षित कर सकना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इन्हीं कठिनाइयों के कारण व्यष्टि-बुद्धि-परीक्षणों को वृहद्-माप पर प्रयोग न करके केवल विशेष अवसरों पर किया जाता है।

इन कठिनाइयों के होते हुए भी यह कुछ परिस्थितियों में बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। किसी व्यक्ति की बुद्धि का ठीक ठीक पता जितनी अच्छी तरह व्यष्टि-परीक्षणों द्वारा लगाया जा सकता है अन्य किसी साधन से नहीं इसीलिए निदान कार्य[1] अथवा एकांकी निर्देशन[2] में मुख्यतः उसका प्रयोग किया जाता है।

भाषायुक्त समष्टि बुद्धि-परीक्षण

व्यष्टि परीक्षणों में ऊपर वर्णन की गई कठिनाइयाँ होने के कारण तथा बुद्धि-परीक्षण के कार्य को अपेक्षाकृत सुगम तथा वृहद् माप पर प्रयोग किए जाने के योग्य बनाने के लिए भाषा-युक्त तथा भाषा-रहित समष्टि बुद्धि-परीक्षणों का निर्माण किया गया। भाषा-युक्त समष्टि-बुद्धि-परीक्षण से हमारा तात्पर्य उस परीक्षण से होता है जिसमें भाषा का विशेष प्रयोग किया जाता है तथा जो एक समय में एक ही साथ अनेक व्यक्तियों को दिया जा सकता है। इस प्रकार के परीक्षणों में सन् १९१७ में अमेरिका में तैयार किया गया 'आर्मी ऐल्फा'[3] नामक परीक्षण बहुत प्रसिद्ध है। यह सेना में भर्त्ती चाहने वाले रङ्गरूटों की बुद्धि नापने के लिए तैयार किया गया था।

उत्तर प्रदेश में डा० सोहन लाल ने सन् १९३५ में ११ वर्ष की आयु के बच्चों की बुद्धि नापने के लिए एक परीक्षण तैयार किया था। यह परीक्षण आजकल यहाँ के मनोविज्ञान केन्द्र में प्रयोग किया जा रहा है। मनोविज्ञान-केन्द्र ने भी प्रदेश के बच्चों के लिए १३, १४ तथा १५ वर्ष के तथा प्रौढ़ों के लिए अनेक समष्टि-बुद्धि-परीक्षण तैयार किए हैं।

1—Diagnosis. 2—Individual Guidance. 3—Army Alpha.

डा० सोहन लाल द्वारा निर्मित ११ वर्ष के परीक्षण में से कुछ प्रकरण नीचे दिये जाते हैं :—

आवश्यक है :—

लड़के में......(कोट, जूता, बस्ता, *सर*, बाईसिकल, गेंद)

इस उदाहरण में 'सर' के नीचे रेखा खींच दी गई है क्योंकि लड़के के पास सर होना आवश्यक है और दूसरी चीजें चाहे हो या न हों।

(इसी प्रकार इन प्रश्नों में ठीक उत्तर के नीचे रेखा खींच दो)

आवश्यक है :—

३३—जंगल में........(शेर, भालू, साँप, कीचड़, काँटा, पेड़)

३४—समुद्र में........(जहाज, हवाई जहाज, पानी, यात्री, धुन्ध, ठण्ड)

३५—बरफ में........(बुरादा, कम्बल, टाट, कूड़ा, धुआँ, ठंडक)

तथा मनोविज्ञान केन्द्र के १३ वर्ष वाले परीक्षण से कुछ प्रकरण यह हैं :—

इन शब्दों को देखो :—

मलमल, मखमल, लट्ठा, *चमड़ा*, मारकीन।

यहाँ 'चमड़ा' के नीचे लकीर खींच दी गई है, क्योंकि बाकी चार चीजें कपड़े की किस्में हैं और चमड़ा इन सबसे भिन्न है। नीचे इसी तरह के कुछ सवाल दिए जाते हैं। तुम्हें हर सवाल में शब्द मिलेंगे। इनमें से चार एक तरह के हैं और उन सब से एक भिन्न है। तुम जिस शब्द को बाकी चार शब्दों से अलग समझते हो उनके नीचे लकीर खींच दो।

१—कुत्ता, गाय, भैंस, मुर्गी, घोड़ा।

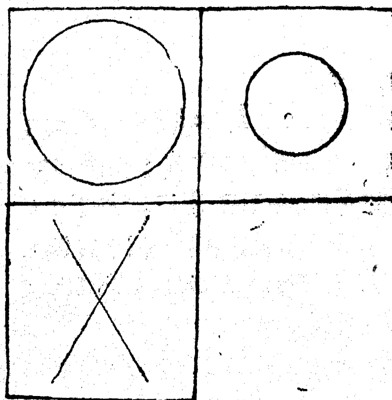
२—मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, धर्मशाला, गुरुद्वारा।

इन उदाहरणों से तुम समझ सकते हो कि भाषायुक्त समष्टि बुद्धि-परीक्षणों में किस प्रकार के प्रकरणों का समावेश रहता है। उनमें तर्कना, दृश्यात्मक कल्पना, आंकिक योग्यता, तुलना तथा अन्तर, दिशा-बोध,

आदि से सम्बन्धित अनेक प्रश्न रहते हैं। प्रत्येक प्रकार के प्रश्नों के समूह को बोधगम्य बनाने के लिये उसके ऊपर तत्सम्बन्धी एक उदाहरण दिया रहता है जिसमें यह भली प्रकार समझा दिया जाता है कि इसके बाद क प्रश्नों में विषय को क्या करना है। साधारणतः इस प्रकार के परीक्षण म १०० प्रश्न रहते हैं और उन्हें करने के लिए ४५ मि० का समय दिया जाता है।

भाषा रहित समष्टि बुद्धि-परीक्षणों में भाषा का न्यूनातिन्यून प्रयोग किया जाता है। अतः वे कुछ बातों में भाषायुक्त समष्टि-बुद्धि-परीक्षणों से अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं। इस प्रकार के परीक्षण का एक सुन्दर उदाहरण कैटेल[1] का 'कल्चर-फ्री'[2] परीक्षण है। एक अन्य भाषा-रहित समष्टि बुद्धि-परीक्षण जिसका हमने प्रयोग किया है एन० आई० आई० पी०[3] का नं० ७०/२३ का परीक्षण है। उनमें निम्न प्रकार के प्रकरणों का समावेश रहता है :—

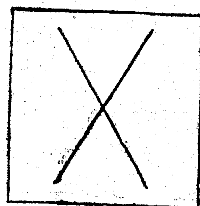
भाषा रहित समष्टि-बुद्धि-परीक्षण

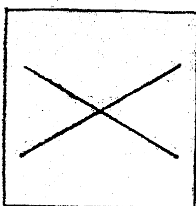


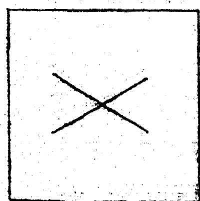
चित्र सं० ४१

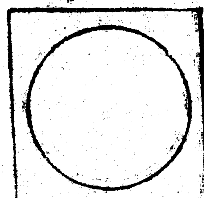
बायीं ओर के चित्र में तीन वर्गों में कुछ आकार बने हैं चौथे वर्ग की जगह खाली है खाली जगह पर नीचे बने ५ वर्गों में से एक इस प्रकार रखना हैं कि ३ का उससे वही सम्बन्ध हो जो १ का २ से है। उसे मालूम करो और सही उत्तर के ऊपर की संख्या उत्तर-पत्र में प्रश्न संख्या के सामने लिखो।

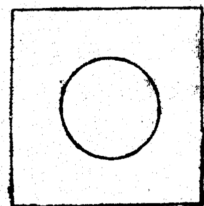
1—Cattell. 2—Culture Free Test. 3—N. I. I. P.











चित्र सं. ४१

मानसिक आयु[1] तथा बुद्धि-लब्धि[2]

बुद्धि-परीक्षणों के इस साधारण परिचय के बाद अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि उनके द्वारा किस प्रकार बुद्धि-मापन किया जाता है। यदि किसी विषय को किसी बुद्धि-परीक्षण में ३० अंक मिलते हैं तो केवल इन अंकों के आधार पर उसकी बुद्धि के विषय में कुछ नहीं कह सकते। संभव है यह ३० अंक ऊँची बुद्धि के परिचायक हों अथवा निम्न बुद्धि के इसका पता तब लग सकता है जब हमें यह भी मालूम हो कि सामान्यतः उस परीक्षण में उस समूह के अन्य व्यक्तियों को कैसे अंक मिलते हैं तथा उनकी तुलना में वह कैसा है। जो अंक किसी विषय को हम किसी बुद्धि परीक्षण में प्राप्त होते हैं वे उसके उस परीक्षण के लिए कच्चे प्राप्तांक[3] कहलाते हैं। समझने की सुविधा के लिए इन प्राप्ताँकों को मानसिक आयु अथवा बुद्धि लब्धि में परिवर्तन कर लिया जाता है। यह दोनों सामान्य प्रत्यक्ष बुद्धि-मापन-कार्य में विशेष महत्व रखते हैं तथा बुद्धि-

---

1—Mental Age. 2—Intelligence Quotient. 3—Raw Score.

सम्बन्धी जितनी भी तुलनात्मक आंकिक व्याख्या की जाती है वह इन्हीं आधार पर होती है।

जिस समय बिने ने अपना बुद्धि-परीक्षण तैयार किया तो उसके सामने 'इकाई' की समस्या आई। यह तो वे जानते ही थे कि अवस्था के साथ एक सीमा तक बुद्धि बढ़ती है तथा साधारणतः एक १२ वर्ष की आयु वाला बालक ८ वर्ष की आयु वाले बालक से अधिक बुद्धिमान होता है और वह किसी बुद्धि परीक्षण में आठ वर्ष के बालक की अपेक्षा अधिक प्रश्न कर सकता है। अब यदि कोई आठ वर्ष के बालक उतने ही प्रश्न सही कर लेता है जितने की सामान्यतः एक बारह वर्ष का बालक कर पाता है तो उसकी बुद्धि बारह वर्ष के बालक जैसी हुई अर्थात् वह बुद्धि में अपने आयु के समूह से आगे है। इस प्रकार के तर्क के आधार पर उन्होंने बौद्धिक तुलना करने के लिए 'मानसिक आयु' के सामान्य प्रत्यय की कल्पना की। उन्होंने अपने परीक्षण को आयु वर्गों में विभाजित किया और प्रयोग के आधार पर यह निश्चय किया कि सामान्यतः एक विशेष आयु-वर्ग के बालक हमारे परीक्षण में इतने प्रश्न अवश्य कर लेते हैं। अतः जो बालक उस वर्ग के सब प्रश्नों को कर लेता है वह उस बौद्धिक आयु-वर्ग का अधिकारी हो जाता है इससे कोई प्रयोजन नहीं कि उसकी वास्तविक आयु क्या है। मानसिक आयु से तात्पर्य उस आयु से होता है जो कि कोई विषय किसी परीक्षण के आधार पर पाता है। उदाहरण के लिए टर्मन-मेरिल-स्केल को देखो। मानसिक आयु-वर्गों के हिसाब से उसमें प्रश्नों का समावेश इस प्रकार किया गया है :—

मानसिक-आयु

वर्ष २ में ६ प्रश्न—शुद्ध होने पर प्रत्येक प्रश्न के लिए १ माह की मानसिक आयु का लाभ। पृष्ठ ३०५ पर देखिए।

वर्ष	२½ में	६ प्रश्न	—	,,
,,	३ ,,	६ ,,	—	,,
,,	३½ ,,	६ ,,	—	,,

वर्ष	४ में	६ प्रश्न	—	आयु का लाभ।
,,	४½ ,,	६ ,,	—	,,
,,	५ ,,	६ ,,	—	शुद्ध होने पर प्रत्येक प्रश्न के लिए २ माह की मानसिक आयु का लाभ।
,,	८ ,,	६ ,,	—	शुद्ध होने पर प्रत्येक प्रश्न के लिए २ माह की मानसिक आयु का लाभ।

अब यदि कोई बालक ३ वर्ष के सब प्रश्न शुद्ध कर लेता है तथा उसके आगे ३½ वर्ष में ५, ४ वर्ष में ४, ४½ वर्ष में ३, ५ वर्ष में ३, ६ वर्ष में ३, ७ वर्ष में २ तथा ८ वर्ष-वर्ग में पूर्णतः असफल हो जाता है तो उसकी मानसिक आयु इस प्रकार मालूम की जाएगी :—

३	वर्ष—	पूर्ण वर्ष
३½	,,	५ माह
४	,,	४ ,,
४½	,,	३ ,,
५	,,	६ ,,
६	,,	६ ,,
७	,,	४ ,,
८	,,	२ ,,

योग ५ वर्ष ६ माह

उस बालक की मानसिक आयु ५ वर्ष ६ माह हुई। इसमें एक बात तुमने देखी होगी कि अभी तक हमने कहीं भी वास्तविक आयु[1] की बात नहीं की है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वास्तविक आयु का मानसिक आयु से कोई सम्बन्ध नहीं होता। साधारणतः वास्तविक आयु

1—Chronological Age.

के आसपास ही विषय की मानसिक आयु होती है तथा वा० आ० से मा० आ० का अनुमान लगाकर ही परीक्षण देना आरम्भ किया जाता है। जिस बालक का परीक्षा-फल ऊपर दिया गया है उसकी वास्तविक आयु, यदि वह वाह्य-रूप से सामान्य बालक प्रतीत होता है तो ५ वर्ष के आस पास रही होगी। यही मानसिक आयु यदि कोई तीन वर्ष का बालक प्राप्त करे तो वह बहुत प्रखर बुद्धि वाला माना जाएगा तथा यदि यह मानसिक आयु कोई ८ वर्ष का बालक प्राप्त करता है तो वह बुद्धू घोषित किया जाएगा। अतः मानसिक आयु के आधार पर किसी व्यक्ति की बुद्धि की प्रखरता अथवा पिछड़ेपन का पता लगाने के लिए उसकी वास्तविक आयु का बोध होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके साथ साथ यदि एक व्यक्ति की वा० आ० ६ वर्ष तथा मानसिक आयु ८ वर्ष २ माह हो तथा दूसरे व्यक्ति की वा० आ० ८ वर्ष तथा मा० आयु १० वर्ष १ माह हो तो यह कहना कठिन है कि दोनों में अपनी अपनी अवस्था के अनुसार कौन अधिक बुद्धिमान है।

इस प्रकार की कुछ गणनात्मक तथा क्रियात्मक कठिनाइयों को दूर करने के लिए टर्मन ने बुद्धि-लब्धि के सामान्य प्रत्यय की कल्पना की।

बुद्धि-लब्धि

इससे मानसिक आयु सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ दूर हो गईं। बुद्धि लब्धि से हमारा तात्पर्य उस संख्या से होता है जो मा० आ० को वा० आ० से भाग देकर प्राप्त की गई संख्या को १०० से गुणा करने पर प्राप्त होती है। सूत्र रूप में उसको इस प्रकार लिखा जाता है :—

$$\text{बु० ल०} = \frac{\text{मा० आ०}}{\text{वा० आ०}} \times १००^{१}$$

यदि किसी व्यक्ति की मानसिक आयु उसकी वास्तविक आयु के बराबर निकलती है तो स्पष्टतः उसकी बुद्धि-लब्धि १०० होगी। इस बु०

1–$I.Q. = \frac{M.A.}{C.A.} \times 100$

ल० को औसत बु० ल० भी कहते हैं। अब ऊपर के उदाहरण में वर्णित ५ वर्ष ६ मा० की मा० आ० वाले बालक की वास्तविक आयु यदि ३ वर्ष है तो उसकी बु० ल०

$$=\frac{११}{२\times३}\times१००=१८३ \text{ (लगभग)}$$

हुई। अतः वह बालक विशेष रूप से प्रतिभाशाली होगा। यदि इसको वा० आ० ८ वर्ष हो तो उसकी बु० ल०

$$=\frac{११}{२\times८}\times१००=६९ \text{ (लगभग)}$$

होगी और वह बालक बुद्धू घोषित किया जाता है।

सामान्यतः बु० ल० के आधार पर निम्न प्रकार का वर्गीकरण किया जाता है :—

१५० और ऊपर	प्रतिभाशाली[1]
१३० से १५० तक	अधिक उत्तम[2] बुद्धि वाला
११० से १३० "	उत्तम[3] " "
९० से ११० "	साधारण[4] " "
७० से ९० "	कम[5] " "
७० से नीचे	बुद्धू[6]

७० बु० ल० से नीचे के बुद्धू वर्ग में वे सभी व्यक्ति आ जाते हैं जिनमें किसी न किसी प्रकार की बौद्धिक न्यूनता रहती है जिसको अंग्रेजी में मानसिक न्यूनता[7], के नाम से पुकारा जाता है। इसके अन्तर्गत आने वाले व्यक्तियों को न्यूनता की मात्रा के अनुसार ईडियट[8], मोरोन[9] तथा इम्बेसाइल[10] इन तीन वर्गों में और बाँटा जाता है, जिनका वर्णन विषय-विस्तार के भय से इस जगह देना ठीक नहीं प्रतीत होता।

1—Genius. 2—Very Superior. 3—Superior. 4—Average. 5—Below Average. 6—Deficient. 7—Mental Deficiency. 8—Idiot. 9—Moron. 10—Imbecile.

बु० ल० के सूत्र से यह स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति की बु० ल० ज्ञात करने के लिए परीक्षण के आधार पर उसकी मा० आ० तथा अन्य स्रोतों द्वारा उसकी वा० आ० का बोध होना आवश्यक होता है। इसका तात्पर्य यह है कि बु० ल० ज्ञात करने के लिए परीक्षण का परिणाम मा० आ० की इकाई में प्राप्त किया जाना आवश्यक होता है। बिने-साइमन टेस्ट में इसी प्रकार मानसिक आयु के रूप में प्राप्तांकों को आँका जाता है जिनको बु० ल० के सूत्र द्वारा शीघ्र ही बु० ल० में बदला जा सकता है किन्तु हर प्रकार के परीक्षण में यह सम्भव नहीं होता। यह कहना कठिन होता है कि किस प्रश्न को मा० आ० की इकाई में कितना महत्व दिया जाए। समष्टि-बुद्धि-परीक्षणों में तो विशेष रूप से प्रश्नों की संख्या गिनकर उनके आधार पर बुद्धि के विषय में बतलाना अधिक सुगम प्रतीत होता है। अतः इस कार्य को सुविधाजनक बनाने के लिए अंक-विज्ञान[1] विशारदों ने बु० ल० के सामान्य प्रत्यय को और अधिक व्यापक बना दिया है तथा इस प्रकार के नियम बना दिए हैं जिनकी सहायता से शीघ्र ही कच्चे प्राप्तांकों को बु० ल० में बदला जा सके तथा मा० आ० की गणना करने से छुटकारा मिल जाए।

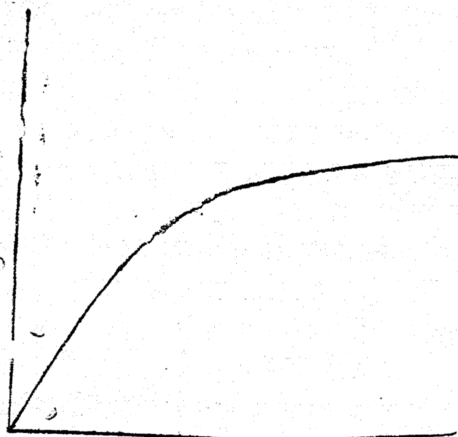
बु० ल० तथा कच्चे प्राप्तांक

जीवन के आरम्भिक वर्षों में मानसिक आयु अर्थात् बु० ल०, वा० आ० की अपेक्षा कुछ शीघ्रतापूर्वक बढ़ती है। बिने तथा उनके अनुयायी टर्मन आदि का विचार है कि एक अवस्था तक तो बु० ल० में वृद्धि होती रहती है उसके बाद वह वृद्धि कुछ कम हो जाती है तथा एक विशेष अवस्था पर पहुँचते पहुँचते बु० ल० में वृद्धि होना बन्द हो जाती है। यदि बु० ल० की तिर्यक् रेखा खींची जाए तो वह कुछ इस प्रकार की होती है। इसमें तुम देखोगे कि १४ वर्ष की आयु तक तिर्यक् रेखा में

बु० ल० तथा अवस्था

1—Statistics.

पर्याप्त ढाल है उसके बाद उस ढाल में कुछ कमी आने लगती है और २० अथवा २२ वर्ष की आयु तक पहुँचते पहुँचते वह लगभग एक सार पठार जैसी हो जाती है। कहा जाता है कि बुढ़ापे में वह फिर कुछ गिरने लगती है।



० २ ४ ६ ८ १० १२ १४ १६ १८ २० २२ २४

चित्र सं० ४३

बु० ल० के विषय में यह विचार बहुत समय तक सर्वमान्य समझा जाता रहा और अब भी अधिकतर व्यक्ति इसको ही युक्ति संगत मानते हैं। पिछले दिनों में अमेरिका के एक प्रसिद्ध मनोविज्ञान वेत्ता वेशलर[1] साहब ने इसका खण्डन किया है। उन्होंने वेशलर-बैलेव्यू[2] नामक एक बुद्धि-परीक्षण के परिणामों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बु० ल० निरन्तर बढ़ती रहती है। यह अवश्य है कि ज्यों ज्यों अवस्था बढ़ती है बु० ल० की वृद्धि की गति में कुछ कमी आ जाती है, किन्तु यह कहना कि २० या २२ वर्ष के बाद उसकी तिर्यक् रेखा लगभग

1— Weschler. 2— Weschler-Belle vue Test.

एक सार हो जाती है भ्रामक है; और इसलिए किसी प्रौढ़ की बुद्धि लब्धि निकालने के लिए हमें उसकी सम्पूर्ण अवस्था को ध्यान में रखना चाहिए न कि गणना के लिए उसकी वा० आ० को केवल सोलह वर्ष का मान लिया जाए जैसा कि बिने-साइमन बु० ल० निकालने में किया जाए। यह विषय बड़ा विवादग्रस्त है और इसकी ओर यहाँ पर केवल संकेत कर दिया गया है। जो विद्यार्थी इस विषय में और जानकारी प्राप्त करना चाहें वे वर्तमान मनोवैज्ञानिक पत्रिकाओं में समय समय पर निकलने वाले लेखों द्वारा तथा अन्य पुस्तकों द्वारा प्राप्त कर सकते हैं।

इस वाद विवाद में न पड़कर कि बुद्धि लब्धि किस अवस्था तक बढ़ती है और कितनी बढ़ती है यदि हम केवल यह मान लें कि यह सामान्य प्रत्यय व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में कुछ यथार्थता रखता है तो हम देख सकते हैं कि इससे अनेक लाभ है। यह बात हम मानते हैं कि किसी भली प्रकार से मान निरूपित[1] किये गये मनोवैज्ञानिक परीक्षण के आधार पर जो बु० ल० किसी व्यक्ति की निकलती है वह उसकी मानसिक क्षमता पर यथेष्ट प्रकाश डालती है और हमें यह बताती है कि वह व्यक्ति क्या और कितना करने के योग्य है तथा क्या और कितना नहीं। इससे एक बहुत बड़ा लाभ यह होता है कि अन्य व्यक्तियों को विशेष रूप से उनको जिनके हाथ में उस व्यक्ति का भविष्य निर्माण है, बहुत बड़ी सीमा तक ठीक पता लग जाता है कि उन्हें उससे कितनी आशा करनी चाहिए और कितनी नहीं। इससे लाभ यह होता है कि क्षमता से अधिक आशा किए जाने पर जब वह व्यक्ति कार्य में असफल रहता तो उसके परिणामस्वरूप उसमें जो संवेगात्मक उलझनें उत्पन्न हो सकती थीं उनसे वह बच जाता है। इसके साथ साथ प्रयत्न अर्थात् उसको उपयुक्त वातावरण में रख कर यदि उसकी बु० ल० कुछ कम है तो उसको बढ़ाया भी जा सकता है।

बु० ल० के सामान्य प्रत्यय के लाभ

1— Standardized.

बु० ल० का प्रयोग आजकल शिक्षात्मक[1], व्यवसायिक[2] तथा वैयक्तिक[3] सभी प्रकार के निर्देशनों में किया जाता है। बर्ट ने तो बु० ल० के आधार पर कुछ व्यवसायिक क्षेत्र निश्चित कर रक्खे हैं जिनका व्यौरा नीचे दिया जाता है।

प्रथम वर्ग—उच्च व्यवसायिक तथा शासन कार्य[4] (बु० ल० १५० से ऊपर)

द्वितीय वर्ग—निम्न व्यवसायिक टेक्नीकल तथा प्रबन्धात्मक कार्य[5] (बु० ल० १३०—१५०)

तृतीय वर्ग—क्लर्की तथा उच्च दस्तकारी का कार्य[6] (बु० ल० ११५-१३०)

चतुर्थ वर्ग—दस्तकारी का कार्य[7] (बु० ल० १००-११५)

पंचम वर्ग—अर्ध-दस्तकारी का कार्य[8] (बु० ल० ८५-१००)

षष्ठ वर्ग—दस्तकारी विहीन आवृत्ति सम्बन्धी कार्य[9] (बु० ल० ७०-८५)

सप्तम् वर्ग—साधारण मजदूरी[10] (बु० ल० ५०-७०)

अष्टम् वर्ग—कार्य के अयोग्य[11] (बु० ल० ५० से नीचे)

यद्यपि इस प्रकार का वर्गीकरण कुछ अधिक युक्तिसंगत नहीं मालूम होता तथापि यदि कोई विशेष संवेगात्मक कठिनाइयाँ न हों तो उससे समुचित लाभ उठाया जा सकता है। इसी प्रकार के वर्गीकरण के आधार पर शिक्षात्मक निर्देशन भी किया जा सकता है।

इससे कभी कभी व्यक्ति को हानि पहुँचने की आशंका रहती है। यदि किसी व्यक्ति की बु० ल० मान लीजिए ८० आती है और कोई उसको यह समझा देता है कि वह मूर्ख है तो इससे उसको लाभ होने की

1—Educational. 2—Vocational. 3—Personal. 4—Higher Professional and administrative work. 5—Lower Professional, technical and executive work. 6—Clerical and highly skilled work. 7—Skilled work. 8—Semi-skilled work. 9—Unskilled repititive work. 10—Casual labour. 11—Institutional.

अपेक्षा संवेगात्मक हानि होने की अधिक सम्भावना होती है। इसी प्रकार बहुत उच्च बु० ल० वाले व्यक्तियों में अहंकार उदय हो जाना भी कोई बहुत अस्वाभाविक बात नहीं है।

बुद्धि-परीक्षणों की निर्माण-विधि

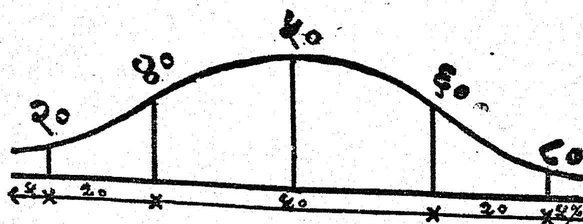
इस कक्ष में हम जिस विधि का वर्णन करेंगे वह सामान्यतः सभी प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के निर्माण में प्रयुक्त होती है किन्तु इसका प्रयोग विशेषतः बुद्धि सम्प्राप्ति तथा प्रवणता परीक्षणों के निर्माण में किया जाता है। यह तो तुम अब तक समझ ही गए होगे कि किसी की बुद्धि, संप्राप्ति अथवा प्रवणता का पता लगाने के लिए समुचित परीक्षा-साधनों का होना आवश्यक होता है। इस क्षेत्र में मनोविज्ञानवेत्ता की सफलता बहुत बड़ी सीमा तक इस बात पर निर्भर रहती है कि वह जिन साधनों का प्रयोग कर रहा है वे कहाँ तक मान निरूपित, विश्वसनीय[1] तथा प्रमाणित[2] हैं। प्रत्येक परीक्षा-साधन की उपादेयता उसकी विषयात्मकता तथा सर्वमान्यता पर निर्भर करती है। यदि साधन दोष पूर्ण है तो उसके आधार पर हम जितनी भी भविष्यद्वाणी करेंगे अथवा जो भी अनुमान लगायेंगे उनका ठीक होना संदिग्ध होगा। अतः मनोवैज्ञानिक परीक्षण की सफलता के लिए पहली आवश्यक बात उत्तम साधनों का निर्माण करना है। अब हम इस बात का वर्णन करने का प्रयत्न करेंगे कि एक उत्तम वैज्ञानिक परीक्षण किस प्रकार तैयार किया जाता है।

प्रयोजन

प्रत्येक परीक्षण किसी एक निश्चित प्रयोजन के लिए तैयार किया जाता है। उसके बनाने का कोई उद्देश्य रहता है तथा उसकी सफलता की सीमा इस बात पर निर्भर करती है कि उसके द्वारा प्रयोजन सिद्ध होने में कहाँ तक सफलता मिली है। इस सम्बन्ध में दो बातों का ध्यान रखना होता है:—पहली बात

1—Reliable, 2—Valid.

यह है कि वह परीक्षण किस समूह के निमित्त बनाया जा रहा है, तथा दूसरी बात यह कि उसके द्वारा उस समूह के मानसिक संसार के किस विशेष क्षेत्र का हम अध्ययन करना चाहते हैं। एक बुद्धि-परीक्षण तैयार करने से पूर्व हमें यह निश्चित करना होता है कि हम उसके द्वारा केवल किसी एक अवस्था-वर्ग[1] की बुद्धि को जाँच करना चाहते हैं अथवा एक से अधिक। साथ ही यह भी निश्चित करना होता है कि उसके द्वारा हम सामान्य, कम अथवा उत्तम बुद्धि वालों में से किनके बीच अधिक स्पष्टता पूर्वक अन्तर ज्ञात करना चाहते हैं। यह तथ्य इस बात पर निर्भर होता है कि इस प्रकार के परीक्षण में हमारा मनोवैज्ञानिक उद्देश्य क्या है। मान लो यदि तुम समस्त पाठशाला जाने वाले विद्यार्थियों की बुद्धि की जाँच करना चाहते हो तो तुम्हें ऐसा परीक्षण तैयार करना होगा जिसके परिणामों का वितरण समस्त समूह पर सामान्य हो अर्थात् उसमें ऐसे प्रश्नों का समावेश करना होगा कि जिनमें से कुछ कम से कम बुद्धि वाला भी करले तथा समूह का औसत ५० के आस पास आए। उनके प्राप्तांकों का वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि यदि उनकी तिर्यक् रेखा तैयार की जाए तो वह लगभग सामान्य[2] घंटी के आकार[3] की होगी जैसा कि नीचे के चित्र में दिखाया गया है।

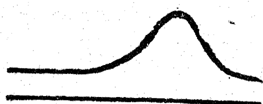


चित्र सं० ४४

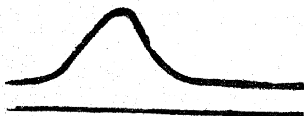
दूसरी ओर यदि उस परीक्षण के बनाने में हमारा उद्देश्य पिछड़ेपन की सीमा निर्धारित करना है तो वह पिछले परीक्षण की अपेक्षा कुछ

1—Age group. 2—Normal. 3—Bell-Shaped.

सरल होगा जिससे कि उसके द्वारा कम बुद्धि वालों में अन्तर ज्ञात करने में सुविधा हो। दूसरी ओर यदि उसके बनाने में हमारा उद्देश्य उत्तम बुद्धि वालों के बीच अन्तर ज्ञात करना है तो वह साधारण की अपेक्षा कुछ कठिन होगा तथा उसके द्वारा हम उत्तम बुद्धि वालों में आपस में अधिक स्पष्टता पूर्वक अन्तर ज्ञात कर सकते हैं।



चित्र सं० ४५



चित्र सं० ४६

परीक्षण का प्रयोजन अथवा उद्देश्य हो जाने के बाद उपयुक्त प्रकरणों का समावेश करने का कार्य आता है। यह कार्य अत्यन्त कठिन है तथा अनुभव से सम्बन्ध रखता है। प्रकरणों का चुनाव करने में अवस्था के अनुसार उनकी कठिनाई तथा सरलता का ध्यान रखना होता है। इस कार्य में इस बात का ध्यान रखना होता है कि केवल वे प्रकरण रक्खे जाएँ जो साधारणतः उस अवस्था के व्यक्तियों से अपेक्षित होते हैं। प्रकरणों का संचय करने में बहुत बड़ी सीमा तक तो मनोविज्ञानवेत्ता अपने व्यक्तिगत अनुभव का सहारा लेता है किन्तु इसके साथ साथ वह अन्य उपलब्ध परीक्षणों की सहायता भी ले सकता है। यदि मान लो उसको १३+(अर्थात् १३ वर्ष से १३ वर्ष ११ माह तक) की आयु के बालकों के लिए एक समष्टि बुद्धि-परीक्षण तैयार करना है तो वह ऐसे ही प्रकरणों का समावेश करेगा जिनको एक साधारण १३ वर्ष की आयु वाला बालक कर सके। प्रकरणों की उपयुक्तता देखने के लिए अच्छा यह रहता है कि जैसे जैसे वह प्रकरणों का समावेश करता जाए उनको १३ वर्ष के कुछ (मान लो २) कुशाग्र बुद्धि वाले, कुछ (मान लो) सामान्य तथा कुछ (मान लो) कम बुद्धि वाले बालकों

प्रकरणों का संचय[1]

1—Collection of items.

पर प्रयोग करके देख लें। परीक्षण में साधारणतः उन प्रकरणों का रखना बेकार होता है जिन्हें कुशाग्र बुद्धि वाला भी न कर सके तथा उनको रखना भी बेकार होता है जिन्हें कम से कम बुद्धि वाला भी कर ले।

यदि हम बुद्धि परीक्षण तैयार कर रहे हैं तो उसमें दूसरी बात यह ध्यान रखने योग्य है कि हमारा परीक्षण एक ही प्रकार के प्रकरणों से न भर जाए। उसमें विभिन्न प्रकार के प्रकरणों का यथेष्ट समावेश होना चाहिये क्योंकि तुम पढ़ चुके हो कि बुद्धि केवल किसी एक निश्चित दिशा में ही प्रस्फुटित न होकर विभिन्न दिशाओं में होती है।

इन बातों का ध्यान रखते हुये यदि हमको अपना अन्तिम परीक्षण १०० प्रकरणों का तैयार करना होता है तो प्रयोगार्थ २०० या २०० के आस पास प्रकरण एकत्रित किया जाता है और उनको सौ सौ की दो संतुलित लिपियों[१] में बाँट दिया जाता है तथा परीक्षण आरम्भिक परीक्षण[२] के लिए तैयार हो जाता है।

आरम्भिक परीक्षण

आरम्भिक परीक्षण के लिए ऐसे उपयुक्त प्रतिनिधि[३] समूह का चुना जाना अनिवार्य होता है जिस पर हम भविष्य में उस परीक्षण का प्रयोग करना चाहते हैं। यदि हम परीक्षण को साधारणतः तेज बालकों के बीच अन्तर ज्ञात करने के लिए प्रयोग करना चाहते हैं और आरम्भिक परीक्षण में उसको अधिकतर बुद्धू लड़कों पर प्रयोग करते हैं तो उसके आधार पर जो प्रकरण हम अंतिम परीक्षण के लिए चुनेंगे वे हमारे प्रयोजन के लिए व्यर्थ होंगे। अतः आरम्भिक परीक्षण के लिए समूह का प्रयोजनानुसार प्रतिनिधि होना आवश्यक है। ऐसे प्रतिनिधि समूह को चुनकर तैयार की गई लिपियों को एक एक परीक्षण के रूप में उसी समूह को कुछ समय का अन्तर देकर दो बार में दिया जाता है। इस कार्य में समय का विशेष ध्यान रक्खा जाता है।

1— Drafts. 2— Try-out. 3— Representative.

आरम्भिक परीक्षण के परिणाम स्वरूप उपलब्ध लिपियों[1] को जाँचने के बाद उनका प्रकरण-विश्लेषण[2] किया जाता है। इस कार्य में विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है। जँची हुई लिपियों को प्राप्तांकों के हिसाब से क्रम-बद्ध करके यह देखा जाता है कि प्रत्येक प्रकरण को कितने व्यक्तियों ने सही किया है। जिस प्रकरण को ५०% या उसके आस पास व्यक्ति सही कर लेते हैं और साथ साथ यदि उस प्रकरण की आन्तरिक प्रमाणिकता[4] .५ के आस पास होती है तो उसको अन्तिम परीक्षण में सम्मिलित किए जाने के योग्य मान लिया जाता है। इस सम्बन्ध में कोई अलंघनीय कठोर नियम नहीं हैं तथापि अधिकतर इन्हीं नियमों का पालन किया जाता है जिनका वर्णन ऊपर किया गया है। आन्तरिक प्रमाणिकता किस प्रकार मालूम की जाती है इसके लिए विद्यार्थी अन्य अंक-विज्ञान की पुस्तकों को देखें। उसका विस्तृत वर्णन इस पुस्तक की सीमा के बाहर है। प्रकरणों के चुनने के विषय में अंक-विज्ञान विशारदों की अपनी अलग अलग मति है, यहाँ केवल एक विधि का संक्षेप में उदाहरणार्थ वर्णन कर दिया गया है।

प्रकरण-विश्लेषण तथा प्रकरण-चयन[3]

इस प्रकार प्रतिशत तथा आन्तरिक प्रमाणिकता की कसौटी पर कसे जाने के बाद यदि हमें ठीक प्रकरणों की प्रर्याप्त संख्या उपलब्ध हो जाती है तो उनको ठीक क्रम में रखकर अंतिम लिपि तैयार की जाती है। इस अंतिम लिपि को फिर प्रतिनिधि समूह से करवाया जाता है और उसके परिणामों की प्रमाणिकता[6] तथा विश्वसनीयता[7] की जाँच की जाती है।

अंतिम लिपि[5]

1—Scripts. 2—Item-analysis. 3—Selection of Items. 4—Internal consistency or validity. 5 —Final Draft. 6—Validity. 7—Reliability.

प्रत्येक परीक्षण द्वारा कोई न कोई विशेषता पायी जाती है। जिस सीमा तक हम उसके द्वारा उस विशेषता को मापने में सफल होते हैं उसी सीमा तक वह परीक्षण प्रमाणिक कहलाता है।

प्रमाणिकता वही परीक्षण प्रमाणिक माना जाता है जो उस बात को माप सके जिसके मापने के लिए वह बनाया गया है। जितनी ही कुशलतापूर्वक उसके द्वारा उस विशेष बात का मापन किया जा सकता है वह उतना ही अधिक प्रमाणिक समझा जाता है। प्रमाणिकता की जाँच के लिए किसी स्वतन्त्र कसौटी[1] का होना आवश्यक होता है। विद्यार्थियों के सम्बन्ध में यह कसौटी उनका परीक्षा-फल हो सकती है। यदि कोई परीक्षण किसी विशेष प्रवणता की जाँच के लिए बनाया जाता है तो उसमें सफल व्यक्तियों की भावी कार्य-कुशलता के आधार पर उसकी प्रमाणिकता प्रतिपादित की जा सकती है। भावी कार्य-कुशलता की कसौटी उस समूह अथवा व्यक्ति-विशेष की ख्याति, आय, सरकारी रिपोर्ट, अथवा कोई मौलिक रचना जैसी कोई भी चीज हो सकती है। उच्च प्रमाणिकता वाले परीक्षण में उच्च अंक पाने वाले व्यक्ति भविष्य में उस प्रवणता विशेष से सम्बन्धित सभी कार्यों में सफल तथा निम्न अंक पाने वाले अधिकतर असफल सिद्ध होते हैं। प्रमाणिकता की जाँच के लिए कसौटी तथा प्राप्तांकों की तुलना अनुबन्ध-गुणक[2] के द्वारा की जाती है जिसको प्रमाणिकता-गुणक[3] के नाम से पुकारते हैं। अनुबन्ध-गुणक क्या होता है और किस प्रकार ज्ञात किया जाता है यह आगे समझाने का प्रयत्न किया गया है। यथार्थ में इसके सम्बन्ध में विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए अङ्क-विज्ञान की पुस्तकें देखना चाहिए।

1—Criterion. 2—Coefficient of Correlation. 3—Validty Coefficient.

प्रमाणिक होने के साथ परीक्षण का विश्वसनीय होना भी आवश्यक होता है। अतः समूह से प्राप्त अङ्क-लिपियों के आधार पर विश्वसनीयता भी ज्ञात की जाती है। किसी परीक्षण की

विश्वसनीयता

विश्वसनीयता का तात्पर्य यह होता है कि वह परीक्षण एक ही समूह पर बार-बार प्रयोग किए जाने पर एक से परिणाम देता है। यदि एक ही समूह पर भिन्न-भिन्न अवसरों पर किसी परीक्षण का प्रयोग करने पर प्राप्तांकों में लगभग अभिन्न सम्बन्ध रहता है तो वह परीक्षण विश्वसनीय समझा जाता है यह तो निर्विवाद है कि पूर्ण अभिन्नता दुस्तर होती है। परिणामों में न्यूनातिन्यून भिन्नता प्रदर्शित करने वाला परीक्षण ही अधिक से अधिक विश्वसनीय होता है। पटरी की सहायता से खींची गयी लकीर के सीधे होने की सम्भावना स्वतन्त्र रूप से खींची गई लकीर की अपेक्षा स्पष्टतः अधिक है। पटरी से खींची गई लकीरें लगभग सभी सीधी होंगी जब कि स्वतन्त्र रूप से खींची गई कुछ सीधी तथा कुछ वक्र। अतः परिणाम की अभिन्नता दूसरी दशा की अपेक्षा पटरी के सम्बन्ध में कहीं अधिक है। और इसलिए सरल रेखा खींचने के लिए पटरी का प्रयोग अधिक विश्वसनीय है।

विश्वसनीयता की जाँच तीन प्रकार से की जा सकती है—(१) एक ही समूह पर परीक्षण का दो भिन्न-भिन्न अवसरों पर प्रयोग करके प्राप्त परिणामों की तुलना करने पर (२) अनेक प्रकरणों वाले परीक्षण के विषम प्रकरणों के परिणामों की सम प्रकरणों से तुलना करके (३) परीक्षण से मिलता जुलता दूसरा परीक्षण तैयार करके, मौलिक तथा रूपान्तरित परीक्षणों का एक ही समूह पर प्रयोग करने से प्राप्त परिणामों की तुलना करने पर। इन तीनों विधियों में से साधारणतः दूसरी विधि अधिक सुगम होती है और इसी कारण से उसका प्रयोग भी अधिक होता है। उसमें बार-बार समूह को एकत्रित करने अथवा दूसरा परीक्षण

बनाने की असुविधाओं से छुटकारा हो जाता है। उपर्युक्त प्रत्येक प्रकार की तुलना में अनुबन्ध-गुणक का प्रयोग किया जाता है जिसके मान पर विश्वसनीयता का परिमाण निर्भर रहता है। विश्वसनीयता के इस अनुबन्ध-गुणक को विश्वसनीयता-गुणक[1] कहते हैं।

विश्वसनीयता तथा प्रमाणिकता निर्धारित हो जाने के बाद परीक्षण के कच्चे प्राप्तांकों को आवश्यकतानुसार बु० ल०, संप्राप्ति लब्धि[2] अथवा मानित अंकों[3] में परिवर्तित करके एक अंक-तालिका[4] तैयार की जाती है। इस अंक-तालिका की सहायता से हम किसी भी व्यक्ति के प्राप्तांकों का अर्थ समझ सकते हैं। मान लो किसी बुद्धि-परीक्षण में एक १० वर्ष के बालक के प्राप्तांक ४० हैं तो हम उस परीक्षण की बु० ल० को अंक-तालिका में देख कर मालूम कर सकते हैं कि ४० अंक प्राप्त करने वाले १० वर्ष के बालक की बु० ल० कितनी होगी। नीचे भाटिया बैटरी की अंक-तालिका का एक भाग उद्धृत किया जाता है :—

अंक-तालिका

परिवर्तन-तालिका : कच्चे प्राप्तांकों को बदलने वाली—विश्वसनीयता तथा प्रमाणिकता निर्धारित हो जाने के बाद जब परीक्षण की अंक-तालिका तैयार कर ली जाती है तो वह मान्य[5] समझा जाने लगता है तथा इस प्रकार समस्त क्रिया को परीक्षण की मान निरूपित[6] क्रिया कहते हैं। कोई भी परीक्षण जब तक इस प्रकार से मान निरूपित नहीं कर लिया जाता है मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला में प्रयोग किए जाने योग्य नहीं होता। मान निरुपण का कार्य अत्यन्त कष्टप्रद तथा समय लेने वाला होता है। किन्तु इन कठिनाइयों के कारण अथवा किन्हीं और विचारों

1—Reliability Coefficient. 2—Attainment Quotient. 3—Standard Scores. 4—Table of Norms. 5—Standard. 6—Standardization.

से प्रेरित होकर मान निरुपित किए बिना ही यदि हम परीक्षण को

मानांक / आयु	३०	३१	३२	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०	४१	४२	४३
११·०	८९	९०	९२	९३	९५	९६	९८	९९	१०१	१०२	१०४	१०६	१०८	१०९
११·६	८६	८८	८९	९१	९२	९४	९५	९६	९८	९९	१०१	१०३	१०४	१०६
१२·०	८४	८५	८७	८८	९०	९१	९२	९४	९५	९७	९८	९९	१०१	१०३
१२·६	८१	८३	८५	८६	८७	८९	९०	९१	९३	९४	९५	९७	९८	९९
१३·०	७९	८०	८२	८४	८५	८७	८८	८९	९०	९२	९३	९४	९६	९७
१३·६	७६	७८	८०	८१	८३	८४	८६	८७	८८	८९	९१	९२	९३	९५
१४·०	७४	७६	७७	७९	८०	८२	८३	८५	८६	८७	८९	९०	९१	९२
१४·६	७२	७३	७५	७६	७८	७९	८१	८२	८४	८५	८७	८८	८९	९०
१५·०	७०	७१	७३	७४	७६	७७	७८	८०	८१	८३	८४	८६	८७	८८
१५·६	—	७०	७१	७३	७४	७६	७७	७९	८०	८१	८३	८४	८६	८७
१६·०	—	—	७०	७१	७३	७४	७६	७७	७९	८०	८१	८३	८४	८६

चित्र सं० ४७——भाटिया बैटरी अंक तालिका

मान्य मानकर प्रयोग करना आरम्भ कर दें तो उससे लाभ की अपेक्षा हानि होने की अधिक सम्भावना है।

अनबन्ध गुणक

वैसे तो परीक्षण निर्माण के लिए अंक-विज्ञान के अनेक सामान्य प्रत्ययों का ज्ञान तथा उनके प्रयोग की विधि पर पूर्ण अधिकार होना आवश्यक होता है किन्तु यहाँ पर हम केवल अनुबन्ध-गुणक की परिभाषा तथा संक्षेप में उसके ज्ञात करने की एक विधि पर विचार करके विषय को समाप्त करेंगे। अनुबन्ध-गुणक से हमारा भाव उस संख्या से होता है जो दो अंक-सूचियों अथवा परिणामों के तुलनात्मक सम्बन्ध का बोध कराती है। यह एक प्रकार का अनुपात है और इसकी परिवर्तनशीलता का क्षेत्र (+ १) तथा (− १) के बीच सीमित रहता है। (+ १) से पूर्ण-

धनात्मक अनुबन्ध[1] तथा (–१) से पूर्ण ऋणात्मक-अनुबन्ध[2] का बोध होता है। यदि किसी समूह के प्रत्येक व्यक्ति को एक परिणाम में ठीक वही स्थान[3] प्राप्त होता है जो दूसरे परिणाम में तो उन दोनों परिणामों में पूर्ण-धनात्मक-अनुबन्ध होता है। उदाहरणार्थ वर्गाकार कमरों की लम्बाई तथा उनके क्षेत्रफलों के बीच पूर्ण-धनात्मक-अनुबन्ध होगा।

उदाहरण :—

कमरे की लम्बाई	कमरे का क्षेत्रफल	स्थान ($र_1$)	स्थान ($र_2$)	अन्तर (अ)	$अ^2$
१०	१००	+१	+१	०	०
८	६४	+२	+२	०	०
७	४९	+३	+३	०	०
६	३६	+४	+४	०	०
४	१६	+५	+५	०	०

पूर्ण संख्या (न) = ५ $\sum अ^2 = ०$

प्रो० स्पियरमैन[4] के प्रसिद्ध सूत्र के अनुसार,

$$\text{अनुबन्ध-गुणक } (र) = १ - \frac{६\sum अ^2}{न\,(न^2 - १)}$$

$$= १ - \frac{६ \times ०}{५ \times २४} = १$$

यदि एक परिणाम में प्राप्त स्थान दूसरे में प्राप्त स्थानों के बिल्कुल विपरीत होते हैं तो उन परिणामों के बीच पूर्ण-ऋणात्मक अनुबन्ध होता है। उदाहरणार्थ संख्याओं और उनके व्युत्क्रमों[5] के बीच पूर्ण-ऋणात्मक अनुबन्ध होता है।

1—Perfect Positive Correlation. 2—Perfect Negative Correlation. 3—Rank. 4—Spearman. 5—Reciprocal.

उदाहरण :—

संख्या	संख्या का व्युत्क्रम	$र_१$	$र_२$	अ°	$अ^२$
८	१/८	१	५	−४	१६
७	१/७	२	४	−२	४
६	१/६	३	३	०	०
५	१/५	४	२	+२	४
४	१/४	५	१	+४	१६
न = ५					$\sum अ^२ = ४०$

$$र = १ - \frac{६ \sum अ^२}{न\,(न^२ - १)} = १ - \frac{६ \times ४०}{५ \times २४} = -१$$

यदि किन्हीं दो परिणामों में परस्पर इस प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं होता तो उनके बीच शून्यात्मक-अनुबन्ध होता है; जैसे प्रौढ़ों की लम्बाई तथा बुद्धि के बीच लगभग शून्यात्मक-अनुबन्ध होगा; किन्तु बालकों के सम्बन्ध में यह बात नहीं है क्योंकि बालक की लम्बाई के साथ बुद्धि भी बढ़ती है।

उदाहरण :—

प्रौढ़ों की लम्बाई (इंच)	बु० प० में प्राप्तांक	$र_१$	$र_२$	अ	$अ^२$
६८	५०	+१	+३·५	−२·५	६·२५
६६	५०	+२·५	+३·५	−१·०	१·००
६६	६०	+२·५	+१	+१·५	२·२५
६२	४८	+४	+५	−१·५	१·००
६१	५३	+५	+२	−३·०	९·००
न = ५					$\sum अ^२ = २९·५०$

$र = १ - \frac{६\sum अ^{२}}{न(न^{२}-१)} = १ - \frac{६ \times १९.५०}{५ \times २४} = १ - .९७५ = .०२५$ जो लग-भग शून्य के बराबर है।

ऊपर का वर्णन अनुबन्ध-गुणक की केवल रूप-रेखा मात्र समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए अंक-विज्ञान की पुस्तकों का अध्ययन करना अनिवार्य है।

बुद्धि की प्रकृति की व्याख्या

प्रस्तुत अध्याय के इस अंतिम भाग में हम बुद्धि की प्रकृति पर विचार करेंगे। शक्ति मनोविज्ञानवेत्ता तथा किसी न किसी रूप में आजकल भी पाए जाने वाले उनके अनुयायी इसको मन की अनेक शक्तियों में से एक शक्ति मानते हैं तथा उनका विचार है कि इसी शक्ति के कारण मनुष्य अन्य जीवों से भिन्न होता है मनुष्य यह शक्ति लेकर उत्पन्न होता है तथा उससे प्रत्येक व्यवहार में यह प्रस्फुटित होती है। उनके अनुसार बुद्धि के परिणाम कुछ इस प्रकार है—"बुद्धि वह नैसर्गिक जन्मजात शक्ति है जिसका प्रयोग मनुष्य नई परिस्थिति का सामना होने पर उससे उत्पन्न समस्या को सफलतापूर्वक हल करने में करता है"।

परिवेश वादी[1] इस परिभाषा को मानने को तैयार नहीं हैं। उनका विचार है कि यदि बुद्धि कोई ऐसी शक्ति है तो उसके विषय में समुचित ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है जैसा हम पहले भी कह चुके हैं कि हमारा कोई भी व्यवहार पूर्व अनुभव के प्रभाव से मुक्त नहीं होता तो ऐसी दशा में हम कैसे उस बुद्धि का बोध प्राप्त कर सकते हैं जो जन्म जात तथा नैसर्गिक होती है। वे लोग प्रतिक्रिया रूप दूसरी सीमा पर पहुँच गए और कहने लगे कि बुद्धि केवल वह है जिसको बुद्धि-परीक्षणों द्वारा

1—Environmentalist.

नापा जाता है अर्थात् हम नहीं कह सकते कि बुद्धि यथार्थ में क्या है, हम केवल इतना जानते हैं कि बुद्धि-परीक्षण दिए जाने पर दो व्यक्तियों के परिणामों में अन्तर आता है और इसलिए हम कहते हैं कि उनकी बुद्धियों में अन्तर है। किसी में उतनी ही बुद्धि होती हैं जितनी उसकी बु० ल०। किन्तु यह विचार भी भ्रामक है। जब तक हम यह नहीं जानते कि बुद्धि किस प्रकार नापी जा सकती है अर्थात् बुद्धि किस प्रकार के व्यवहार में प्रस्फुटित होती है अथवा किस प्रकार का व्यवहार बौद्धिक व्यवहार कहलाता है, तब तक हम बुद्धि परीक्षण का निर्माण है नहीं कर सकते, उसको नापने का प्रश्न तो बाद की बात है। बुद्धि-परीक्षण का निर्माण करते समय प्रत्येक मनोविज्ञानवेत्ता की मानसिक पृष्ठभूमि में कुछ इस प्रकार की तर्कना रहती है, कि किसी न किसी रूप में प्रत्येक बौद्धिक व्यवहार में विश्लेषण तथा संश्लेषण, स्मरण क्रिया, दृश्यात्मक कल्पना आदि का प्रयोग रहता है। अतः इसी प्रकार के प्रश्न का, जिनमें मस्तिष्क को इस प्रकार की क्रियाएँ करना पड़े, समावेश करके बुद्धि परीक्षण तैयार किया जाए। अतः यह कहना भ्रामक है कि बुद्धि वही है जिसको बुद्धि-परीक्षणों द्वारा नापा जाता है।

ऊपर वर्णन की गई विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ करने की शक्ति प्राणी में जन्मजात होती है अथवा अनुभव प्राप्त, इस पर अनेक खोजें की गई हैं। इसी समस्या को दूसरे शब्दों में वंश परम्परा तथा परिवेश[1] की समस्या के नाम से पुकारा जाता है। इस पर तीन तरह से खोज की जा सकती है :—(१) वंश परम्परा एक रखकर तथा यथासम्भव परिवेश को भी एक सा रखकर व्यक्तिगत बौद्धिक अन्तर का पता लगाना, (२) वंश परम्परा एक रखते हुए परिवेश भिन्न करके; (३) वंश परम्परा भिन्न लेकर एक सा परिवेश रखकर। इन सभी दिशाओं में खोज करने का प्रयत्न किया गया है। इसके विषय में कुछ कहने से

1—Heredity and Environment.

पहले हम एक बार फिर यमल तथा उसके दो भेद:—(१) एक डिम्ब जन्य[1] तथा (२) दो डिम्ब जन्य[2] के विषय में बतला देना चाहते हैं। एक साथ उत्पन्न होने वाले दो बालकों को यमल कहते हैं। एक ही डिम्ब से जब दो बालक बनते हैं तो उनकी नाल तथा कमल एक होते हैं। इस प्रकार के बालकों के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि उनकी वंश-परम्परा एक होती है। यह देखा भी गया है कि उनकी शारीरिक बनावट-रूप आदि आरम्भ में सब एक सा होता है, बाद में जो अन्तर आ जाता है वह परिवेश के कारण। दो डिम्ब से जो बालक बनते हैं उनकी नालें तथा कमल अलग अलग होते हैं तथा उनकी वंश-परम्परा एक नहीं है। उनकी शारीरिक बनावट आदि में बड़ा अन्तर भी पाया जाता है। बहुधा दो डिम्ब जन्य बच्चे विपरीत लिंग तथा एक डिम्ब जन्य एक लिंग के होते हैं।

बुद्धि के क्षेत्र में वंश परम्परा तथा परिवेश के प्रभाव की खोज करने के लिए पूर्व कथित तीन रीतियों का उपयोग करने के निमित यमलों की बुद्धि का अध्ययन किया गया हैं। वंश परम्परा एक रखने के लिए एक डिम्ब-जन्य यमलों को यथा सम्भव एक से परिवेश में रखकर प्रत्येक यमल के दो बालकों की आपस में तुलना करने पर उनकी बुद्धि लब्धियों का अनुबन्धगुणक काफी ऊँचा पाया गया है। इससे केवल यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि वंश-परम्परा तथा परिवेश दोनों एक रहे तो बुद्धियों में बहुत कम अन्तर होता है।

दूसरी प्रकार की खोज में वंश-परम्परा को एक रखने के लिए एक डिम्ब यमलों को लिया गया तथा उनके परिवेशों में अन्तर लाने के लिए प्रत्येक यमल के दोनों बालकों को अलग अलग परिवेशों में पाला गया। इसके बाद जब उनकी बुद्धि-लब्धियों में तुलना की गई तो उनके बीच उससे कहीं ऊँचा अनुबन्ध पाया गया जो सामान्यतः भिन्न

1— Identical. 2— Fraternal.

वंश-परम्परा तथा भिन्न परिवेशों वाले बालकों की बुद्धि के बीच पाया जाता है। इससे यह परिणाम निकलता है कि बुद्धि पर वंश-परम्परा का प्रभाव रहता है। किन्तु परिवेशवादी इस बात को इतनी आसानी से मानने को तैयार नहीं हैं, वे कहते हैं कि प्रयत्न करने पर भी हम एक डिम्ब जन्य यमल के दोनों बालकों के परिवेश में उतना अन्तर नहीं ला सकते जितना साधारणतः अन्य बालकों के परिवेशों में होता है।

तीसरी प्रकार की खोज में दो डिम्ब जन्य यमलों के बालकों को एक से परिवेश में रखकर पालने के बाद उनकी बुद्धि लब्धियों की तुलना करने पर उनमें आपस में उतना ऊँचा अनुबन्ध नहीं पाया गया है जितना एक डिम्ब जन्य यमलों को एक से परिवेश अथवा भिन्न परिवेश में रखकर पालने पर। इससे पुनः हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि बु० ल० पर परिवेश की अपेक्षा वंश-परम्परा का अधिक प्रभाव रहता है अर्थात बौद्धिक व्यवहार जन्म जात अनुद्भूत शक्तियों से अधिक तथा परिवेश से कम नियंत्रित होता है।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि जहाँ तक बुद्धि के उस अंग का सम्बन्ध है जो जन्मजात होता है वह प्राणी की आयु में बढ़ने के साथ एक निश्चित आयु तक बढ़ता है तथा उसके बाद बढ़ना बन्द हो जाता है, तथा जहाँ तक उस भाग का सम्बन्ध है जिस पर परिवेश का प्रभाव रहता है वह सदैव बढ़ता रहता है। विशुद्ध बुद्धिवादी इस दूसरे भाग को बुद्धि न मानकर ज्ञान मानते हैं। परिवेशवादी पहले भाग को अमापनीय समझते हुए उसके विषय में कुछ भी कहना व्यर्थ सिद्ध करते हैं तथा उनका विचार है कि बुद्धि-परीक्षणों द्वारा उपलब्ध बु० ल० को परिवेश में आवश्यक सुधार करने पर कुछ सीमा तक बढ़ाया जा सकता है।

शरीर विज्ञान वेत्ताओं ने भी इस समस्या पर ध्यान दिया है। उनका विचार है कि बौद्धिक व्यवहार मस्तिष्क की रचना पर निर्भर करता है। जैसी जिसके मस्तिष्क की रचना होती है वैसा ही उसका बौद्धिक व्यवहार होता है। उत्तम बुद्धि वालों के मस्तिष्कों की बनावट में

अर्थात् उनके मस्तिष्क में व्याप्त नाड़ी तन्तुओं की रचना में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो अन्य व्यक्तियों के मस्तिष्कों में नहीं पाई जातीं। चोट से अथवा फोड़े आदि के किसी भाग-विशेष को क्षति पहुँच जाने पर सामान्यतः बुद्धिमान व्यक्ति भी बुद्धू हो जाता है। इस विचार से तो वंश-परम्परावादियों की बात का समर्थन होता है क्योंकि जो जैसा मस्तिष्क लेकर उत्पन्न होता है वैसी ही उसकी बुद्धि होती है।

मनोवैज्ञानिक अंक-विज्ञान वेत्ताओं ने इस समस्या पर अन्य दृष्टिकोण से विचार किया है। उन्होंने बिने की इस बात को आधार मानकर कि बुद्धि कोई एकाकी संकुचित गुण अथवा शक्ति नहीं होती वरन् वह अनेक योग्यताओं का एक जटिल संगठन होती है, समुचित खोज की है। इस सम्बन्ध में प्राथमिक कार्य करने का श्रेय प्रो० स्पियरमैन को है। उन्होंने बुद्धि-परीक्षणों के परिणामों का खण्ड-विश्लेषण[१] करके यह तथ्य प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया कि प्रत्येक बौद्धिक व्यवहार में एक साधारण खण्ड[२] जिसको उन्होंने 'g' की संज्ञा दी, तथा दूसरा निर्दिष्ट खण्ड[३] जिसको उन्होंने 's' की संज्ञा दी, रहते हैं। यह साधारण खण्ड लगभग समस्त बौद्धिक व्यवहार के मूल में रहता है इसका विश्लेषण तथा संश्लेषण करने की क्षमता से घनिष्ट सम्बन्ध है। इन दो खण्डों के अतिरिक्त कुछ सामूहिक खण्डों[४] की खोज की गई है जो कि एक से बुद्धि-परीक्षणों में साधारण खण्ड के समान ही व्याप्त रहते हैं। जिन बुद्धि-परीक्षणों समूह में शाब्दिक योग्यता का विशेष प्रयोग रहता है उनमें साधारण खण्ड के साथ साथ उससे कुछ कम महत्वपूर्ण एक और खण्ड निकलता है जिसको शाब्दिक खण्ड[५] (v) कह कर पुकारते हैं। यह एक सामूहिक खण्ड होता है तथा इस प्रकार के सांख्यिक[६] (n), आंतरिक्षिक[७] (k) व्यावहारिक[८] (E) आदि कुछ अन्य सामूहिक खण्ड

1—Factorial Analysis. 2—General Factor. 3—Specific factor. 4—Group factors. 5—Verbal factor. 6—Numerical. 7—Spatial. 8—Practical.

भी है। इस सन्बन्ध में अमेरिका के प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता थर्सटन[1] का नाम भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वे स्पियरमैन के विचारों से सहमत नहीं हैं तथा 'g' और 's' के झमेले में न पड़कर प्रत्येक बुद्धि-परीक्षण के परिणामों को स्वतन्त्र प्राथमिक खण्डों[2] में तोड़ने में विश्वास करते हैं। उनका विचार है कि बुद्धि एक प्रमुख तथा अन्य गौण खंडों का सामूहिक रूप न होकर अनेक एक दूसरे से स्वतन्त्र प्राथमिक समान रूप से महत्वपूर्ण खंडों से बनी होती हैं। इस प्रकार के खण्ड अनेक हो सकते हैं।

इन विभिन्न खण्डों को विभिन्न योग्यताओं[3] के नाम से पुकारा गया है। यह योग्यताएँ प्रवणताओं से भिन्न होती है। योग्यता का सम्बन्ध वर्तमान से तथा प्रवणता का भविष्य से होता है। योग्यता से यह निश्चित होता है कि प्राणी इस समय क्या कर सकता है तथा प्रवणता से यह कि वह भविष्य में क्या करने के योग्य है।



1—Thurstone. 2—Primary factors. 3—Abilities.

अध्याय — १६

वंशानुक्रम तथा वातावरण[१]

अपनी वर्तमान अवस्था में मनुष्य का व्यक्तित्व कितनी सीमा तक वंशानुक्रम से प्रभावित हुआ है और कितनी सीमा तक वह वातावरण से प्रभावित हुआ, मनोविज्ञान का सबसे विवादग्रस्त विषय है। वंशानुक्रम की महत्ता स्वीकार करने वाले विद्वान् व्यक्ति को पूर्ण रूप से वंश-परम्परा से सीमित बताते हैं। उनके विचार से व्यक्ति जो कुछ है या भविष्य में जो कुछ होगा वह उसके माता-पिता तथा अन्य पूर्वजों के गुणों पर निर्भर हैं। यदि यह विचार सर्वथा सही है तो व्यक्ति का शिक्षा द्वारा कुछ भी विकास नहीं हो सकता। समाज तथा पाठशाला से उसको लाभ होने की आशा नहीं। शिक्षा उसके व्यवहारों पर उतना ही प्रभाव डाल सकती है जितना उसके वंशानुक्रम द्वारा निर्मित व्यक्तित्व की सीमा है। इसके विपरीत दूसरी विचारधारा वातावरण वालों की है। उनके कथनानुसार व्यक्ति जो कुछ भी है वह अपनी वातावरण का फल-स्वरूप है। प्रसिद्ध दार्शनिक लॉक[२] के अनुसार जन्म के समय बालक कोरे कागज के समान होता है। उसको जैसा चाहे वैसा बनाया जा सकता है। वाटसन[३] नामक प्रसिद्ध व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक ने तो अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के जोश में यहाँ तक कह डाला कि यदि हमें उचित वातावरण प्राप्त हो तो हम बालक को विद्वान या चोर जो

1—Heredity and Environment. 2—Locke. 3—Watson.

चाहें बना सकते हैं। यदि यह दूसरी विचारधारा सर्वथा सही है तो व्यक्ति का निर्माण केवल उसके वातावरण पर निर्भर है और शिक्षा ही बालक के व्यवहार की निर्णायक है।

मनोविज्ञान के प्रयोगात्मक अध्ययन के इतने विकसित हो जाने पर भी इस जटिल प्रश्न का अभी पूर्ण रूप से समाधान नहीं हो पाया है। हाँ इतना अवश्य हुआ है कि हम व्यक्ति को न तो पूर्णरूप से वंशानुक्रम का फल समझते हैं न उसे पूर्णरूप से वातावरण द्वारा ही प्रभावित समझते हैं। आधुनिक विचार से बालक के विकास में वंश परम्परा तथा वातावरण दोनों का प्रभाव पड़ता है। वंशानुक्रम से प्राप्त गुण वातावरण में विकसित होते हैं और वातावरण केवल वंशानुक्रम से प्राप्त गुणों को ही प्रभावित करता है। यह सोचना कि दोनों विलग तथा शून्य में कार्य करते हैं भूल होगी। हाँ यह निर्णय करना कि वंशानुक्रम का कितना प्रभाव है और वातावरण का कितना प्रभाव है यह दूसरा प्रश्न है।

वंशानुक्रम से अधिकतर तात्पर्य उन विशेषताओं से समझा जाता है जो बालक अपने माता पिता से कोषाणुओं[1] द्वारा प्राप्त करता है।

वंशानुक्रम

वंशानुक्रम इन कीटाणुओं का संगठन[2] है जो एक पीढ़ी के बाद दूसरे पीढ़ी में लगातार पाये जाते हैं। जो भी विशेषतायें बालक को माता पिता से प्राप्त होती हैं वह इन्हीं कोषाणुओं द्वारा ही उसे प्राप्त होती हैं तथा एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी से प्रेषित होती हैं। यदि अणुवीक्षण यंत्र[3] द्वारा देखा जाय तो इन कोषाणुओं का निर्माण बड़ा जटिल तथा माला के टेढ़े मेढ़े तागों के प्रकार का दिखाई पड़ता है। इसके चारों ओर एक चिकनी वस्तु चिपकी रहती जिसे हम 'साइटोप्लाज्म'[4] कहते हैं। वह

1—Germ-plasm. 2—Germinal organization. 3—Microscope. 4—Cytoplasm.

भाग जिसमें छोटे-छोटे टुकड़े टेढ़े मेढ़े माला के रूप में रहते हैं 'क्रोमोजोम्स'[1] कहलाता है। यह नाम इसलिये पड़ा कि ये कोषाणु रंग जाने के बाद ही दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि-भिन्न-भिन्न जीवों में इन 'क्रोमोजोम्स' की संख्या भिन्न-भिन्न होती है किन्तु एक ही प्रकार के जीव में इन 'क्रोमोजोम्स' की संख्या नियत होती है। मनुष्य में २४ जोड़े या ४८ 'क्रोमोजोम्स' होते हैं। इसके आधे उसे पिता से और आधे माता से प्राप्त होते हैं। 'क्रोमोजोम्स' में और भी छोटे छोटे पदार्थ होते हैं जिन्हें हम 'जीन्स'[2] कहते हैं। वास्तव में यह 'जीन्स' ही ऐसे हैं जिनके द्वारा वंशपरंपरा एक पीढ़ी के बाद दूसरे पीढ़ी में प्रेषित होती है। प्रत्येक 'जीन' का 'क्रोमोजोम्स' के अंतर्गत एक विशेष स्थान होता है तथा वंशानुक्रम में प्रत्येक का विशेष कार्य होता है। पर यह समझना कि प्रत्येक 'जीन' का कार्य एक दूसरे से विलग होता है, भ्रमात्मक होगा। वे एक दूसरे तथा वातावरण से सहयोग करते हैं जिनके द्वारा बालक का विकास होता है। शरीर की प्रत्येक प्रकार की विशेषता कई 'जीनों' के पारस्परिक सहयोग से बनती है। 'जीन' का पारस्परिक सहयोग (१) आपस में एक दूसरे से होता है (२) साइटोप्लाज्म से होता है (३) 'जीन' से स्वयं उत्पन्न रासायनिक क्रिया से होता है (४) तथा जीव के बाहर के वातावरण से प्राप्त पदार्थों से होता है। इस जटिल संगठन में एक भी जीन के क्रियाशील होने पर पूरे कोषाणु के अन्दर की प्रतिक्रिया इस प्रकार विशेष हो सकती है कि व्यक्ति की किसी भी विशेषता का पूरा रूप बदल सकता है। योनि के वातावरण

चित्र सं०—४८

1—Chromosomls. 2—Genes.

के भी बदलने से 'जीन' के साधारण विकास की पूरी रीति बदल सकती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि गर्भ के समय बालक अपने माता पिता के ४८ 'क्रोमोजोम्स' प्राप्त करता है जिनमें से प्रत्येक का २४ क्रोमोजोम होता है। माता पिता में से किसी एक से जो २४ क्रोमोजोम्स बालक प्राप्त करता है वह उसके माता या पिता के पूर्वजों से भी प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार बालक उन विशेषताओं को प्राप्त करता है जो उसके माता या पिता या दोनों में हों। कुछ विशेषताओं में वह अपने माता पिता के पूर्वजों के समान हो सकता है। कुछ विशेषतायें उसमें ऐसी भी हो सकती हैं जो उसके परिवार में किसी में न पाई जाती हों। ४८ क्रोमोजोम्स में से प्रत्येक के अलग-अलग धागे होते हैं। माता तथा पिता से प्राप्त यह दो प्रकार के क्रोमोजोम्स अपने को इस प्रकार व्यवस्थित कर लेते हैं कि इनके एक ही प्रकार की क्रिया करने वाले 'जीन' एक दूसरे के आमने सामने पड़ जाते हैं। यह दोनों एक ही प्रकार का कार्य करते हैं चाहे एक ही दिशा में कार्य करें या विरोधी दिशा में। यदि एक जोड़े के दोनों 'जीन' एक ही दिशा में कार्य कर रहे हैं तो उनसे प्रभावित विशेषता बालक में प्रस्फुटित होगी यदि उनके विकास में कोई दूसरा जीन अड़चन नहीं डालता। यदि यह जोड़े एक दूसरे के विरोधी हुये तो इन जीनों के प्रभाव से या तो मध्यम रूप की विशेषता उत्पन्न हो सकती हैं या एक 'जीन' का प्रभाव दूसरी जीन द्वारा बिलकुल ही दब सकता है। दो जीनों में जो अधिक प्रभावशाली होता है तथा जो दूसरे जीन के रहते हुए भी अपना प्रभाव उत्पन्न करता है उसे हम प्रभुत्वशाली[1] कहते हैं और जिसका प्रभाव दब जाता है उसे हम प्रभुताविहीन[2] कहते हैं। यह प्रभाव विहीन जीन ज्यों का त्यों बना रहता और

वंशानुक्रम की कार्य प्रणाली

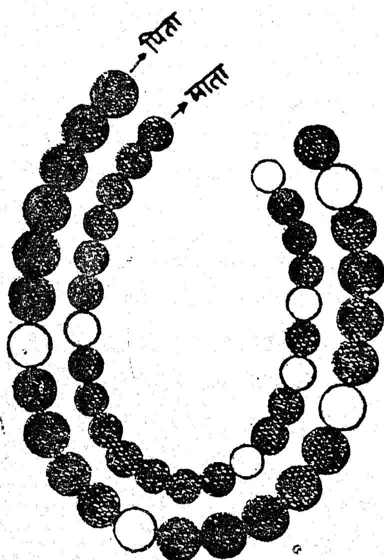
1—Dominant. 2—Recessive.

दूसरी पीढ़ी के बालक को प्राप्त हो सकता है। यदि दूसरी पीढ़ी में इसका जोड़ दूसरे समान प्रभुता-विहीन जीन से हो गया तो इसका प्रभाव प्रगट हो जायगा। उदाहरण के लिये यदि पिता साँवला है और माँ गोरी है तो चमड़े के रंग पर प्रभाव डालने वाले यह दोनों 'जीन' विरोधी दिशा में कार्य करेंगे और फलस्वरूप बच्चे का रंग या तो मध्यम श्रेणी यानी गेहुँवा हो सकता है या पिता या माता में से जिसका जीन प्रभुत्वशाली हुआ उसका रंग बच्चे को प्राप्त होगा। लेकिन दूसरा प्रभुता-विहीन जीन एक पीढ़ी के बाद यदि समान प्रभुताविहीन जीन से मिल सका तो उस पीढ़ी के बच्चे का रंग इस प्रभुता विहीन जीन के अनुसार होगा।

प्रकृति का एक जोड़े में दो जीन का प्रबन्ध करने का मनुष्य के शारीरिक हित के लिये अधिक महत्व है। इसका कारण यह है कि एक जोड़े का एक ही जीन उस निर्माण को जो बन रहा हो, पूरा करने के योग्य है चाहे इस क्रिया में उसे दूसरी जीन की सहायता न भी प्राप्त हो। जैसे यदि जोड़े का एक 'जीन' दूषित है तो दूसरा जीन अकेले भी काय को कर सकता है जो साधारणतया दोनों मिल कर करते। ऐसी दशा में केवल एक साधारण 'जीन' के द्वारा ही अच्छा निर्माण बन सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि दो 'जीन' को एक जोड़े में देकर जो दोषों से बचने का प्रबंध प्रकृति ने किया है उसी आधार पर हमारे जन्मदाता एक न होकर दो होते हैं। 'जीनों' में दोष इतनी प्रचुरता से होता है कि बिना इस प्रकार के दोहरे प्रबन्ध के संसार में दोष युक्त ही प्राणी अधिक दिखाई देते।

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट हो गया कि वंशानुक्रम को निर्धारित करने वाले 'जीन' ही होते हैं। ये जीन या तो पूर्णरूप से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होते हैं या बिलकुल ही नहीं प्राप्त होते। इन 'जीनों' को मनुष्य की विशेषताओं का समानार्थक समझ लेना भूल होगी क्योंकि एक तो 'जीन' बहुत ही प्रारम्भिक दशा में होते हैं दूसरे जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है मनुष्य में विशेषताओं का प्रस्फुटित होना केवल जीन पर

ही नहीं वरन् कितने अन्य कारणों पर निर्भर रहता है। यही कारण है कि वंशानुक्रम एक बहुत ही जटिल प्रणाली है तथा प्रत्येक 'जीन' के समान रूप से दूसरी पीढ़ी में प्रेषित हो जाने पर भी व्यक्तियों में अन्तर आ जाता है। साथ ही साथ यह बतलाना असम्भव है कि जोड़े के कौन से जीन एक कोषाणु में पाये जाँयगे और इसीलिये नये व्यक्ति का वंशानुक्रम निर्धारित करना भी एक दुष्कर कार्य है। मनुष्यों में जो इतना अधिक वैयक्तिक भेद दृष्टिगोचर होता है उसका कारण यही है कि जीनों की व्यवस्था और सहयोग हजारों प्रकार से हो सकता है।



चित्र सं०—४६

वंशानुक्रम से प्रभावित विशेषतायें :—जैसा कि ऊपर कहा गया है वंशानुक्रम और वातावरण एक दूसरे से विलग नहीं किये जा सकते, फिर भी दोनों के प्रभाव में कुछ नियम बद्धता है। बहुत सी विशेषताओं का कारण तो केवल वंशानुक्रम ही होता है। इनमें जीनों द्वारा निर्धारित विशेषतायें बिना वातावरण के ही प्रस्फुटित होती है। कुछ विशेषतायें इन दोनों के पारस्परिक सहयोग से प्रस्फुटित होती हैं जिसमें दोनों की शक्ति भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। इसके अतिरिक्त बहुत सी विशेषतायें एक अवस्था में वंशानुक्रम तथा दूसरी में वातावरण के कारण उत्पन्न हो सकती हैं।

बालक का लैंगिक भेद क्रोमोजोम्स के एक विशेष प्रकार के जोड़े पर निर्भर रहता है। स्त्रियों में दोनों क्रोमोजोम्स एक से होते हैं (XX)।

पुरुष में वे भिन्न प्रकार के होते हैं (XY)। गर्भाशय के लिये प्रस्तुत प्रत्येक योनि में एक X रहता है। पुरुष से प्राप्त कुछ स्पर्म[1] में X रहता है और कुछ में Y। यदि X को धारण करने वाले स्पर्म से गर्भाधारण होता है तो संतान बालिका होगी और यदि Y को धारण करने वाले स्पर्म से गर्भाधारण होता है तो संतान बालक होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि पिता ही ऐसा होता है जो अनजाने में यह निश्चित कर देता है कि आने वाली संतान बालक होगा या बालिका।

वह विशेषतायें जो बिलकुल वंशानुक्रम से निश्चित होतीं हैं वह हैं आँखों और बालों के रंग शरीर के अवयवों का रूप तथा इस प्रकार की अन्य शारीरिक विशेषतायें। तन्दुरुस्ती, ओज, स्वभाव व्यवहारों की विशेषता रोगों से ग्रसित या मुक्त होने की क्षमता, चमड़े का रंग, दुर्बल या सबल होना, यह सब वंशानुक्रम तथा वातावरण दोनों के सहयोग से उत्पन्न होते हैं या वंशानुक्रम से कम पर वातावरण से अधिक प्रभावित होते हैं। बालक में अपराध प्रवृत्ति एक पूर्ण पैतृक संपत्ति के रूप में कभी भी नहीं प्राप्त होती फिर भी वंशानुक्रम से जीवन की एक प्रणाली तो निश्चित हो ही जाती है जिससे बालक को समाज के अनुरूप या विरुद्ध होने में उत्तेजना प्राप्त होती है। बहुत से व्यक्ति वातावरण के दूषित होने से ही अपराधी वृत्ति के नहीं होते किन्तु अपनी आन्तरिक संवेगात्मक अस्थिरता[2] के कारण ऐसे हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप वे जीवन की वास्तविकता से सफलता पूर्वक अभियोजन करने में असफल होते हैं बहुत से रोग जैसे तपेदिक इत्यादि वंशानुक्रम तथा वातावरण दोनों पर निर्भर होते हैं। व्यक्ति इन रोगों से शीघ्र प्रभावित होने की क्षमता लेकर पैदा होता है। पर यदि वातावरण अच्छा हुआ तो क्षमता होते हुये भी रोग नहीं उत्पन्न हो पाता। यदि वातावरण अच्छा न हुआ तो इस रोग की क्षमता के कारण इस व्यक्ति को दूसरों की अपेक्षा रोग शीघ्र उत्पन्न हो जाता है।

1—Sperm. 2—Emotional Instability.

वंशानुक्रम के कुछ प्रचलित सिद्धान्त

वंशानुक्रम से सबसे सरल तात्पर्य यह समझा जाता है कि "जैसा बीज वैसा वृक्ष" यानी जैसे माता-पिता वैसी ही संतान। इसका पूर्ण रूप से कारण निर्धारित करने के लिये बीजमैन[1] ने कोषाणुओं की अनवरतता[2] का सिद्धान्त निकाला। इस सिद्धान्त के अनुसार गर्भाधारण के बाद कोषाणुओं की संख्या बढ़ने लगती है और इसी के फलस्वरूप बच्चे के शरीर का निर्माण होता है। इनमें से कुछ कोषाणु पुनरुत्पादन[3] के होते हैं जो शरीर निर्माण कार्य से विलग रहते हैं तथा दूसरी पीढ़ी को ज्यों के त्यों प्राप्त हो जाते हैं। बीजमैन के इस सिद्धान्त के अनुसार माता बालक के उत्पन्न करने वाले नहीं वरन् केवल उन कोषाणुओं के संरक्षक हैं जो उन्हें अपने पूर्वजों से प्राप्त हुये हैं तथा जिन्हें वे आगे आने वाली पीढ़ी को दे देते हैं। इस सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिये कई कुलों के व्यक्तियों की दशा का अध्ययन किया गया। उदाहरण के लिये वेजवुड़-डारविन-गाल्टन[4] कुल के व्यक्तियों का अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि इस कुल के सभी व्यक्ति प्रत्येक पीढ़ी में लब्धप्रतिष्ठ रहे हैं तथा ऊँचे पदों पर कार्य किया है। इसके विपरीत ज्यूक्स[5] के कुल के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि इस कुल में चोर, डाकू, आवारा तथा मन्द बुद्धि ही के लोग पैदा होते रहे।

१—बीजमैन का कोषाणु का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिये कालीकाक[6] नाम के एक सिपाही के कुल का अध्ययन किया गया। इस सिपाही ने एक चरित्रहीन स्त्री से विवाह किया। फलस्वरूप इसके संतान सर्व प्रकार चरित्र हीन पाये गये। इसी व्यक्ति ने जब एक धार्मिक स्त्री से विवाह किया तो इसके संतान लगातार कई पीढ़ियों तक अच्छे पाये गये।

1—Weissmann. 2—Continuity of Germ plasm. 3—Reproductive. 4—Wedgewood-Darwin-Galton. 5—Jukes. 6—Kallikak

वंशानुक्रम के बारे में जो हम ऊपर पढ़ आये हैं उसके आधार पर यह सिद्धान्त सर्वथा मान्य नहीं है। हमने देखा कि किस प्रकार 'जीन' प्रभावित होते तथा सहयोग से विकसित होते हैं। ऐसी दशा में यह कहना कि बालक के निर्माण की अवस्था में कोषाणु अप्रभावित तथा विलग रहते हैं असंभव प्रतीत होता है। साथ ही साथ यदि संसार के कई कुलों का वैज्ञानिक ढंग पर अध्ययन किया जाय तो उपरोक्त वीज़-मैन का सिद्धान्त अपर्याप्त सिद्ध होगा।

मेन्डेल के सिद्धान्त के प्रतिपादित होने के पूर्व ही सृष्टि के विकास के दो सिद्धान्त प्रचलित थे इनमें से प्रथम सिद्धान्त लैमार्क[1] का था।

२—सृष्टि विकास के सिद्धान्त

लैमार्क का कथन था कि संसार की उत्तेजनाओं के प्रति प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप व्यक्ति में कुछ परिवर्तन होता है और यह परिवर्तन कुछ सीमा तक आने वाली पीढ़ी को भी प्राप्त होता है। लगातार परिवर्तन के प्राप्त होने से कुछ पीढ़ियों के बाद जीव एक नवीन रूप में दृष्टिगोचर होता है। इस सिद्धान्त को लैमार्क ने कुछ पक्षियों जान-वरों में होने वाले परिवर्तनों को देख कर प्रतिपादित किया था। दूसरा सिद्धान्त डारविन[2] का था जो प्राकृतिक चुनाव[3] के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आने वाली पीढ़ियों में जो परिवर्तन पाया जाता है वह इस कारण है कि इस संसार में जीव का विरोधी वाता-वरण है। जीव का इस विरोधी वातावरण से जीव के लिये लगातार संघर्ष होता रहता है। इस संघर्ष के फलस्वरूप दुर्बल जीव नष्ट हो जाता है और सबल जीव अपने में वातावरण के अनुकूल परिवर्तन करके अपना अस्तित्व कायम रखता है। नष्ट जीवों की विशेषताओं को आने वाली पीढ़ी नहीं प्राप्त करती। वह केवल सबल जीवों की विशेष-ताओं की उत्तराधिकारी होती है। यह प्राकृतिक चुनाव का कार्य लगातार एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी में होता रहता है।

1— Lamarck. 2— Darwin. 3— Natural Selection.

लैमार्क का सिद्धान्त बहुत से जीव और वनस्पति विशारदों को मान्य नहीं है क्योंकि उसका कथन है कि जीव के उस जीवन काल में सीखे हुये गुणों को आने वाली पीढ़ी नहीं प्राप्त करती। डारविन के सिद्धान्त में जो सबसे बड़ा दोष पाया जाता वह यह है कि यदि सबल जीव को आगे आने वाली पीढ़ी में एक औसत जीव से वंश प्राप्त करने का अवसर मिला तो फलस्वरूप संतान औसत होगी और इस कार्य के लगातार एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी से होने में कुछ ही पीढ़ी में यह जात समाप्त हो जायगी।

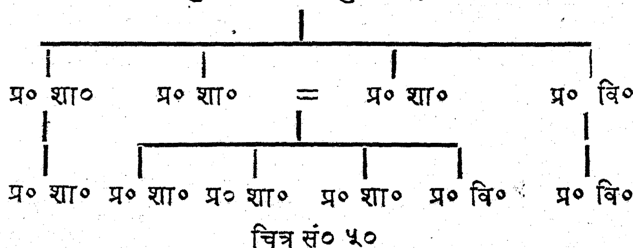
मेन्डेल एक जेकोस्लोवाकियन साधू था जिसने अपने प्रयोगों द्वारा डारविन के सृष्टि-विकास के सिद्धान्त पर एक नवीन प्रकाश डाला है।

३—मेन्डेल का सिद्धान्त[1]

मेन्डेल ने सर्व प्रथम अपने प्रयोगों को अपने बाग के मटर के पौधों पर किया। मटर के पौधों पर प्रयोग करने में उसे विशेष सुविधा थी क्योंकि एक तो वह थोड़े ही समय में कई पीढ़ियों के विकास का अवलोकन कर सकता था। दूसरे मटर के पौधे अपने से ही सुगमता पूर्वक गर्भित किये जा सकते हैं। मेन्डेल ने मटर के एक लम्बे बीज की और एक छोटे बीज को एक साथ गर्भित कराया। इसका फल यह नहीं हुआ कि एक औसत दर्जे की मटर पैदा हो जैसा कि डारविन का कथन था। मेन्डेल के प्रयोग में प्रथम पीढ़ी में सभी लम्बे मटर पैदा हुये। फिर उन सबों को स्वयं गर्भित कराया गया। इसके फलस्वरूप सभी लम्बे पौदे नहीं हुए। इनमें से तीन लम्बे और एक छोटा हुआ। यह छोटा वाला पौधा विशुद्ध छोटा था और इसकी आने वाली पीढ़ियाँ सभी छोटी हुईं। किन्तु तीन लम्बे में से एक तो विशुद्ध लम्बा होता है जो लगातार पीढ़ियों के बाद लम्बा पौधा पैदा करता है। किन्तु शेष दो विशुद्ध लम्बे नहीं हैं। इनको यदि स्वयं गर्भित कराया जाय तो इनमें

1—Mendelism.

पुनः उपरोक्त अनुपात दृष्टिगोचर होता है यानी तीन लम्बा और एक छोटा। इनकी पीढ़ियों को आगे बढ़ाने पर भी ऊपर वर्णित फल प्राप्त होता है। इससे मेन्डेल ने यह निष्कर्ष निकाला की गर्भाधारण में प्रभुत्वशाली[1] अपनी शक्ति को प्रगट करता है, प्रभुताविहीन[2] प्रभुत्वशाली के सम्मुख पीछे रह जाता है किन्तु आगे आने वाली पीढ़ियों में अपना प्रभाव प्रगट करता है। मटर के पौधों में लम्बा प्रभुत्वशाली माना गया और छोटा प्रभुताविहीन।



चित्र सं० ५०

मेन्डेल का यह सिद्धान्त हमारे वंशानुक्रम के वर्णन से पूर्ण रूप से मेल खाता है। यदि गर्भाधारण के समय माता और पिता दोनों के 'जीन' प्रभुत्वशाली या प्रभुताविहीन हैं तो आने वाली संतान को यह गुण प्राप्त होगा। किन्तु यदि दोनों के जीन विरोधी दिशा में कार्य कर रहे हैं तो जो प्रभुत्वशाली होगा उसका प्रभाव प्रकट होगा। लेकिन प्रभुता विहीन 'जीन' अन्य पीढ़ी को प्राप्त होकर अपना प्रभाव दिखला सकता है।

हम ऊपर कह आये हैं कि विकास की क्षमता जो वंशानुक्रम द्वारा निर्धारित होती है तब तक पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो सकती जब तक उसके लिए समुचित वातावरण न प्राप्त हो। बालक को वंशानुक्रम

1—Dominant. 2—Recessive.

अपने माता पिता से प्राप्त होता है। साथ ही साथ उसका प्रथम वातावरण भी उसे उन्हीं से प्राप्त होता है जो बालक के जीवन के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। सच तो यह है बालक का वातावरण माता के गर्भ से ही प्रारम्भ हो जाता है। इस वातावरण का सबसे पहला प्रभाव बालक की प्रारम्भिक आवश्यकताओं पर पड़ता है। यह आवश्यकतायें (१) बालक के शारीरिक सुख से सम्बन्ध रखती हैं (२) मानसिक सुरक्षा या व्यक्तिगत योग्यता से सम्बन्ध रखती हैं या (३) समाज में आदर पाने या उसमें दक्षता से अपने कार्य को संपादन करने के सम्बन्ध में होती हैं। इसके साथ ही साथ कुछ और आवश्यकतायें हैं जो इतनी प्रखर और प्रारम्भिक तो नहीं पर कम महत्वपूर्ण नहीं है जैसे खेलने की स्वच्छन्दता तथा अपने अभिप्राय पूर्ण कार्य को सम्पादन करने की प्रवृत्ति। साथ ही साथ बालक में अच्छे बुरे का ज्ञान भी उत्पन्न होता है तथा बहुत से कार्य और रुचियों से एकीकरण होता है जिसके द्वारा बालक अपने को समाज के उपयुक्त बना सके।

वातावरण

सभी जीवधारी के बच्चों में मनुष्य का बच्चा ही सबसे अधिक निःसहाय तथा निराश्रित होता है यदि उसे जीवित रहना है तो उसे गृह और कुटुम्बियों पर निर्भर रहना पड़ेगा। इस प्रकार संसार की विनाशकारी शक्तियों के मुकाबिले में बच्चे के लिए गृह एक मात्र रक्षा का उपाय है तथा जीवन की उन आवश्यकताओं से समायोजित[२] करने का माध्यम है जिनको बालक में स्वतः साधने की क्षमता नहीं है। उचित गृह बच्चे को जीवित रखने तथा उसे प्रत्येक प्रकार सुरक्षित रखने का प्रबन्ध करता है।

१—गृह[१]

बच्चे के निकट सम्बन्धी उसे सहारा देने या उसे दलित करने और उसकी आत्म सम्मान की भावना को ठेस पहुँचाने की क्षमता रखते हैं।

1—Home. 2—Adjust.

यदि बच्चे के गृह का वातावरण ऐसा हुआ जिसके द्वारा बालक में आत्म सम्मान की भावना स्थिर हो सकती है तो बालक के व्यक्तित्व का समुचित विकास होगा। ऐसी अवस्था में उसकी कम से कम संवेगात्मक अव्यवस्था और अस्थिरता होती है तथा वह सदैव अपने कुटुम्बियों का सहयोग करने को प्रस्तुत रहता है। किन्तु इसके विपरीत यदि गृह का वातावरण ऐसा न हुआ जिससे उसको पूर्ण प्यार प्राप्त हो सके या उसके आत्म-सम्मान की भावना की उचित रक्षा हो सके तो वह अपने को संसार से समायोजित करने तथा आवश्यकताओं को पूरी करने के अन्य साधन निकालता है जिसे समाज अधिकतर अनुपयोगी और अवांछनीय समझता है।

ज्यों ज्यों बालक का विकास होता है त्यों त्यों उसके वातावरण का क्षेत्र विस्तृत होता है। माता पिता तथा कुटुम्बियों के संपर्क से निकल कर वह पड़ोसियों और साथियों के संपर्क में आता है। ज्यों ज्यों बालक का क्षेत्र विस्तृत होता है त्यों त्यों उसकी अपने व्यवहारों द्वारा समाज से अनुमोदित तथा प्रशंसित होने की इच्छा बढ़ती जाती है। समाज के संपर्क में बालक की पूर्णाङ्गता उसके और समाज के बीच के व्यवहारों के आदान प्रदान पर निर्भर होती है। बालक यदि केवल अपने आत्म-सम्मान से समाज से सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। तो यह संभव नहीं होता क्योंकि ऐसे व्यक्ति के प्रति लोग उदासीन हो जाते हैं। इस प्रकार बालक का सामाजिक समायोजन उसी सीमा तक हो सकता है जहाँ तक वह दूसरों के अधिकारों और भावनाओं का भी समुचित आदर करता हो। गृह के आन्तरिक क्षेत्र ही में बालक एक दूसरे को ग्रहण करने का स्वभाव डालता है जिसके होने से ही विस्तृत समाज में वह दूसरे मनुष्यों के प्रति अपना झुकाव या रुचि प्रकट करता है। उसके सामाजिक दृष्टिकोण की नींव भी उसके गृह के वातावरण ही में पड़ती है। उचित गृह व्यवस्था से सामाजिक व्यवहार की नींव दृढ़ होती है, और सामाजिक विकास का आधार निश्चित होता है। किसी व्यक्ति का

सामाजिक रीतियों और रूढ़ियों के प्रति भाव, नैतिक, धार्मिक और राजनैतिक विश्वास इत्यादि का प्रादुर्भाव उसके बालपन के कुछ वर्ष में होता है जो वह अपने गृह के वातावरण में बिताता है। बालक की रुचि या घृणा, विश्वास या अविश्वास, उसका पक्षपात या उत्कृष्टता—यह सब गृह के वातावरण के फल होते हैं जिनका अनुभव उसने अपनी प्रारंभिक अवस्था में किया है।

अच्छा गृह वातावरण

निमकॉफ ने एक अच्छे गृह का वर्णन करते हुये कहा है कि अच्छा गृह वह है (१) जिसमें बालक के माता पिता दोनों हों। यदि माता या पिता दोनों में से किसी की मृत्यु हो गई है या उनमें से कोई विदेश में रहता है तो इस अभाव का प्रभाव बालक के व्यक्तित्व निर्माण पर पड़ता है। (२) माता पिता का आपस में प्यार होना चाहिये। कलह के वातावरण से बालक क्षुब्ध रहता है तथा इस कलह का उसके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ता है। (३) माता तथा पिता समुचित रूप से बालक को प्यार करते हों। एक से भी प्रेम पाने में निराश होने पर बालक में कुछ विचित्रता आने की आशंका हो जाती है। वह प्यार शुद्ध हो, दिखावटी नहीं। (४) माता तथा पिता ऐसे हों जो बालक की रुचियों और क्षमताओं को पूर्ण रूप से समझते हों अन्यथा उससे ऐसी आशा करने पर जो वह कर नहीं सकता या जिसमें उसकी रुचि नहीं है बालक को असफलता होगी जिसमें उसमें हीनता के भाव उत्पन्न होने की आशंका हो सकती है। (५) माता पिता ऐसे हों जो बालक की उचित आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये जो कुछ भी कर सकते हों करें। ऐसी दशा में बालक का विकास समुचित रूप से हो सकता है।

माता पिता तथा बालक में आदर्श सम्बन्ध स्थापित करने के लिए निम्न बातें अत्यन्त आवश्यक हैं। (१) मिलजुल कर काम करना (२) एक दूसरे की रुचियों का ध्यान रखना (३) बालक को स्वतः प्रयत्न करने का अवसर देना (४) आत्म विश्वास पैदा करना तथा दृढ़ करना। माता

पिता का निम्न प्रकार का व्यवहार अवांछनीय कहा जा सकता है। (१) बालक के प्रति घृणा का होना। (२) माता या पिता का अत्यन्त प्रभुत्व-पूर्ण व्यवहार। (३) माता पिता का अत्यन्त हीनता का व्यवहार। (४) बालक के प्रति आवश्यकता से अधिक प्रेम प्रदर्शित करना। (५) माता पिता में स्वयं रगड़-झगड़ होना। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य बातें जैसे (१) माता पिता का अपनी इच्छाओं का बालक द्वारा पूर्ण होने का स्वप्न देखना (२) किसी एक लिंग के बालक के प्रति प्रेम का होना और दूसरे के प्रति न होना (३) माता या पिता का बालक से डाह करना—इत्यादि बातें भी माता पिता तथा बालक के बीच आदर्श सम्बन्ध-स्थापित करने में अड़चन डालती हैं।

२—कुटुम्ब में बालक का स्थान तथा उसका प्रभाव

विगत वर्षों में लोगों की रुचि इस प्रश्न में अधिक हो गई है कि बालक के कुटुम्ब में स्थान का उसके व्यवहार तथा व्यक्तित्व विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है। मनोविज्ञान के विद्यार्थी इस बात का फल जानने के उत्सुक हैं कि प्रथम संतान या बीच की संतान या अंतिम सन्तान होने का क्या फल होता है। इस प्रश्न पर विचार करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि बालक का कुटुम्ब में स्थान, बालक के प्रति कुटुम्ब के लोगों के बहुत से व्यवहारों में से केवल एक तथ्य है और दो बालकों का, चाहे जुड़वाँ क्यों न हों एक कुटुम्ब में पाले जाने पर भी एक वातावरण नहीं रहता। कुटुम्ब में बालक का प्रभाव उसके प्रति माता पिता की रुचि तथा उसके भाई बहनों का व्यवहार, उसका आवश्यकता से अधिक दूसरों के सहारे रहना या घृणा की दृष्टि से देखा जाना या इस प्रकार के और दुर्व्यवहारों का जाने या अनजाने में शिकार होना—इत्यादि बातों पर पड़ता है। इन दुर्व्यवहारों का प्रभाव बालक के व्यवहारों को अस्वाभाविक बनाने में यों भी अधिक पड़ सकता है, बालक का कुटुम्ब में स्थान चाहे जो हो। यह कहना कि

कुटुम्ब में बालक का स्थान ही बालक के व्यवहारों का निर्णायक है ठीक नहीं क्योंकि ऐसा करने से हम बालक के प्रति व्यवहारों के कारण-कार्य के सम्बन्ध को उचित महत्व नहीं देते।

कुटुम्ब के बाद बालक के विकास में स्कूल का अधिक महत्व है। यह सत्य है कि बालक का व्यक्तित्व अधिकांशतः उसके प्रथम ६ वर्षों में निर्मित हो जाता है और इस अवस्था में उसकी जो रुचि या प्रतिक्रिया का ढंग बन जाता है उन्हीं को वह वाह्य जगत में प्रयोग करता है। अध्यापक को वह अपने माता-पिता का प्रतिरूप पाता है और माता पिता के प्रति अपनी प्रतिक्रिया को अध्यापक के प्रति भी लागू कर सकता है। कुटुम्ब में भाई बहन का साथ स्कूल में साथियों के प्रति रूपान्तरित हो जाता है और इस प्रकार बालक में स्पर्द्धा प्रतियोगिता तथा जलन के भाव उत्पन्न हो जाते हैं।

२—स्कूल

स्कूल बालक को अपने कुटुम्ब में प्रतिक्रियाओं की पुनरावृत्ति करने का ही अवसर नहीं देता साथ ही साथ अपने नए नए नियम, प्रतिबन्ध इत्यादि लगाता है जिनके कारण बालक को नई संस्थाओं का सामना करना पड़ता है तथा जिनका बालक के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान होता है।

स्कूल की प्रथा कठोर हो सकती है जिसमें सभी वस्तुएँ एक निश्चित कार्य-क्रम, अनुशासन तथा देख रेख के साथ होती हैं ऐसे स्कूलों में अध्यापकों के प्रति भी कठोरता का व्यवहार होता है जिसके फलस्वरूप अध्यापक भी बालकों के प्रति अपना वैसा ही व्यवहार बना लेते हैं। इन सब का फल यह होता है कि बालकों के स्वभाव में स्वतन्त्रता का पूर्ण अभाव हो जाता है। बहुत सी खोजों से यह ज्ञात होता है कि स्कूल का वातावरण अधिकांशतः बालक समाज के प्रति अपने भाव को निर्धारित कर देता है, विशेषकर बालक के प्रथम कुछ वर्ष जैसे ५ से १२।

स्कूल की परीक्षाओं में असफल होने पर बालकों को अत्यधिक मानसिक क्षोभ होता है। बहुत से खोजों से यह ज्ञात हुआ कि परीक्षा में एक से अधिक बार असफल हुए विद्यार्थियों के बारे में अध्यापक तथा उनके साथियों दोनों की यही राय होती है कि ऐसे विद्यार्थियों का व्यक्तित्व अवांछनीय है, उनमें साख्य भाव की कमी होती है, बहुधा वे निर्दयी, स्वार्थी, घमंडी तथा दुखी होते हैं।

बालक के व्यक्तित्व के विकास में अध्यापक के व्यक्तित्व का कभी कभी महत्वपूर्ण भाग होता है। स्कूल की कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जो वाह्य परिस्थितियों से भिन्न नहीं होती। ऐसी स्कूल की परिस्थितियों के प्रति अपने भाव तथा प्रतिक्रिया को बालक जीवन की परिस्थितियों में भी लागू करता है जिनका सामना उसे आगे चलकर करना पड़ता है। इन परिस्थितियों के अतिरिक्त बालक को पुस्तकों से जो तथ्य तथा विचार प्राप्त होते हैं उनका भी भावी जीवन की परिस्थितियों के प्रति भाव निर्धारित करने में प्रभाव पड़ता है। पाठ्य पुस्तकों में जिन विचारों का प्रतिपादन होता है वे समाज से स्वीकृत तथा उसके अनुरूप होते हैं। इस प्रकार स्कूल एक प्रकार से समाज से प्रचलित विचारों के प्रतिपादन करने का साधन भी होता है।

४—संस्कृति[1] का बालक के विकास पर प्रभाव

गृह के भाँति संस्कृति का भी बालक के विकास पर सूक्ष्म तथा निरन्तर प्रभाव पड़ा रहता है। हिन्दू, मुसलमान, चीनी, फ्रान्सीसी होने के नाते बालक के जन्म से ही उससे कुछ करने या कुछ न करने की आशा की जाती है। कभी कभी उन आशाओं का रूप शरीर के अवयवों में परिवर्तन के रूप में प्रगट होता है। जैसे प्राचीन चीन की सभ्यता में स्त्रियों के पैर को छोटा करना या हिन्दुओं में नाक कान इत्यादि का छेदना।

1—Culture.

संस्कृति हमारे शरीर के अवयवों में परिवर्तन ही से नहीं संतुष्ट होती किन्तु हमारे स्वभाव, चरित्र तथा व्यक्तित्व निर्माण में भी अपना छाप लगाती है। ज्यों-ज्यों बालक बढ़ता है, त्यों त्यों संस्कृति उससे कई प्रकार तथा कई अवस्थाओं की आत्मरक्षा की आशा करती है। समाज से सहयोग करके आर्थिक स्वतंत्रता में भाग लेना, या समाज की उन्नति में भाग लेने की आशा करती है। यह स्पष्ट है कि कुटुम्ब में या स्कूल में या समाज में बालक के व्यवहार, विचार, विश्वास इत्यादि का निर्देशन उस संस्कृति द्वारा होता है जिसमें बालक का जन्म होता है तथा जिसमें वह पलता है।

५—आर्थिक-सामाजिक[१] व्यवस्था का बालक के विकास पर प्रभाव

बहुत से खोजों के फलों से यह ज्ञात होता है कि बालक की आर्थिक स्वतंत्रता का उसके शारीरिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। जब कुटुम्ब की आमदनी कम रहती है तो बच्चों को आवश्यकतानुसार स्वास्थ्यवर्धक भोजन नहीं प्राप्त होता है। ऐसे कुटुम्ब में रोग की बहुतायत रहती है। यह ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि कम आमदनी वाले कुटुम्ब के बालकों की दुर्बल शारीरिक व्यवस्था केवल भोजन, मकान या डाक्टरों की व्यवस्था न होने के कारण ही नहीं होती। कुछ बालकों के माता पिता स्वयं स्वास्थ्यवर्धक भोजन, के अभाव में रुग्ण रहते हैं तथा उनमें उत्साह और आकांक्षा की कमी होती है जिससे वे अपनी परिस्थिति का सुधार नहीं कर पाते। बहुत से लोग सामाजिक तथा आर्थिक शोषण के शिकार होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कम आमदनी वाले कुटुम्ब के बालकों की शारीरिक दुर्बलता की अवस्था कई कारणों से होती हैं जिनमें से कुछ वंश परम्परा से प्राप्त होती हैं या कुछ वातावरण से प्रभावित होती हैं।

1—Socio-economic.

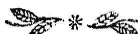
बालकों की आर्थिक और सामाजिक अवस्था का उनके संवेगात्मक तथा सामाजिक विकास पर भी प्रभाव पड़ता है। टूटे फूटे तथा लोगों से भरे हुए गृह, अल्पवस्त्र या इस प्रकार की अन्य हीनता द्योतक अवस्थाएँ बालकों पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाती हैं। उनमें उस पूर्णता के भाव का अभाव रहता है जो उन बालकों में होता है जिनके मकान, कपड़े रहने सहने के ढंग इत्यादि ऐसे हैं कि जिन पर उन्हें गर्व होता है या जो अपने पिता को उनके कार्य में "सफल" समझते हैं। गंदे तथा भीड़ भाड़ युक्त गृहों में सफाई की आदतों को प्राप्त करना कठिन होता है। ऐसे गृह में जहाँ किसी बालक के पास कुछ नहीं रहता धन के अधिकार के प्रति कोई श्रद्धा नहीं रहती।

उसके विपरीत धनी या ऊँचे घराने के बालकों पर समाज का अधिक दबाव रहता है। मध्य तथा ऊँचे वर्ग के बालकों से जन्म से ही जीवन में सफल होने की आशा की जाती है। इस प्रकार उनमें दूर के लक्ष्य की वस्तुओं के प्राप्त न होने का भी भय उत्पन्न हो जाता है। निर्धन वर्ग के बालकों को इस प्रकार की सफलता होने की आकांक्षा कम होती है और इसलिए उनमें सफलता न प्राप्त होने का भय भी नहीं रहता।

वंशानुक्रम और वातावरण

जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं यह निश्चित करना बड़ा कठिन है कि किसी व्यक्ति के निर्माण में कितना भाग वंशानुक्रम का है और कितना वातावरण का। कोई व्यक्ति बिना माता पिता के या वंशानुक्रम के कुछ होता नहीं और न कोई व्यक्ति बिना वातावरण के विकसित होता है। जब हम वंशानुक्रम या वातावरण का नाम लेते हैं तो उससे हमारा यही तात्पर्य होता है कि दोनों के प्रभावों का हम बहुत थोड़ी सी भविष्यवाणी कर सकते हैं। जैसे यदि कोई व्यक्ति उत्तर प्रदेश की वातावरण में पला है तो हम कह सकते हैं कि वह हिन्दी (या हिन्दुस्तानी) भाषा बोलेगा। किन्तु इससे यह कभी नहीं कहा जा सकता की

वह व्यक्ति भी जो किसी कारण बोलने में असमर्थ है हिन्दी बोलेगा या किसी बङ्गाली घराने में पला हुआ बालक भी हिन्दी ही बोलेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा, वंशानुक्रम तथा भाषा के वातावरण दोनों पर निर्भर है। यदि हम किसी खान्दान को विस्तार पूर्वक जानते हैं तो हम बता सकते हैं कि इस खान्दान के लोगों में वे विचित्रतायें या गुण होंगे जो प्रायः उनमें पाये जाते हैं। इस प्रकार यह प्रकट हुआ कि वंशानुक्रम और वातावरण एक दूसरे के विरोधी नहीं होते। अधिक से अधिक यह होता है कि वंशानुक्रम से किसी व्यक्ति के विकास की सीमा और क्षमता निर्धारित हो जाती है जो अनुकूल वातावरण पाकर प्रस्फुटित होती है।



अध्याय—१७

चेतना का स्वरूप

मानव जीवन की अन्तरतम अनुभूतियों का स्पष्टीकरण मनोविज्ञान की एक प्रमुख समस्या है। मनुष्य का वाह्य व्यवहार उसकी अन्तरतम की स्थितियों के अनुसार चलता है। अन्तर्जगत की ये स्थितियाँ इतनी सूक्ष्म होती हैं कि मनुष्य को इनका पूर्ण रूप से ज्ञान नहीं रहता। यही कारण है कि मनुष्य अपने प्रत्येक कार्यों का सही कारण नहीं जान पाता। मनोविज्ञान चेतना और व्यवहार का विज्ञान है। व्यवहार के रूप को समझना चेतना के स्वरूप के समझने से अधिक सरल है। इसका मुख्य कारण यह है कि चेतना का निश्चित स्वरूप बतलाना संभव नहीं। इसका केवल वर्णन या विश्लेषण किया जा सकता है। इस दृष्टि से चेतना पदार्थ के समान है। पदार्थ के सूक्ष्मतम रूप की व्याख्या करना उतना ही कठिन है जितना कि चेतना के सूक्ष्मतम रूप को जानना। फिर भी दोनों का दूसरे से निकटतम संबंध है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने मन के सूक्ष्मतम स्तर को जानने का प्रयत्न किया है। इन खोजों के परिणाम स्वरूप मनोविज्ञान के क्षेत्र में आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। इन खोजों के आधार पर 'मनोविश्लेषण' का अपना एक नया सिद्धान्त बन गया है। इस सिद्धान्त की उन्नति का श्रेय अधिकतर सिगमण्ड फ्रायड को दिया जाता है जिन्होंने अपने अनुभव के आधार पर यह निश्चित किया कि मनुष्य की मानसिक बीमारियों की चिकित्सा किसी वाह्य उपकरण के द्वारा नहीं की जा सकती, इसका

वास्तविक उपचार रोगी की मनःस्थिति को समझने के पश्चात ही हो सकता है। फ्रायड मानसिक बीमारियों की चिकित्सा-विधि को समझने के लिए फ्रांस के एक प्रसिद्ध मानसिक-रोग-चिकित्सक कूए के पास गये। कूए निर्देश[1] विधि के द्वारा रोगियों को अच्छा करते थे। निर्देश विधि में रोगी एक प्रकार से अचेतन अवस्था में पहुँच जाता है तथा उसे अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं रहता। विचार-शून्य अवस्था में यह निर्देश किया जाता है कि रोगी ने स्वास्थ्य लाभ कर लिया है। इस प्रकार के संकल्प का अभ्यास करने से रोगी स्वास्थ्य लाभ कर लेते हैं। परन्तु फ्रायड ने बाद में यह अनुभव किया कि यह विधि ठीक नहीं है, क्योंकि कुछ काल के बाद रोगी फिर अपनी पुरानी दशा में पहुँच जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि रोग समूल नष्ट नहीं हुआ था। इसका पता लगाने पर फ्रायड को यह ज्ञात हुआ कि रोगी की भावनायें जो उसके रोग का कारण हैं समूल नष्ट नहीं होती। कूए की निर्देश विधि में वे निर्देशक के प्रबल विचारों के कारण दब जाती हैं, बाद में अवसर मिलने पर फिर से अपना प्रभाव दिखाती हैं। फ्रायड ने मनोविश्लेषण के सिद्धान्त द्वारा उन दबी हुई भावनाओं के बारे में जानने का प्रयत्न किया। रोग के कारण रूप भावनाओं को समझने पर ही उसको समूल नष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार फ्रायड ने एक नये सिद्धान्त को प्रयोग में लाकर रोग के वास्तविक कारण को जानने का पूर्ण प्रयत्न किया।

चेतना का विश्लेषण[2]—चेतना के स्वरूप को समझने के लिए उसके विभिन्न रूपों को जानने की परम आवश्यकता है। इन विभिन्न भागों को एक दूसरे से अलग नहीं मानना चाहिए, परन्तु एक ही रूप के कई दृष्टिकोण के आधार पर समझना चाहिए। इनका रूप केवल विश्लेषणात्मक अध्ययन के हेतु ही अलग-अलग है। इस प्रकार चेतना के तीन मुख्य रूप हैं—प्रज्ञा[3], भावना[4], संकल्पशक्ति का प्रयत्न[5]। प्रज्ञा

1—Suggestion. 2—Analysis of Consciousness. 3—Cognition. 4—Affection. 5—Conation.

चेतना का जानने का स्वरूप है। इसके अन्तर्गत स्मृति, प्रत्यक्षीकरण, कल्पना, तर्क और बुद्धि आते हैं। भावना चेतना के अनुभव का स्वरूप है जिसके अन्तर्गत सुख और दुख की भावना तथा स्वभाव आदि आते हैं। संकल्पशक्ति चेतना का प्रयत्न करने का स्वरूप है। इसके अन्तर्गत जैविक आवश्यकतायें स्वाभाविक इच्छायें या ईहायें[1], इच्छा, अवरोध या नियंत्रण और चरित्र आते हैं। इस विभाग के विषय में लोगों में मतभेद है। अधिकांश मनोवैज्ञानिक इस बात पर सहमत हैं कि प्रज्ञा चेतना में संवेदना मुख्य तत्त्व है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार सारी चेतना संवेदना के रूप में हो सकती है।

चेतना कोई ऐसी अवस्था नहीं है जिसका विश्लेषण उपरिलिखित तत्त्वों के रूप में किया जाय, परन्तु इसकी अपनी एक विधि है। विलियम जेम्स के अनुसार चेतना का रूप 'चेतना की धारा'[2] के समान है। इससे यह ज्ञात होता है कि यह गतिशील विधि है। लेकिन जेम्स ने स्वयं इस बात का निर्देश किया है कि पर एक ऐसी धारा नहीं है जो कि बराबर समान रूप से बहती रहे। इसमें कभी-कभी परिवर्तन भी होते रहते हैं। कभी इसका वेग तीव्र और कभी धीमा हो जाता है। चेतना की इस धारा का सम्बन्ध नाड़ियों की क्रियाओं की धारा से है। इस प्रकार चेतना की इस धारा में नाड़ियों की क्रियाओं के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं।

कुछ लोग चेतना को एक पूर्ण तत्त्व के रूप में मानते हैं। परन्तु इसके अर्थ को व्यापक रूप में लेना चाहिए। चेतना की एकता का सम्बन्ध स्नायु मंडल की एकता और समन्वय से है। स्नायु मंडल की एकता या समन्वय पूर्ण रूप से नहीं है। नाड़ियों के कुछ सम्बन्ध अपने स्वभाव के कारण हैं। उनके संबन्ध आन्तरिक और प्राप्त किये हुये हैं। लेकिन उनमें से बहुत अनुभव के कारण हैं जो शरीराङ्गों के जीवन काल में

1—Drives. 2—Stream of Consciousness.

ही प्राप्त हो जाते हैं। बाद के कुछ संबन्ध आसानी से टूट जाते हैं। इसी प्रकार चेतना भी एकत्वरूप धारण करती है; परन्तु उसकी यह एकता कभी पूर्ण रूप में नहीं होती। उसके संबन्ध बाद में कमजोर पड़ जाते हैं। फलस्वरूप चेतना का रूप अधिकतर बिखरा हुआ मिलता है।

चेतना की एकता के साथ-साथ वैयक्तिक समानता[१] की समस्या पर भी विचार करने की आवश्यकता है। भिन्न-भिन्न समय में व्यक्ति अपनी समानता को नहीं भूलता। सुषुप्ति अवस्था के बाद भी उसे अपनी पूर्व की स्थिति का मान रहता है तथा उसे अपनी सत्ता का पूर्ण ज्ञान रहता है। इस प्रकार के ज्ञान के दो मुख्य कारण हैं। (१) आवयविक संवेदनायें,[२] जो कि चेतन जीवन में बराबर बनी रहती है; एक ऐसी पृष्ठभूमि बनायी हैं जो कि चेतन क्षणों में अपना स्थायी रूप बनाये रखती है। (२) वैयक्तिक समानता में दूसरी बात स्मृति है। स्मृति के आधार पर ही व्यक्ति अपने पूर्व अनुभवों को बनाये रखने में समर्थ होता है। स्मृति वास्तव में स्नायुमंडल के स्वभाव पर निर्भर रहती है।

चेतना और स्नायु मंडल की कार्य विधि का आधार साहचर्य है। साहचर्य का अर्थ है कई वस्तुओं का मिलान या सम्बन्ध। इसके अन्तर्गत अनुभव के आधार पर सभी संबन्ध आ जाते हैं। साहचर्य का मनोवैज्ञानिक आधार इस प्रकार कहा जा सकता है। यदि दो या उससे अधिक अनुभव एक साथ होते हैं तो वे एक दूसरे से मिलने का प्रयत्न करते हैं, इस प्रकार एक के होने पर सभी का रूप सामने आ सकता है। वास्तव में साहचर्य का वास्तविक स्वरूप अभी तक नहीं जाना जा सका है लेकिन इन संबन्धों के बाह्यरूप को समझना सबसे सरल है।

साहचर्य[३]

प्राचीन मनोविज्ञान में साहचर्य का अर्थ केवल दो विचारों के सम्बन्ध से लेते थे। परन्तु अब इसका प्रयोग अधिक व्यापक रूप में होने लगा

1—Personal identity. 2—Organic sensations. 3—Association.

है। किसी भी अनुभव या विधि के सम्बन्धों को साहचर्य कहा जा सकता है। परम्परागत मनोविज्ञान में इसका रूप केवल विचारों के संबन्ध में ही है। इस प्रकार विचार एक दूसरे के पीछे चलते हैं। इसको 'शब्द-साहचर्य' परीक्षा के द्वारा समझा जा सकता है। 'कुर्सी' शब्द के पीछे 'मेज़' 'बिल्ली' के पीछे 'चूहा', 'लड़का' शब्द के पीछे 'लड़की' आदि रूपों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इन शब्दों का एक दूसरे के साथ पहले अनुभव किया जा चुका है, इसलिए एक शब्द के कहने पर तुरन्त उसी के अनुरूप दूसरा शब्द आ जाता है।

अन्य प्रकार के संबंध अनुभव के आधार पर स्थापित किए जा सकते हैं। संवेदनायें अन्य संवेदनाओं से संबंधित रहती हैं। प्रत्यक्षीकरण के अन्तर्गत विचार और अर्थ तथा उत्तेजकों से प्रेरित संवेदनायें आ जाती हैं। फलस्वरूप जो कुछ भी हम अनुभव करते हैं अधिकतर पूर्व अनुभव में बने हुए साहचर्य पर निर्भर रहता है। भावनायें अनुभव के द्वारा संबंधित रहती हैं। उदाहरणार्थ, क्रोध का संबंध दुखद भावना से हो सकता है। इच्छाओं का संबंध विचारों से होता है। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि विचारों में स्वयं इतनी शक्ति नहीं होती कि वे किसी क्रिया को प्रेरित कर सकें। कोई विचार उसी समय क्रिया रूप में परिणत हो सकता है जबकि उसका संबंध पूर्व अनुभव से हो। इसी प्रकार विचारों का संबंध भावनाओं से होता है उत्तेजक या ज्ञानेन्द्रियों पर इसके प्रभाव का संबंध अनुभव के द्वारा प्रतिक्रिया से हो सकता है। इस प्रतिक्रिया को 'सम्बद्ध प्रत्यावर्तन'[१] भी कहते हैं। यह उत्तेजक से प्रेरित अभिसन्धानित प्रतिक्रिया[२] है जो कि साहचर्य के द्वारा अपने मौलिक रूप के स्थान पर होती है। लेकिन इससे भी अधिक जटिल प्रतिक्रियाओं का संबंध जटिल परिस्थितियों या परिस्थितियों के प्रत्यक्षीकरण से हो सकता है। उदाहरणार्थ भय का संबंध किसी अदृष्ट हानि

1—Conditioned Reflex. 2—Reflex response.

पहुँचाने वाली वस्तु से हो सकता है। इस प्रतिक्रियाओं को कभी-कभी 'अभिसन्धानित प्रतिक्रिया'[1] भी कहा जाता है। इस प्रकार सम्बद्धता[2] एक प्रकार का साहचर्यात्मक सीखना है।

मनोवैज्ञानिक आधार पर पृथक्करण चेतन संबंधों का अलग होना है। परिणामस्वरूप चेतन का रूप विघटित हो जाता है। इस प्रकार की असामञ्जस्यता विचारों के प्रवाह में दिखाई पड़ सकती है। उदाहरणार्थ, भावनाओं का विचारों से कोई व्यावहारिक संबंध नहीं हो सकता कभी-कभी व्यक्तिगत चेतना से कुछ विधियाँ बिल्कुल अलग हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, विचारात्मक अनुभवों का भूलने पर अलग हो जाना। इस प्रकार पृथक्करण भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में होता है। साधारण रूप में पृथक्करण के कारण पूर्व अनुभव के संबंध एक दूसरे से अलग हो जाते हैं।

पृथक्करण[3]

चेतना की अवस्थायें

वास्तव में चेतना की विभिन्न अवस्थाओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने अपनी खोजों के परिणामस्वरूप यह निश्चय किया है कि चेतना के तीन मुख्य भाग हो सकते हैं—चेतन मन[4], चेतनोन्मुख[5] और अचेतन[6]। चेतन मन की अवस्था में व्यक्ति की वे सभी क्रियायें आ जाती हैं जिनका उसे ज्ञान रहता है। लिखना, पढ़ना, बोलना, चलना आदि कार्यों का आधार चेतन मन ही है। चेतन मन के अन्तर्गत क्रियाओं का हमें यह आभास रहता है कि 'हम ऐसा कार्य कर रहे हैं।' ऐसे कार्यों का पूरा उत्तरदायित्व हमारे ऊपर रहता है। ठीक होना अथवा गलत होना चेतन मन की अवस्था पर निर्भर रहता है।

1—Conditioned response. 2—Conditioning. 3—Dissociation. 4—Conscious mind. 5—Preconscious. 6—Unconscious.

परन्तु चेतन मन की अवस्थाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी अवस्थायें होती हैं जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। मन के स्तर पर कुछ ऐसी भावनायें, इच्छायें रहती हैं जो कि चेतन मन के स्तर पर आने के लिए उत्सुक रहती हैं। इस प्रकार की अवस्था चेतनोन्मुख कहलाती है। अन्तरतम में स्थित कोई भी विचार प्रकट होने के पहले चेतनोन्मुख मन में आता है। चेतनोन्मुख अवस्था में स्थित किसी विचार को प्रयत्न करने पर जाना जा सकता है। चेतनोन्मुख अवस्था चेतन मन के अधिक निकट रहती है।

अचेतन मन की अवस्था सबसे अधिक सूक्ष्म है। जिन विचारों का सामान्य रूप से प्रकाशन नहीं हो पाता वे अचेतन मन में स्थान पाते हैं। इस अवस्था में स्थित विचारों या भावनाओं का ज्ञान हमें नहीं रहता तथा प्रयत्न करने पर भी उनका ज्ञान प्राप्त करना कठिन है। इस अवस्था में स्थित विचारों को जानने के लिए एक विशेष विधि का प्रयोग करना पड़ता है। इस विधि को मनोविश्लेषण की संज्ञा दी जाती है। सूक्ष्मतम स्तर होने के कारण इसके लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। साधारण रूप से जीवन की प्रत्येक घटना चेतन मन या चेतनोन्मुख अवस्था में न होने पर अचेतन में अपना स्थान बना लेती है।

फ्रायड ने इसकी तुलना एक नाट्यशाला से की है। अचेतन मन की अवस्था नाट्यशाला के उस कमरे के समान है जहाँ पर नाटक के पात्र अपना रूप बनाते हैं। उस कमरे के अन्दर दर्शकगण नहीं जा पाते। यही अवस्था अचेतन मन की है। बाहर के सम्पूर्ण कार्य इसी अचेतन मन के आधार पर ही होते हैं। चेतनोन्मुख अवस्था कमरे और रङ्गमंच के बीच की अवस्वा है। इसी द्वार से होकर पात्र सजकर रङ्गमंच पर आते हैं। अचेतन मन में पड़े हुए विचारों को भी चेतनोन्मुख मन के द्वार से आना पड़ता है। चेतन मन की अवस्था खुले रंगमंच की अवस्था के समान है जहाँ पर आकर पात्र अपना-अपना अभिनय करते हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्ति को उनका पूरा ज्ञान रहता है। जिस प्रकार रंगमंच के

अभिनय को सभी दर्शक देख सकते हैं उसी प्रकार चेतन मन की सभी अवस्थाओं का ज्ञान व्यक्ति को रहता है। हमारे विचार एक बार आने के पश्चात नष्ट नहीं होते। उनको दबाने पर वे अचेतन मन की अवस्था में चले जाते हैं। अचेतन अवस्था में पहुँचकर अपने अनुकूल वातावरण पाने पर फिर से बाहर आ जाते हैं। दमन किये गये विचारों का रूप जब अधिक विकसित हो जाता है तब मनुष्य के विचारों में परिवर्तन होने लगता है। इसीलिए मनुष्य की अनेक मानसिक बीमारियों और बुरे भावों का कारण इन्हीं दबी हुई भावनाओं में होता है। स्वप्न की अवस्था में जो-जो बातें सामने आती हैं उनका आधार अचेतन मन ही रहता है। कारण है कि स्वप्न में कभी-कभी ऐसे विचार आते हैं जिनका प्रतिदिन के जीवन से कोई संबंध नहीं रहता। परन्तु अचेतन मन के भावों का जब ठीक रूप में प्रकाशन नहीं हो पाता तो वे स्वप्न के रूप में बाहर आते हैं। यही कारण है कि फ्रायड ने स्वप्न विज्ञान के अध्ययन पर महत्त्व दिया। फ्रायड के कथनानुसार हम बीमारियों के मूल कारणों का पता स्वप्नों की भाषा को समझकर ही लगा सकते हैं। इस प्रकार स्वप्न-विज्ञान ने इस क्षेत्र में काफी उन्नति की है।

अचेतन मन की भावनायें तथा स्वप्न की अवस्था

ऊपर यह लिखा जा चुका है कि जिन भावों का प्रकाशन बाहर नहीं हो पाता वे स्वप्न के रूप में प्रकट होते हैं। किसी वस्तु को दबाने पर यह आवश्यक है कि वह किसी दूसरे मार्ग को ग्रहण करे। पानी को एक सीमा तक ही दबाया जा सकता है। दबाते-दबाते एक ऐसी अवस्था आ जायेगी जब उसको दबाना कठिन होगा। बहती हुई धारा को रोका नहीं जा सकता। रोकने पर वह अन्य मार्ग ग्रहण कर लेगी। साधारण जीवन में ऐसे बहुत से कार्य होते हैं जो कि चेतन मन को अप्रिय लगते हैं ऐसे भावों को अचेतन मन में ही स्थान मिलता है। अप्रिय होने के कारण चेतन मन उन्हें दबाने का प्रयत्न करता है। फलस्वरूप वे अपना नया मार्ग ढूँढ लेते हैं। अप्रिय भावों को हम भुलाने

की चेष्टा करते हैं। भुलाने की चेष्टा का मुख्य कारण यही है कि व्यक्ति उन भावों के विषय में चेतना होकर बारबार दुखित नहीं होना चाहता। इसीलिए हमारी दबी हुई वासनायें अचेतन मन की अवस्था से निकल-कर स्वप्नों के रूप में प्रकट होती हैं। स्वप्न विज्ञान को फ्रायड ने विशेष महत्व दिया तथा विभिन्न स्वप्नों का ठीक अर्थ समझने तथा उसका व्यक्ति के जीवन से क्या सम्बन्ध है महत्वपूर्ण प्रयत्न किया। दबी हुई भावनायें स्वप्न में गुप्त रूप से प्रकट होती हैं। इसीलिए उनकी भाषा को समझने के लिए सूक्ष्म-दृष्टि चाहिए।

इन गुप्त विचारों का प्रकाशन स्वप्न की अवस्था में होने के कारण उसके वास्तविक तथ्य को समझना इतना सरल नहीं है। चेतन मन तथा अचेतन मन की अवस्थाओं के बीच एक प्रतिबन्धक[1] रहता है। इस प्रतिबन्धक का रूप उसकी नैतिक धारणाओं के आधार पर बनता है। यह प्रतिबन्धक चेतन मन पर आने वाली भावनाओं को देखता रहता है। यही कारण है कि कोई अनुचित भावना चेतन मन के स्तर पर नहीं आ पाती। आने का प्रयास होने पर भी वह फिर से दब जाती है। वास्तव में किसी भावना को दबाने का कार्य इसी प्रतिबन्धक के द्वारा होता रहता है? व्यक्ति को सदैव इसका ज्ञान नहीं रहता। यही कारण है कि व्यक्ति स्वयं अपने गुप्त भावों को सदैव जानने में असमर्थ रहता है। कभी-कभी व्यक्ति को कोई ऐसी आदत पड़ जाती है जिसका कारण उसका चेतन मन नहीं जानता। परन्तु वह आदत निराधार नहीं होती। अचेतन मन में उसका कोई न कोई कारण स्पष्ट रहता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति स्वयं अपने वास्तविक रूप को नहीं जान पाता। ऐसी परि-स्थिति में उसके अन्दर ऐसे अनेक भावों का प्रकाशन होता रहता है जिनके विषय में उसे किंचित मात्र भी ज्ञान नहीं रहता।

स्वप्नों के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए वाह्य जीवन के कार्यों का पूर्ण ज्ञान रहना आवश्यक है। दूसरे रूप में यह भी कहा जा सकता

1— Censor.

है कि स्वप्नों के द्वारा हम ऐसी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं जो कि वास्तविक जगत में पूर्ण नहीं हो सकती। ऐसे भावों का प्रकाशन प्रतिबन्धक के द्वारा होता है। किसी भूखे व्यक्ति को भोजन न मिलने पर स्वप्न में वह बढ़िया भोजन करता है। देखने में तो यह बड़ा विचित्र सा प्रतीत होता है। भूख से तड़पते जीव को स्वप्न में अच्छा भोजन मिले, जिसका वास्तविक जगत में कोई आधार नहीं है। परन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट जान पड़ता है कि भूखे व्यक्ति का अचेतन मन अच्छे भोजन की इच्छा से भरा रहता है जिसका व्यक्ति को स्वयं ज्ञान नहीं रहता। दूसरे रूप में स्वप्न को वाह्य अभावों की पूर्ति के रूप में भी ले सकते हैं। स्वप्न में किसी भाव की पूर्ति होने पर व्यक्ति को एक प्रकार की मानसिक शांति का अनुभव होता है। यद्यपि उन भावों की पूर्ति वास्तविक नहीं होती, परन्तु व्यक्ति के अन्तर्मन में निराशा के भावों को थोड़ी देर के लिये शान्ति अवश्य मिलती है। विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रकृति किसी न किसी रूप में अपने अभाव की पूर्ति में लगी रहती है। इसी संतोष के आधार पर चाहे वह क्षण मात्र के लिए ही हो व्यक्ति में नए भावों का संचार हो जाता है।

अचेतन मन की प्रबल वासनाए

अचेतन मन की अवस्था को सही रूप में समझना कठिन है। यही कारण है कि मनोवैज्ञानिकों के विचारों में मत भेद है। मनोविश्लेषण सिद्धान्त के आधार पर इसकी अवस्था को जानने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु अपने-अपने प्रयोगों के आधार पर उनके विचारों में भिन्नता पायी जाती है। इस अवस्था का अध्ययन फ्रायड, एडलर और युङ्ग ने भलीभाँति किया है, लेकिन उनका मत एक दूसरे से भिन्न है। उनका अलग-अलग विवेचन करना अधिक उपयुक्त होगा।

फ्रायड ने अपने प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अचेतन मन की सबसे प्रबल वासना कामवासना है।

फ्रायड का मत

फ्रायड के मतानुसार व्यक्ति के प्रत्येक कार्यों का आधार कामवासना ही रहती है? इससे भी आगे बढ़कर फ्रायड के मतानुसार बालक के स्तन पान में भी कामवासना की अभिव्यक्ति है। व्यक्ति कामवासना के सभी भावों को प्रत्येक समय प्रकट नहीं कर सकता। इसीलिए उसके भाव दब जाते हैं। ये दबे हुए भाव अचेतन मन की अवस्था में स्थान पाते हैं। अचेतन की अवस्था में रहते हुए इनकी तृप्ति स्वप्नों के द्वारा होती रहती है। मनुष्य अपने कामवासना के भावों को उस समय अधिक दबाने का प्रयत्न करता है जबकि उसे यह ज्ञात होता है कि यह कार्य नैतिक दृष्टि से ठीक नहीं है। परन्तु प्रबल धारा के समान वे अपना मार्ग ढूँढ़ ही लेते हैं। इन भावों का प्रकाशन वाह्य जगत में सांकेतिक चेष्टाओं, स्वप्न की अवस्था या मानसिक रोगों के रूप में होता है। कामवासना का यह रूप यद्यपि अपने आंशिक रूप में ठीक है, परन्तु इसको पूर्णतया ठीक नही माना जा सकता। वास्तव में कुछ अन्य ऐसे भाव भी हैं जो कि समय पर कामवासना से कहीं अधिक प्रबल होते हैं।

फ्रायड के कामवासना के सिद्धान्त का विरोध एडलर ने आत्म-प्रकाशन के सिद्धान्त के आधार पर किया। एडलर के मतानुसार काम-

एडलर का मत

वासना का रूप इतना प्रबल नहीं होता जितना कि आत्म-प्रकाशन का भाव। व्यक्ति किसी भी रूप में अपने को हीन नहीं समझना चाहता। इस भावना को हम 'अहम्' भाव के रूप में भी समझ सकते हैं। परन्तु इसको संकुचित अर्थ में नहीं लेना चाहिए। साधारण रूप में प्रत्येक प्राणी के पास उसका अपना एक व्यक्तित्व होता है। उसके व्यक्तित्व में अन्य व्यक्तियों से कुछ विशेषता अवश्य रहती है। इसी विशेषता को वह सबसे ऊपर रखने में प्रयत्नशील रहता है। अचेतन मन की अवस्था में व्यक्ति

अपने इस भाव को प्रकाशित करने की भावना रखता है, परन्तु वाह्य वातावरण को देखते हुए चेतन मन उसके बीच में बाधा उपस्थित करता है। इस भाव के दब जाने पर व्यक्ति में मानसिक रोगों का विकास होता है। इन भावों के दबने पर ही व्यक्ति में हीनत्व-ग्रन्थि[1] का विकास होता है। कामवासना सम्बन्धी मनोविकारों को दबाने से भी ऐसे भावों को स्थान मिलता है।

युङ्ग ने फ्रायड और एडलर दोनों का विरोध किया और यह निश्चित किया कि व्यक्ति की सबसे प्रबल वासना समाज में रहने की है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसके मनोभावों को समाज में ही स्थान मिलता है। यदि समाज की व्यवस्था के अनुसार उसका रहन-सहन नही है तो उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसीलिए व्यक्ति चाहे कितना सुख भोग ले परन्तु जब तक समाज में एकत्व स्थापित करने के योग्य नहीं होता तब उसको शान्ति नही प्राप्त हो सकती।

युङ्ग का मत

साधारण रूप में व्यक्ति की सुख पाने की इच्छा रहती है। परन्तु व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के विचारों पर भी ध्यान देता है। उसके प्रति समाज का क्या दृष्टिकोण है, इसकी उसे सदैव चिन्ता रहती है। समाज के सभी व्यक्ति यदि उसे खराब समझते हैं तो वह अपने हिसाब से अच्छा होकर भी खराब ही अनुभव करेगा। समाज में मान्यता प्राप्त करने की सभी को इच्छा रहती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए विभिन्न प्रकार की इच्छायें रखता है। इस प्रकार की अतृप्त इच्छायें उसके अचेतन मन में स्थान पाती हैं। फ्रायड ने केवल अचेतन मन को ही सबसे गुप्त स्थान माना जाना है, परन्तु युङ्ग के अनुसार इसके परे सामूहिक अचेतन[2] मन है। इस अवस्था में उसकी सामाजिक भावनायें स्थान पाती हैं। नैतिक जीवन की विभिन्न

1—Inferiority Complex. 2—Collective Unconscious.

अवस्थाओं का जन्म सामूहिक अचेतन मन से ही होता है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति का नैतिक विचार सामाजिक प्रचलनों के अनुसार नहीं बनता परन्तु नैतिक विचारों का आधार जन्मगत होता है। जन्म से ही कुछ धारणाओं के विषय में वह अवगत रहता है जिसको वह बाद में जानने में समर्थ होता है।

इस प्रकार युङ्ग के इन विचारों को मानने पर यह कहना ठीक है होगा कि हमारी सभी दबी हुई वासनाओं का रूप अनैतिक है। नैतिक अथवा अनैतिक दोनों प्रकार की वासनाओं का दमन उसी रूप में होता रहता है। वास्तव में हमारे प्रत्येक कार्यों का उचित-अनुचित होने का ज्ञान हमारे अन्तर्मन को रहता है। किसी बुरे काम के करने पर हमारा आन्तरिक मन गवाही नहीं देता। साधारण व्यक्ति इस ओर ध्यान नही देता। परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर हमारे प्रत्येक कार्यों का रूप हमें ज्ञात हो जाता है। अधिकांश व्यक्ति अपने बुरे कामों को छिपाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु ऐसी अवस्था में इसका ज्ञान स्वप्न की अवस्था में होता है। किसी बुरे काम के करने पर स्वप्न की अवस्था में विभिन्न रूपों में हमारा अन्तर्मन आदेश देता रहता है। ऐसे व्यक्ति सदैव मानसिक उलझनों फँसे रहते हैं। नैतिक भावना को दबाने पर अनेक रूपों में विभिन्न प्रकार के मानसिक रोग आ जाते हैं। अनैतिक भावनाओं को दमन करने की अवस्था इतनी प्रबल नहीं होती, तथा उसके परिणाम भी भयंकर नहीं होते। इसकी अपेक्षा नैतिक भावनाओं को दबाने पर अनेक प्रकार के कठिन मानसिक रोगों का विकास होता है।

अचेतन मन और सांकेतिक भाव

अचेतन मन में दबी हुई वासनाओं का प्रकाशन किसी न किसी रूप में वाह्य जगत में होता रहता है। इन वाह्य भावों को भली भाँति समझ लेने पर व्यक्ति की वास्तविक स्थिति को समझा जा सकता है।

इस प्रकार की चेष्टाओं अथवा भावों का प्रकाशन अपना एक विशिष्ट अर्थ रखता है।

सांकेतिक भावों का प्रकाशन विभिन्न रूपों में होता है। वास्तविक जगत में इन संकेतों का संबन्ध वर्तमान अवस्था से कम रहता है।

सांकेतिक भावों की स्थिति

परन्तु इसके पीछे पूर्व अनुभवों का रूप दिया रहता है। किसी किसी को दाँत से नाखून काटने की आदत होती है। कुछ लोग कुर्सी पर बैठ कर पैर हिलाते रहते हैं। विचार करने की अवस्था में कुछ लोग अपने बालों के साथ खेलते रहते हैं अथवा हाथ की वस्तु को मुँह में रख कर चबाते रहते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि व्यक्ति इन कार्यों को करते समय उनका अनुभव नहीं करता। अनुभव करने पर उसे स्वयं आश्चर्य होता है। ऐसे कार्यों में बाधा पहुँचने पर व्यक्ति का अपना कार्य भी रुक जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि इन सांकेतिक भावों से उसे अपने कार्यों के करने में एक प्रकार की सहायता मिलती है।

सांकेतिक भावों को समझने के लिए व्यक्ति के पूर्व अनुभवों को जानने की आवश्यकता पड़ती है। पूर्व जीवन में अनुभवित घटनाओं

सांकेतिक भावों की उत्पत्ति

का इससे काफी सम्बन्ध रहता है। वास्तव में उन कार्यों का भी अपना कोई आधार अवश्य रहता है। परन्तु उन सबका पता लगाना असंभव है। साधारणतया इस समय के सांकेतिक भावों का कारण पता लगाना भी उतना सरल नहीं है। इसके कारण को जानने के विषय में हेडफील्ड ने अपनी पुस्तक 'साइकॉलाजी एण्ड मारल्स' में एक सुन्दर उदाहरण दिया है। हेडफील्ड के पास एक बार एक ऐसी महिला आई जो अपने दाम्पत्य जीवन की बहुत बड़ाई करती थी। उसके बाह्य भावों से यह प्रकट होता था कि इसका जीवन बहुत सुखी होगा। बार-बार वह अपने पति की प्रशंसा करती थी। उसने एक स्वप्न में यह देखा कि

उसका पति किसी दुर्घटना का शिकार हो गया है। इस समय उसका पति घर से बाहर था। हेडफील्ड के पास यह महिला अपने स्वप्न का अर्थ पूँछने गयी थी। जिस समय वह हेडफील्ड से अपने स्वप्न के बारे में बता रहीं थी उस समय वह अपने विवाह की अँगूठी को बार-बार निकालती और अँगुली में डालती रहती थी। इस सांकेतिक भाव से हेडफील्ड ने उसके अन्तर्मन के भावों को समझने का प्रयत्न किया। उस समय उन्होंने उस स्वप्न का अर्थ नहीं बताया। बाद में उन्हें ज्ञात हुआ कि उस महिला ने थोड़े दिनों के बाद अपने पति को तलाक दे दिया है। इससे यह ज्ञात होता है कि वह वास्तव में अपने वैवाहिक जीवन से असंतुष्ट थी परंतु वाह्य रूप में वह इसे प्रकट नहीं करना चाहती थी। उसके चेतन मन की अवस्था अचेतन मन के भावों से भिन्न थी? वास्तव में उसके अचेतन की धारणा थी कि उसका मेल उस व्यक्ति से ठीक नहीं है। यही कारण है कि अँगूठी निकालने और पहनने का सांकेतिक भाव इस बात को स्पष्ट करता है कि वह अपने वैवाहिक जीवन को निकाल डालना चाहती है अर्थात् उससे अलग होना चाहती है। ध्यान रहे कि वह अँगूठी उसके विवाह से संबंधित है। इस प्रकार उसके अचेतन मन ने सांकेतिक भाव के रूप में अपनी इच्छा प्रकट की। महिला का वाह्य प्रेम एक दिखावा मात्र था।

इसी प्रकार इस विषय के अन्य कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। एक व्यक्ति को दोनों हाथ मसलने की आदत थी। इसका कारण पता लगाने पर यह ज्ञात हुआ कि किसी समय उसने ऐसे व्यक्ति के साथ दुर्व्यवहार किया जिसका वास्तव में कोई दोष नहीं था। बाद में उसे उसकी निर्दोषता का पता लगा। इससे उसे काफी ग्लानि हुई तथा पश्चाताप के उपाय सोचने लगा। जिन हाथों के द्वारा उसने वह कार्य किया था, उन्ही हाथों को वह अब पश्चाताप के रूप में मसलता रहता है। वास्तव में उसे अपनी इस स्थिति का ज्ञान नहीं रहता। परन्तु अनजान में ही वह ऐसा करता है। इस बात पर ध्यान देने की बात है कि अब बाद में उस घटना

को भूल जाने पर भी उसका अचेतन मन उस घटना को नहीं भूलता। वास्तव में ऐसे भावों को समझने के लिए उनके कारणों को पता लगाने की आवश्यकता पड़ती है। कभी-कभी उनका पता लगाना कठिन हो जाता है।

कुछ लोग चिंताशील अवस्था में अपने दाँतों से नाखून काटते रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि उनके मन में कोई प्रबल अतृप्त वासना है जिसकी पूर्ति इन सांकेतिक भावों के रूप में होती है, यद्यपि वास्तविकता से इसका कोई संबंध नहीं रहता। दाँतों से नाखून काटने से बदला लेने की भावना का भी पता लगता है। होमरलेन के कथनानुसार जिस बालक की दूध पीने की इच्छा पूर्ण नहीं हो पाती वह बाद में नाखून काटने लगता है। वास्तव में इसके कारण को चेतन मन के स्तर पर रह कर जानना कठिन है। इसीलिए व्यक्ति के पूर्व अनुभवों को जानने की आवश्यकता पड़ी है। साधारण रूप में इन भावों का अर्थ समझने के लिए विभिन्न रूपों को सामने रखना पड़ता है। इस तरह के भावों का समाज के नियमों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यद्यपि इस तरह के भाव अधिकतर नैतिक दृष्टि से ठीक नहीं होते, फिर भी इनको रोकना कठिन है। प्रबलता से दबाने पर ये अन्य रूप धारण कर लेते हैं।

इन सांकेतिक भावों को जनाने के लिए वर्तमान जीवन के रूप को भी समझने की आवश्यकता पड़ती है। वर्तमान जीवन के कुछ ऐसे अन्य रूप हो सकते हैं जो कि उसके कारण को जानने में सहायक हो सकते हैं। जाघों के हिलाने से व्यक्ति की अतृप्ति कामवासना का पता लगता है। कभी-कभी एक संकेत के कई अर्थ लिए जा सकते हैं। उस इच्छा की पूर्ति होने पर उससे संबन्धित सांकेतिक भाव भी समाप्त हो जाते हैं।

मानव किसी भी रूप में असंतुष्ट नहीं रहना चाहता। जिस इच्छा की पूर्ति उसका चेतन मन करने में असमर्थ रहता है उसकी पूर्ति उसका अचेतन मन करता है। उसके अचेतन मन की भावनायें इन सांके-

तिक भावों के रूप में प्रकट होती हैं। इसीलिए इन भावों का होना सुचारु रूप से जीवन चलाने के लिए आवश्यक है। प्रकृति का कुछ ऐसा नियम है कि वह किसी भी रूप में अधूरापन नहीं चाहती। रिक्त स्थान को वह सदा भरती रहती है। इसी प्रकार अन्तर्मन के भावों को देखने से यह ज्ञात होता है कि बाह्य जीवन में कुछ न कुछ अपूर्ति या इच्छा कार्य कर रही है। किसी भी अतृप्त वासना का रूप स्वप्न के रूप में प्रकट होता है। वास्तव में स्वप्न की वह अवस्था उस वासना की पूर्ति करती है। वास्तविक जगत में उसकी पूर्ति होने पर फिर उसे उस प्रकार के स्वप्न नहीं आते। जब तक वासना की तृप्ति नहीं होती, स्वप्नों का आना आवश्यक है। इसी प्रकार जब तक अन्तर्मन के भावों की पूर्ति नहीं होती तब तक इन सांकेतिक भावों का होना भी अनिवार्य है। इन सांकेतिक भावों की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि इनसे व्यक्ति अपने स्वास्थ्य की गुप्त रूप से रक्षा करता रहता है। स्वास्थ्य उसी अवस्था में ठीक रह सकता है जबकि उसकी मानसिक स्थिति ठीक ढंग पर रहती है। इस प्रकार के सांकेतिक भावों से उसका मानसिक संतुलन नहीं बिगड़ने पाता। इन सांकेतिक भावों को दबाव डाल कर रोकने पर बड़ी हानि की संभावना रहती है क्योंकि ऐसी अवस्था में व्यक्ति अन्य बुरी आदत को पकड़ लेता है, अथवा किसी मानसिक रोग से वह ग्रसित हो जाता है। इन सांकेतिक भावों के प्रवाह के रोकने पर विचारों का प्रवाह भी रुक जाता है।

सांकेतिक भावों की उपयोगिता

सांकेतिक भावों की उपयोगिता को इस उदाहरण से समझा जा सकता है। एक बालक को दाँत से पेंसिल चबाने की आदत थी। किसी प्रश्न का उत्तर देते समय वह पेंसिल बीच-बीच में मुँह में रख लेता था। कई बार डाँटने पर उसकी यह आदत छूट सकी। बालक का मस्तिष्क पढ़ने-लिखने में काफी तेज था। परन्तु उसकी आदत को दबाव डालकर पढ़ाने पर उसके मस्तिष्क की तीव्रता कम हो गयी। पहले के समान

अब वह उत्तर नहीं दे पाता था। बाद में उसको फिर पेंसिल मुँह में रखने की छूट दे दी गयी। बालक के मस्तिष्क की तीव्रता फिर लौट आयी। इसी प्रकार कुछ अध्यापकों को पढ़ाते समय डस्टर या खड़िया मिट्टी से खेलने की आदत होती है। इस क्रिया में बाधा पहुँचने पर उनके अध्यापन का कार्य ठीक प्रकार से नहीं चल पाता। इससे यह ज्ञात होता है कि चेतन मन की अवस्था और अचेतन मन के भावों में एक प्रकार का साम्य रहता है। सांकेतिक भाव इसी साम्यता के रूप हैं।

उपरिलिखित बातों से यह स्पष्ट है कि अचेतन मन के भावों को दबाना हानिप्रद हो सकता है। नैतिक दृष्टिकोण अथवा अन्य कारणों से अचेतन मन के भावों के दबने पर उनका रूप अनेक प्रकार की मानसिक बीमारियों में बदल जाता है। इस प्रकार की बीमारियाँ किसी बाह्य उपकरण से नहीं ठीक हो सकतीं। इस प्रकार की बीमारियों का निदान मनोवैज्ञानिक ढंग पर ही किया जा सकता है। इन बीमारियों में कुछ इस प्रकार हैं। निद्रा-विचरण[२], द्वि-व्यक्तित्व[३], अकारण भय[४], और चिन्ता आदि। इन बीमारियों की स्थिति को समझने के लिए इनका अलग-अलग विवेचन करना उपयुक्त होगा।

अचेतन मन तथा मानसिक रोगों की स्थिति

अमेरिका के एक बहुत धनी व्यक्ति को निद्रा विचरण का रोग था। रात्रि में उठकर वह अपने कपड़ों को उतार कर ऐसे स्थानों में छिपा आता था कि अन्य लोग उसका पता न लगा सकें। इस प्रकार के रोगी को अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं रहता। प्रातःकाल उठने पर अपने कपड़ों को न पाने पर उसे बड़ा आश्चर्य होता था। कुछ दिनों तक उसने अपनी इस बात को किसी से नहीं बताया। बाद में उसने अपने नौकरों से इस

(१) निद्रा-विचरण[१]

1—Somnambulism. 2—Double personality. 3—Multiple personality. 4—Phobia.

बात को बताया। पहले तो उन सब लोगों ने इस बात पर विश्वास ही नहीं किया। बाद में एक नौकर ने रात्रि में जागकर इस बात के तथ्य को जाना, तथा पिछले छिपाये हुए सभी कपड़े उसको मिल गये। मनोवैज्ञानिक से परामर्श करने पर यह ज्ञात हुआ कि उस व्यक्ति के अचेतन मन की यह भावना थी कि उसकी यह अपार धन राशि अन्य व्यक्ति उपभोग न कर सके। इसीलिए वह अपने धन की वास्तविक स्थिति को वह किसी से नहीं बताता था। उसी अचेतन मन के भाव को दबाने के कारण उसे निद्रा-विचरण का रोग हो गया था। निद्रा-विचरण की अवस्था में कपड़े छिपाने का भाव धन के छिपाने के भाव से समानता रखता है। इस प्रकार उसके अचेतन मन की वह इच्छा इस रूप में पूर्ण होती है।

जिस प्रकार निद्रा-विचरण की स्थिति में व्यक्ति को अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं रहता उसी प्रकार दुहरे व्यक्तित्व में व्यक्ति अपने पूर्व जीवन में बदल कर वर्तमान अवस्था को बिल्कुल भूल जाता है। स्टाउट महाशय ने एक ऐसी स्त्री का का वर्णन किया है जो कि अपने वर्तमान विवाहित जीवन को भूलकर अचानक अपने किशोरावस्था की स्थिति में आकर उसी प्रकार व्यवहार करने लगती है। किसी आघात या अचानक चोट लगने पर व्यक्ति अपने वर्तमान जीवन को बिल्कुल ही भूल जाता है। विलियम जेम्स ने भी अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ साइकोलाजी' में एक अठारह वर्ष की महिला के दुहरे व्यक्तित्व का उदाहरण दिया है। अचानक एक दिन सोकर उठने पर अठारह वर्ष तक की सारी स्मृति लुप्त हो गयी। उसे फिर से लिखना पढ़ना सीखना पड़ा। इस प्रकार का अचानक परिवर्तन अधिकतर व्यक्ति की दबी हुई वासना के कारण होता है। कुछ ऐसे भी उदाहरण सुनने को मिले हैं जिसमें व्यक्ति अपने वर्तमान जीवन को भूलकर अपने पूर्व जन्म के अनुसार कार्य करने लगा।

(२) दुहरे व्यक्तित्व का स्वरूप

इस प्रकार के भय का कारण रोगी को स्वयं समझ में नहीं आता। सुरक्षित स्थान में भी व्यक्ति किसी अज्ञात भय के कारण दुखित रहता है। किसी किसी को कीड़े-मकोड़ों से बहुत डर लगता है। इस प्रकार के अकारण भय का कारण व्यक्ति की अतृप्त वासना ही है। बहुधा व्यक्ति स्वयं जानता है कि उसका भय बिना किसी आधार के है फिर भी वह इससे छुटकारा नहीं पा सकता। इस प्रकार का भय तर्क-वितर्क करके नहीं हटाया जा सकता। अकारण भय का कारण किसी अज्ञात वास्तविक भय के आधार पर होता है। जब तक उस वास्तविक भय को नहीं हटाया जाता, अकारक भय का हटाना कठिन है।

अकारण भय[1]

अचेतन मन में दबी हुई वासना के कारण किसी न किसी प्रकार की झक सवार हो जाती है। इस प्रकार के व्यक्ति अपनी बात के आगे दूसरे की बात पर कम ध्यान देते हैं। कभी-कभी व्यक्ति को इस बात का अनुभव होता है कि उसकी झक बेकार की है, फिर भी वह उसे छोड़ नहीं पाता झक की अवस्था कभी-कभी झूठे भ्रम के आधार पर भी हो जाती है। इस बीमारी में व्यक्ति को ठीक प्रकार से निद्रा नहीं आती। मस्तिष्क में एक प्रकार की उलझन बनी रहती है। झक के मूल कारण को जान लेने पर उससे छुटकारा दिलाया जा सकता है। परन्तु रोगी को स्वयं अपनी स्थिति का ज्ञान होने पर इसका हटाना कठिन हो जाता है।

झक की उत्पत्ति

मानसिक ग्रन्थि और शारीरिक व्याधियाँ

अचेतन मन की अतृप्त वासनाओं के कारण सांकेतिक भावों की उत्पत्ति होती है। अधिक दबाने के कारण अनेक प्रकार के मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। अतृप्त भावों का मन पर ही केवल प्रभाव

1—Phobia.

नहीं पड़ता परंतु शरीर पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। दमा, मधुमेह, कुपच, वमन, अन्धापन, हृदय की धड़कन आदि अनेक ऐसे रोग हैं जो कि मानसिक ग्रन्थि के कारण उत्पन्न होते हैं। किसी कार्य को पूरा करने में असमर्थ होने के कारण कुछ लोग किसी बीमारी का बहाना बना लेते हैं। ऐसी बीमारी के आने पर वे आत्म सम्मान की रक्षा करने में समर्थ हो जाते हैं। कक्षा में सबसे तेज लड़का अपनी गलतियों के कारण साल भर ठीक प्रकार से न पढ़कर परीक्षा के समय बीमार हो जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस प्रकार व्याधि उसके आत्म सम्मान की रक्षा करती है। यदि वह परीक्षा में बैठकर प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण न हो पाता तो उसे अन्य लोगों के सामने नीचा देखना पड़ता। इसी भय को दूर करने के लिए उसके अचेतन मन ने व्याधि को उत्पन्न कर उस भय से उसे मुक्त कर दिया। इस प्रकार उसके आत्मसम्मान को भी धक्का नहीं लगा तथा वह बाद में सब लोगों से कह सकता है कि बीमारी के कारण परीक्षा में न बैठ सका अन्यथा उसका परीक्षाफल सबसे अच्छा होता।

इस प्रकार शरीर की व्याधियों का कारण भी मानसिक हो सकता है। विभिन्न प्रकार के शारीरिक रोगों के कारण के विषय में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है। फ्रायड के अनुसार सुख की इच्छा का दमन करने के कारण अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। फ्रायड के मतानुसार व्यक्ति में काम वासना की भावना मुख्य है। इसकी पूर्ति का होना परम आवश्यक है। इसी की अपूर्ति में व्यक्ति की मानसिक अवस्था में परिवर्तन आता है तथा शरीर पर भी प्रभाव पड़ता है। परंतु एडलर का मत फ्रायड के सिद्धान्त से भिन्न है। एडलर के अनुसार मान प्रतिष्ठा की भावना में विरोध आने पर अनेक प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं। युङ्ग और होमरलेन आत्मग्लानि तथा नैतिक भावना के दमन को इन बीमारियों का कारण मानते हैं। वास्तव में किसी एक मत पर दृढ़ रह कर किसी सिद्धान्त पर पहुँचना एकांगी दृष्टि-

कोण होगा। वास्तविकता का अंश इन सभी मतों में है। किसी भी व्याधि का मुख्य कारण इनमें से कोई एक हो सकता है, लेकिन अन्य बातों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। किसी एकांगी दृष्टिकोण पर दृढ़ रहने से किसी तथ्य पर पहुँचना कठिन है, क्योंकि इन सभी भावों का मानव शरीर पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए किसी रोग का कारण जानने के लिए इन सभी बातों पर विचार करना चाहिये।

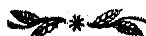
अपराध का कारण भी अचेतन मन की अतृप्त वासना ही है जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति अपराध की ओर अग्रसित होता है। कभी-कभी अपराधी यह जानते हुए कि वह ठीक नहीं कर रहा है, अपराध करता है। इसका मुख्य कारण यही है कि उसके चेतन मन की अवस्था अचेतन मन के भावों की अपेक्षा सबल नहीं है। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति अपने अन्दर उलझन अनुभव करता है। इस प्रकार की मानसिक परिस्थिति की चिकित्सा मनोविश्लेषण-विधि के द्वारा की जा सकती है। अन्य प्रकार के दण्ड देकर या भय दिखाकर इस प्रकार की प्रवृत्ति का वास्तविक निदान नहीं किया जा सकता।

मनोविश्लेषण-चिकित्सा

शारीरिक रोगों की चिकित्सा वाह्य उपकरणों से की जा सकती है, परंतु मानसिक रोगों की चिकित्सा किसी वाह्य उपकरण की सहायता से करना संभव नहीं है। मानसिक रोगों के निदान के लिए मन के भावों को समझना आवश्यक है। इस प्रकार के रोगों की चिकित्सा के लिए मनोविश्लेषण-विधि का प्रयोग किया जाता है। इस विधि के दो मुख्य अंग हैं—रेचन[1] और पुनः शिक्षा[2]। रेचन की विधि के द्वारा अचेतन मन में दबी हुई भावनाओं को चेतन मन के स्तर पर लाने का प्रयत्न करते हैं। अचेतन मन में दबी हुई भावनायें ही अधिकतर मानसिक

1— Catharsis. 2— Re-education.

रोगों का कारण होती हैं। इनका ठीक ज्ञान होने पर व्यक्ति अपने रोग का वास्तविक कारण जान लेता है। इस प्रकार की विधि के द्वारा केवल साधारण प्रकार के मानसिक रोगों को ठीक किया जा सकता है। साधारण मानसिक रोगों का कारण समझ लेने पर व्यक्ति का रोग ठीक हो जाता है। परन्तु कठिन रोगों में व्यक्ति को फिर से शिक्षा देने की आवश्यकता पड़ती है। पुनः शिक्षा की विधि से व्यक्ति को स्थायी लाभ हो सकता है। इस शिक्षा के आधार पर उसके जीवन के आदर्शों तथा नैतिक धारणाओं में परिवर्तन होता है। मानसिक-ग्रन्थि को समझने के लिए कभी-कभी चिकित्सक को काफी समय लगाना पड़ता है। इसलिए मानसिक रोग के चिकित्सक को धैर्य से काम लेना पड़ता है। कभी-कभी उसे अपनी धारणाओं में परिवर्तन भी करना पड़ता है। रोगी की सांकेतिक चेष्टाओं तथा स्वप्नों का भी अध्ययन करना पड़ता है। इस विधि के अतिरिक्त मनोविश्लेषकों को शब्द-सम्बन्ध[1] की प्रक्रिया से भी काम लेना पड़ता है। रोगी की चिकित्सा करते समय सम्मोहन की क्रिया के साथ शब्द-सम्बन्ध की प्रक्रिया नहीं हो सकती। शब्द-सम्बन्ध की प्रक्रिया के लिये व्यक्ति का साधारण चेतन अवस्था में होना आवश्यक है। इस विधि में रोगी को कुछ शब्द दिये जाते हैं जिनके उत्तर की विधि और समय को नोट कर लिया जाता है। कुछ ऐसे शब्द भी होते हैं जिनका संबंध रोगी के जीवन से निकटतम होता है इसीलिए उनके उत्तर देने में उसे देर लगती है। इस प्रकार उनके महत्त्व को समझकर उसके रोग के कारण को जानने का प्रयत्न किया जाता है। आधुनिक काल में मनोविश्लेषण विधि का प्रयोग व्यापक रूप से किया जाता है तथा इसका भविष्य भी उज्वल है।



1 — Word-association.

अध्याय—१८

प्रेरणा[1]

मानव जीवन के विभिन्न कार्य उसकी अंतर्वृत्तियों पर आधारित रहते हैं। बाह्य कार्यों का मूल आन्तरिक इच्छाओं, भावनाओं, प्रवृत्तियों में मिलता है। यही कारण है कि किसी मनुष्य के बाह्य कार्यों को देख कर उसकी वास्तविक अन्तर्भावना को जानने की इच्छा होती है। प्रत्येक कार्य के पीछे एक प्रेरणा रहती है जिसके आधार पर कार्य का बाह्य प्रकटीकरण होता है। जब तक कि कार्य का बाह्य रूप हमारे सामने नहीं आता उस समय तक उसकी प्रेरणा को जानना कठिन है। मनुष्यों की अंत-प्रवृत्ति में विभिन्नता पायी जाती है। किसी का स्वभाव क्रोधी होता है और किसी का शान्त। कुछ लोग उदार चरित्र के होते हैं और कुछ लोग लोभी। इन अंतप्रवृत्तियां या प्रेरणाओं का अध्ययन मनोविज्ञान की एक मुख्य समस्या है, क्योंकि मनुष्य का प्रत्येक कार्य किसी न किसी प्रेरणा के आधार पर ही होता है। इन प्रेरणाओं के अध्ययन का क्षेत्र कई रूपों में दिखाई पड़ता है। एक दर्शनिक का दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक से भिन्न होता है। इसी प्रकार धर्मशात्र, इतिहास, राजनीति तथा अर्थ-शास्त्र आदि में इसके विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। दृष्टिकोण की विभिन्नता का यह अर्थ नहीं कि वास्तव में मनुष्य की प्रेरणा का आधार विज्ञानानुसार भिन्न-भिन्न है। वास्तव में इन सभी दृष्टिकोणों को ध्यान

1—Motivation.

में रखकर एक समन्वयात्मक निर्णय पर पहुँचना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि मानव जीवन का क्षेत्र बहुत व्यापक है; और जब तक व्यापक दृष्टिकोण को नहीं लिया जाता उस समय तक किसी उपयुक्त निर्णय पर पहुँचना ठीक नहीं। मनोवैज्ञानिक अध्ययन में इसी व्यापक दृष्टिकोण का आधार लेना अधिक युक्तियुक्त होगा। मानव स्वभाव के अध्ययन करने वाले के समक्ष कई कठिनाइयाँ— वातावरण का प्रभाव, संकुचित ज्ञान, एकांगी दृष्टिकोण, आदि—आती हैं, इनका निराकरण उसके लिए परम आवश्यक है। यही कारण है कि अभी तक के अध्ययन में मानव स्वभाव की सर्वाङ्गीण व्याख्या नहीं हो सकी है। परन्तु उपयुक्त कठिनाइयों का निराकरण होने पर अधिक उपयुक्त व्याख्या करना संभव हो सकता है।

प्रेरणाओं का आधार अधिकतर वातावरण और परिस्थितियों से प्रभावित रहता है मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार ही इच्छा करता है। उसकी बुद्धि-वृत्ति का निर्माण वातावरण, परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार ही होती है। आवश्यकतायें शारीरिक, मानसिक, सामाजिक आदि कई रूपों में होती हैं। इसलिए प्रेरणाओं के विषय में जानने के लिए पहले आवश्यकताओं का अध्ययन करना अधिक समीचीन होगा।

आवश्यकतायें[1]

मनुष्य के व्यवहार को बिना उसकी आवश्यकताओं को समझे हुए जानना बहुत कठिन है। आवश्यकताओं के अनुसार ही उसका व्यवहार बनता है। भूख से विकल प्राणी क्या नहीं कर सकता? उस समय उसके लिए नैतिक या सामाजिक बंधन नहीं रहते। अधिकांश अपराधी अपनी तीव्र इच्छाओं या आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही बुरे कामों

1— Needs.

की ओर प्रवृत्त होते हैं। पशुओं की आवश्यकतायें मनुष्यों से भिन्न होती हैं। एक मनुष्य की आवश्यकता दूसरे मनुष्य से भिन्न होती है। परन्तु कुछ आवश्यकतायें प्राणभूत[1] होती हैं जिनकी पूर्ति के बिना उसकी प्राण-रक्षा संभव नहीं हो सकती। कुछ आवश्यकतायें साधारण होती हैं जिनकी पूर्ति के बिना भी उसको कोई विशेष हानि नहीं होती।

आवश्यकताओं में भिन्नता

प्राणभूत और साधारण आवश्यकताओं में मुख्य भेद यही है कि पहली आवश्ययकता की पूर्ति परम आवश्यक है लेकिन दूसरी आवश्यकता की पूर्ति केवल संतोष या असंतोष ही प्रदान करती है। प्राणभूत आवश्यकताओं को प्राथमिक[2] तथा आन्तरिक[3] भी कहा जाता है। प्राणरक्षा की दृष्टि से अन्य आवश्यकतायें गौण[4] और उपार्जित[5] होती हैं। इस भिन्नता का यह अर्थ नहीं है कि गौण आवश्यकतायें दुर्बल होती हैं या जीवन में उसका कोई विशेष महत्व नहीं है। प्राथमिक और गौण शब्दों का महत्व केवल आवश्यकताओं की उत्पत्ति स्थान के आधार पर ही है। धन कमाने की इच्छा किसी मनुष्य में इतनी प्रबल हो सकती है कि वह अपने शरीर पर ध्यान दिये बिना ही धन कमाने में जुटा रह सकता है, चाहे इसका परिमाण मृत्यु ही हो। इस अवस्था में गौण आवश्यकता प्राथमिक आवश्यकता से अधिक प्रबल है। स्पष्ट है कि गौण आवश्यकतायें सदैव प्राथमिक आवश्यकताओं के अनुसार ही नहीं चलती। लेकिन प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर गौण आवश्यकताओं का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उनके भोगने के लिए वह जीवित ही नहीं रहता। मान, सम्मान, धन आदि की इच्छा कभी-कभी इतनी प्रबल होती है कि कुछ लोग इनके खोने पर आत्महत्या तक करने से नहीं हिचकते। उनके लिए धन, मान, सम्मान आदि के बिना जीवित रहना असंभव प्रतीत होता है, और फलतः आत्मघात

1—Vital. 2—Primary. 3—Innate. 4—Secondary. 5—Acquired.

करने की ओर प्रवृत्त होते हैं। वास्तव में ऐसे लोगों की गौण आवश्यकतायें प्राणभूत आवश्यकतायें बन जाती हैं।

प्राथमिक आवश्यकताओं को शारीरिक आवश्यकतायें भी कहा जाता है क्योंकि इनकी पूर्ति मनुष्य जीवन के लिए परम आवश्यक है, अन्यथा जीवित रहना संभव नहीं है। गौण आवश्यकताओं को मनोवैज्ञानिक आवश्यकतायें भी कहा जाता है, क्योंकि इनकी पूर्ति के बिना मनुष्य का जीवित रहना संभव है। शारीरिक आवश्यकतायें लगभग सभी प्राणियों में समान रूप से पायी जाती हैं लेकिन मनोवैज्ञानिक आवश्यकतायें प्रत्येक की परिस्थितियों, स्वभाव आदि के अनुसार भिन्न भिन्न होती हैं। शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं में भेद का यह अर्थ नहीं है कि मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं का शरीर से कोई संबंध नहीं है। दूसरे रूप में मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के विषय में जिस प्रकार चेतना रहती है उसी प्रकार शारीरिक आवश्यकताओं के विषय में नहीं। किसी परीक्षण में उत्तीर्ण होने के लिये जिस प्रकार संलग्न रहते हैं उसी प्रकार भोजन पाने के लिए भी प्रयत्न होता है। वास्तव में इन दोनों के भेद को लेकर एक दूसरे से स्पष्ट रूप से अलग नहीं किया जा सकता। मनोवैज्ञानिक और शारीरिक आवश्यकताओं की बहुत कुछ समानता इस बात पर है कि कुछ समय दोनों के विषय में अवगत रहते हैं लेकिन कभी-कभी इनका ज्ञान नहीं रहता।

साधारणतया आवश्यकताओं का भेद शरीर और मन की आवश्यकताओं के अनुसार होना चाहिए, परन्तु इस भेद के बीच में कोई अलग करने वाली रेखा नहीं खींची जा सकती। इसका मुख्य कारण यही है कि शरीर और मन की क्रियाओं में पारस्परिक ऐसा संबंध है कि दोनों को स्पष्ट रूप से भिन्न नहीं माना जा सकता। मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं का आधार सामाजिक होता है, क्योंकि जिस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था व परिस्थितियाँ होगी उसी प्रकार मनुष्य की आवश्य-

कतायें होगी। अतः गौण आवश्यकताओं को सामाजिक[1] आवश्यकतायें भी कहा जाता है। प्राथमिक आवश्यकताओं को 'जैविक आवश्यकताओं[2]' की संज्ञा दी जाती है। परन्तु यहाँ पर भी दोनों का भेद किसी स्पष्ट रेखा द्वारा भिन्न नहीं माना जा सकता। सामाजिक आवश्यकताओं का रूप जैविक भी रहता है। तथा दूसरे रूप में जैविक आवश्यकतायें भी सामाजिक व्यवस्था एवं परिस्थितियों के आधार पर रहती हैं। सभी मनुष्य भोजन चाहते हैं, लेकिन देश, काल, और सामाज से अनुसार उसमें भेद होता है। धार्मिक सिद्धान्तों का भी इस पर प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आवश्यकतायें दो प्रकार की होती हैं। पहली आवश्यकतायें प्राथमिक[3], प्राणभूत[4] शारीरिक[5] और जैविक[6], तथा दूसरी आवश्यकतायें गौण[7], साधारण,[8] मनोवैज्ञानिक[9] और सामाजिक[10] होती हैं। परन्तु इस भेद को दृढ़ न मानकर मनोवैज्ञानिक और शारीरिक आवश्यकताओं के पारस्परिक संबंध को ध्यान में रखकर साधारण मानना चाहिए, क्योंकि यह स्पष्ट रूप से नही कहा जा सकता कि मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं का शरीर से कोई संबंध नहीं है अथवा शारीरिक आवश्यकताओं का कोई मनोवैज्ञानिक आधार नहीं है।

प्राथमिक आवश्यकतायें सभी प्राणियों में लगभग समान रूप से पायी जाती हैं, परन्तु उन आवश्यकताओं की पूर्ति एक ही ढंग पर नहीं होती। मनुष्य के लिए प्राणवायु बाहर से मिलती है, परन्तु मछली जल से प्राणवायु प्राप्त करती है। इस भेद का मुख्य कारण शारीरिक बनावट है। मनुष्य के शरीर की बनावट ऐसी नहीं होती कि वह जल के भीतर रह कर साँस ले सके परन्तु मछलियाँ अपने शरीर की बनावट के अनुसार जल के अन्दर रह कर साँस ले सकती हैं। शरीर को जिस रूप में

1—Social. 2—Biological needs. 3—Primary. 4—Vital. 5—Physiological. 6—Biological. 7—Secondary. 8—Non-vital. 9—Psychological. 10—Social.

आवश्यकताओं की पूर्ति करना होगा उसी रूप में उसका कार्य होगा। परन्तु गौण आवश्यकताओं के लिए यह बात लागू नहीं होती। समाज में उच्च पद प्राप्त करने के लिए किसी विशिष्ट मार्ग का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु व्यक्ति के अपने स्वभाव तथा सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार इसके कई प्रकार हो सकते हैं। कुछ लोग शारीरिक कार्यों में मान्यता प्राप्त करते हैं, परन्तु साधारण शरीर वाले बौद्धिक क्षेत्र में मान्यता पाते हैं।

आवश्यकताओं के अनुसार व्यवहार तीन बातों पर निर्भर रहता है:—

(१) किसी भी आवश्यकता की अपूर्ति शारीरिक अथवा मानसिक असंतुलन का रूप धारण कर लेती है। इस संतुलन को फिर से पाने के लिए उन आवश्यकताओं की पूर्ति करना आवश्यक होता है जिनके कारण असंतुलन उपस्थित हुआ था। इस प्रकार के असंतुलन से मनुष्य कार्य करने की ओर प्रेरित होता है।

(२) शरीर की बनावट के अनुसार ही आवश्यकतायें उत्पन्न होती हैं। जैसी शरीर की रचना होगी उसकी पूर्ति भी उसी के अनुसार होगी। उदाहरणार्थ, मनुष्य की श्वास क्रिया तथा उसकी पूर्ति मछली की श्वास क्रिया तथा उसकी पूर्ति से भिन्न होती है।

(३) आवश्यकताओं की पूर्ति में शरीराङ्गों और बाह्य वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। इसमें सामाजिक और शारीरिक वातावरण पर भी विचार करना चाहिए।

इस प्रकार व्यवहार इन तीन बातों के पारस्परिक संबंध पर आधारित रहता है।

व्यवहार का शारीरिक आधार[१]

प्राणी की प्रत्येक क्रिया में उसके शरीर के सूक्ष्म तन्तुओं[२] पर प्रभाव पड़ता है, जिनके द्वारा शरीर में एक प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है।

1— The Physiological basis of behaviour. 2— Bodily tissues.

शरीर की क्रियाशीलता और इन सूक्ष्म तन्तुओं के आधार पर मनोवैज्ञानिकों ने ईहाओं[१] की कल्पना की है। मनोवैज्ञानिकों ने ईहा को वह 'अंतः यान्त्रिक क्रिया' कहा है जो कि प्राणी को किसी विशेष व्यवहार की ओर प्रेरित करती है।

भूख ईहा[२]

जिस व्यक्ति को भूख लगती है वह एक प्रकार की बेचैनी का अनुभव करता है। इस बेचैनी का मुख्य कारण यह है कि भूख के समय शरीर के अन्दर कुछ ऐसी क्रियायें होती हैं जिनको भोजन प्राप्त करने पर ही शान्त किया जा सकता है। जैसे कि रक्त में चीनी की मात्रा कम होने पर पेट सिकुड़ने लगता है। भूख लगने पर व्यक्ति ऐसे कार्य की ओर प्रेरित होता है जिससे कि उसकी बेचैनी दूर हो सके। परीक्षणों में यह देखा गया है कि उन सूक्ष्म तन्तुओं, जिन पर भूख के समय प्रभाव पड़ता है और व्यक्ति उसकी पूर्ति का प्रयत्न करता है, के हटाने पर भी भूख का अनुभव होता है। यद्यपि अभी तक भूख का शारीरिक आधार ही देखा गया है, लेकिन कई परीक्षणों से यह ज्ञात हुआ है कि भूख शारीरिक न होकर किसी अन्य कारण से भी हो सकती है। उदाहरणार्थ, मुर्गियों पर किये गये परीक्षणों से यह ज्ञात हुआ कि एक भूखी मुर्गी अनाज के ढेर देखकर खाने लगती है। खाते-खाते रुक जाती है। अनाज को हटाने के बाद कुछ देर पश्चात पुनः रखने पर वह फिर खाने लगती है। पेट भरने पर भी यदि वह दूसरी मुर्गियों को खाते हुए देखती है तो फिर खाने लगती है। यह मनुष्यों में भी साधारण रूप में पायी जाती है। अधिक भोजन रहने पर वह पहले से अधिक खा जाता है। मित्रों के साथ बैठकर भोजन करने पर वह पहले से अधिक भोजन करता है। किसी निश्चित समय पर भोजन करने की आदत होने के कारण उस समय भूख न लगने पर भी वह खाने की ओर प्रेरित होता है। परन्तु इस

1— Drives. 2— Hunger Drive.

प्रकार की भूख उसके स्वभाव के कारण होती है और उसकी पूर्ति न होने पर व्यक्ति उस प्रकार की बेचैनी का अनुभव नहीं करता जैसी कि उसको वास्तविक भूख के समय होती है।

प्राणिमात्र में काम ईहा की मात्रा किसी न किसी समय में रहती है। इसका अधिक विकसित रूप मनुष्यों और अन्य विकसित प्राणियों में दिखाई पड़ता है। कामेच्छा समय-समय पर घटती बढ़ती रहती है। कामेच्छा की तीव्र भावना उसी समय जाग्रत होती है जब कि मनुष्य या पशु प्रौढ़ हो जाता है। वृद्धावस्था में दुर्बलता के कारण कामेच्छा भी कम हो जाती है। युवावस्था में इसका सबसे अधिक विकसित रूप दिखाई पड़ता है। भूख ईहा के समान काम ईहा भी व्यक्ति को कार्यशीलता की ओर प्रेरित करती है। काम ईहा का स्पष्ट रूप जननेन्द्रियों[२] के विकास और काम-क्रियाओं[३] से सम्बन्धित ग्रन्थियों की क्रिया-शीलता में मिलता है। कुछ लोग पुरुषों में अण्डकोष[४] और स्त्रियों में डिम्ब[५] के विकास को काम ईहा का मुख्य कारण मानते हैं।

काम ईहा[१]

इसमें कोई संदेह नहीं कि 'उच्चकोटि के जीवों[६]' की काम ईहा का आधार रक्त में आभ्यान्तर रस[७] की मात्रा है। जिस व्यक्ति में इस आभ्यान्तर-रस की मात्रा यथेष्ट नहीं होती उसकी काम ईहा साधारण व्यक्तियों से कम होती है। बालकों में इसका अधिक विकास नहीं होता, इसका मुख्य कारण आभ्यान्तर-रस का विकास न होना ही है। यदि किसी बालिका का डिम्ब निकाल दिया जाय तो उसमें आभ्यान्तर रस की उत्पत्ति न होगी। परिणामस्वरूप उसमें काम ईहा की उत्पत्ति सामान्य रूप से न होगी। युवावस्था के आने पर यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति

1— Sex drive. 2—Reproductive organs. 3—Sex Functions. 4— Testes in the male. 5— Ovaries in the female. 6— Higher animals. 7— Hormones.

में काम ईहा का विकास हो ही जायेगा। किसी विशेष अनुभव के कारण इस ओर उसका समुचित विकास नहीं हो पाता, अथवा विकास होने पर भी उसमें काम-भावना की जागृति नहीं होती। कुछ लोगों की यह धारणा बना दी जाती है कि यह कार्य घृणित है, फलतः उनमें इसके प्रति कोई इच्छा नहीं रह जाती। यद्यपि शारीरिक दृष्टि से उनमें इसके लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं।

काम ईहा की भावना सभी में समान रूप से नहीं पायी जाती। जिसमें आभ्यान्तर रस अधिक मात्रा में होगा, उनमें काम ईहा अधिक होगी। जिसमें इसकी मात्रा बहुत कम होती है वह नपुन्सक हो जाता है। परन्तु प्रत्येक अवस्था में अभ्यन्तर-रस की कमी या अधिकता ही काम ईहा के कम या अधिक होने का कारण नहीं होती। कभी-कभी इसका कारण मानसिक भी होता है। वास्तव में 'रति-संबंधी-उत्कट-इच्छा'[1] स्त्री में किसी वास्तविक या काल्पनिक लैंगिक हीनता की पूर्ति के कारण होती है। पुरुषों में नपुन्सकता और इसके विपरीत 'रति-संबंधी-उत्कट-इच्छा'[2] का कारण शारीरिक न होकर कभी-कभी मानसिक भी होता है।

इससे इस बात का पता लगता है कि मनुष्य में कामेच्छा आभ्यन्तर रस पर उसी प्रकार निर्भर नहीं रहती जिस प्रकार कि भूख पेट की मांसपेशियों के सिकुड़ने पर निर्भर नहीं रहती। वातावरण और मानसिक अवस्थाओं का इस पर काफी प्रभाव पड़ता है। काम भावना का अनुभव मनुष्य को इस ओर प्रेरित करने के लिए सहायक होता है।

कामेच्छा की पूर्ति में शारीरिक बनावट तथा आवश्यकता का अपना विशिष्ट स्थान रहता है। शरीर की बनावट के अनुसार ही आवश्यकतायें होती हैं। शारीरिक दृष्टि से विकृत व्यक्ति की आवश्यकतायें एक सामान्य व्यक्ति से भिन्न होती हैं। आवश्यकताओं और शरीर की

1—Nymphomania. 2—Satyriasis.

बनावट में घनिष्ठ संबन्ध है। अंधे आदमी की आवश्यकता नेत्रयुक्त व्यक्ति की आवश्यकताओं से भिन्न होती हैं। जीवन की कुछ अवस्थाओं में इन आवश्यकताओं की पूर्ति दूसरों पर निर्भर रहती है। मनुष्य का बालक जन्म से ही अपनी इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर सकता। इसके लिए उसे अपने माता-पिता पर निर्भर रहना पड़ता है। परन्तु कुछ निम्नकोटि के जीवों में यह बात नहीं पायी जाती। मकड़े का बच्चा जन्म लेते ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ होता है। गाय का बच्चा जन्मते ही दूध पीने में समर्थ होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि सभी जीवों में कुछ प्रवृत्तियाँ जन्मजात होती हैं। इस प्रकार की जन्म-जात प्रवृत्तियों को मूलप्रवृत्तियाँ कहा जाता है। मनुष्य में अपने अनुभव के आधार पर अपनी आवश्यकताओं में परिवर्तन करने की शक्ति होती है, परन्तु अन्य जीवों में अनुभव के आधार पर सीखने की प्रवृति बहुत कम होती है। वास्तव में मनुष्य के अनुभवों का आधार उसकी बुद्धि ही है। उसमें किसी वस्तु को ठीक से समझने की शक्ति होती है। परन्तु निम्नकोटि के जीवों में यह शक्ति नहीं पायी जाती। यही कारण है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं का विश्लेषण करने में समर्थ होता है।

भोजन में भी आवश्यकतानुसार भिन्नता पायी जाती है। शरीर के पोषण में किन तत्त्वों की आवश्यकता है तथा किन तत्वों की नहीं इसका ज्ञान किसी न किसी रूप में प्रत्येक जीव में रहता है। चूहों के सामने दो प्रकार का भोजन रखने पर वे उसी भोजन को खाने का प्रयत्न करेंगे जिसमें पोषक-तत्व अधिक मात्रा में हैं। इस दृष्टिकोण से निम्नकोटि के जीवों में अपने शरीर के पोषण की आवश्यकतानुसार भोजन चुनने की योग्यता रहती है, परन्तु मनुष्य कभी-कभी ऐसे भोजन की ओर आकर्षित होता है जिसमें पोषक तत्वों की मात्रा यथेष्ट नहीं रहती परन्तु उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति में पोषक-तत्वों की प्राप्ति बनी रहती है।

मनुष्य में निम्नकोटि के जीवों की अपेक्षा आवश्यकताओं के समझने की शक्ति अधिक रहती है। अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि किस प्रकार हो सकती है इसका अनुभव उसे रहता है। इसका अर्थ यह है कि वह अन्य पशुओं की अपेक्षा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना सीखता है। प्रेरणा के अध्ययन में इन सीखी हुई आदतों और योग्यताओं का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि व्यक्ति इनसे केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति ही नह करता, परन्तु बाद में वे स्वयं ईहा का रूप धारण कर लेती हैं। इस प्रकार की इच्छायें कभी-कभी किसी अन्य व्यक्ति को देखकर उससे अधिक प्राप्त करने की इच्छा के कारण भी हो सकती है। किसी बालिका में सिलाई सीखने की इच्छा इसलिए भी हो सकती है कि वह अपने मित्रों की अपेक्षा अधिक आकर्षक कपड़े पहनना चाहती है, यद्यपि उसके पास किसी सामाजिक कार्य में भाग लेने के लिए कपड़े यथेष्ट मात्रा में हैं। इसी प्रकार किसी व्यक्ति को मोटर की केवल इसलिए आवश्यकता हो सकती है जिससे कि वह साधारण व्यक्तियों में मान्यता प्राप्त कर सके, अथवा अपने मित्रों में अधिक श्रेष्ठ हो सके। इस प्रकार की आवश्यकतायें गौण, सामाजिक, और मनोवैज्ञानिक होती हैं। साधारणतया जितना ही शारीरिक कार्यों का क्षेत्र अधिक होगा उतनी ही आवश्यकताओं की मात्रा बढ़ती जायगी। अर्जित आवश्यकताओं का आधार स्नायुओं में भी पाया जाता है, क्योंकि आवश्यकता का अनुभव होने पर शरीर में कुछ विशिष्ट क्रियाओं का संचार होता है। प्राथमिक अथवा गौण आवश्यकताओं में बाह्य वातावरण का भी प्रभाव रहता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि प्राथमिक अथवा गौण आवश्यकताओं का आधार केवल आन्तरिक प्रवृत्तियाँ ही हैं।

अर्जित आवश्यकतायें[1]

व्यक्तित्व के विकास में अन्य बातों के साथ-साथ वातावरण के प्रभाव के महत्व पर भी ध्यान देने की परम आवश्यकता है। वातावरण

1— Derived needs.

का कभी-कभी इतना प्रबल प्रभाव पड़ता है कि व्यक्ति में असंभावित परिवर्तन भी हो जाता है।

वातावरण पर आधारित व्यवहार[1]

प्रत्येक व्यक्ति में समझने की शक्ति उसके अनुभवों के आधार पर भिन्न होती है। एक बात का अर्थ उसके लिए कुछ हो सकता है, परन्तु दूसरे के लिए ठीक उसके विपरीत। इसका मुख्य कारण वातावरण है, जिसके कारण उसकी आंतरिक प्रवृत्ति में परिवर्तन होता है। बालक के भूखे होने पर सेब उसके खाने की वस्तु हो सकता है, लेकिन क्रोध के समय वह इसे चिढ़ाने वाले व्यक्ति पर फेंक कर मार भी सकता है। इस प्रकार वातावरण के दो रूप हो सकते हैं— शारीरिक[3] और मनोवैज्ञानिक। शारीरिक या वाह्य वातावरण का रूप वास्तविक होता है लेकिन मनोवैज्ञानिक वातावरण कल्पना पर आधारित रहता है। शारीरिक वातावरण को परिस्थिति[4] तथा मनोवैज्ञानिक वातावरण को क्षेत्र[5] की संज्ञा भी दी जाती है। शारीरिक परिस्थिति की अपनी एक अलग सत्ता होती है, परन्तु मनोवैज्ञानिक क्षेत्र की सत्ता व्यक्ति के लिए मनोवैज्ञानिक आधार पर ही होती है। परिस्थिति में भोजन हो सकता है लेकिन क्षेत्र में भोजन का रूप वही अथवा दूसरा हो सकता है। भोजन करते समय किसी दुखदायी घटना के सुनाने पर उसका रूप ही बदल सकता है। ऐसी अवस्था में भोजन करने की इच्छा नहीं रह जाती। किसी प्रकार खा लेने पर उसमें स्वाद का अनुभव नहीं मिलता। यही कारण है कि संतुलन रखने के लिए शारीरिक परिस्थिति और मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में साम्य बनाये रखने की आवश्यकता रहती है। साम्यता के न

वातावरण का आवश्यकताओं से सम्बन्ध[2]

1—Behaviour as dependent on the environment. 2—Relation of environment to needs. 3—Physical. 4—Situation. 5—Field.

रहने पर व्यक्ति मानसिक कठिनाई का अनुभव करता है, उसको दूर करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है।

मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार कार्यों की ओर प्रवृत्त होता है, जैसी उसकी आवश्यकता होगी उसी प्रकार वह कार्य करेगा। यही कारण है कि किसी कार्य को हम आकर्षक, प्रोत्साहक, उत्तेजक, घृणास्पद अथवा मोहक कह सकते हैं। जिन वस्तुओं या क्रियाओं में ये गुण होते हैं उन्हें प्रवर्त्तक कहते हैं। इस प्रकार प्रवर्त्तक वह वस्तु, परिस्थिति या क्रिया है जो कि उत्साहित करती है, संतुलित करती है, और उचित व्यवहार बतलाती है। परन्तु इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि एक ही वस्तु किसी समय उत्साहित कर सकती है, और दूसरे समय नहीं। एक ही वस्तु किसी समय मोहक प्रतीत होती है लेकिन दूसरे समय वही घृणास्पद बन जाती है। इस प्रकार कोई भी कार्य अथवा वस्तु किसी भी व्यक्ति के लिये प्रवर्त्तक बन सकती है। यदि आवश्यकता बहुत प्रबल है तो व्यक्ति उसकी पूर्ति के लिए वातावरण के अनुसार भरसक प्रयत्न करता है। लेकिन आवश्यकता के अधिक प्रबल न होने पर व्यक्ति कुछ समय तक शान्त भी रह सकता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति उस समय तक शान्त रहता है जब तक कि बाहर से कोई प्रवर्त्तक नहीं मिलता जिससे प्रेरित होकर वह कार्य कर सके। कभी-कभी भूख के न रहने पर भी सुस्वाद भोजन की सुगंध से प्रेरित होकर भूख का अनुभव होता है। संगीत में रुचि न रहने पर भी किसी मोहक संगीत के वास्तविक महत्व को सुनकर उसके सीखने की इच्छा जाग्रत हो सकती है।

प्रवर्त्तक[1]

सामाजिक वातावरण का प्रभाव शारीरिक वातावरण के प्रभाव से किसी भी रूप में कम नहीं होता। यह ऊपर बताया जा चुका है कि एक मुर्गी, जिसने पेट भर खा लिया है, किसी दूसरी मुर्गी के आने पर उसके

1—Incentives.

साथ फिर से खाने को प्रवृत्त होती है। इसी प्रकार एक बालक किसी वस्तु को, जो कि उसके लिए अच्छी नहीं है, अन्य बालकों को खाते देख कर खाने में प्रवृत्त होता है। कभी-कभी दूसरों की उपस्थिति के कारण भी वह ऐसे कार्यों को ओर प्रवृत्त होता है जिनको कि वह साधारण रूप में नहीं करना चाहता।

हमारी बहुत सी आवश्यकताओं के निर्धारण का आधार सांस्कृतिक होता है। बालक का जन्म ऐसे समाज में होता है जिसके अपने नियम और प्रचलन होते हैं। उन्हीं के अनुसार उसके जीवन का विकास होता है। प्रत्येक समाज की आवश्यकताएँ भी परिस्थिति और वातावरण के अनुसार भिन्न-भिन्न होती हैं। व्यक्ति की आवश्यकताएँ भी इन्हीं के अनुसार होती हैं। बालक को अपने समाज के नियमों को सीखना पड़ता है। इसी के आधार पर उसके व्यवहार का निर्माण होता है। उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है कि किस कार्य को करना उचित है और किस कार्य का करना अनुचित। प्राथमिक आवश्यकताओं का निर्धारण गौण आवश्यकताओं के समान सामाजिक सिद्धांतों पर ही होता है। इसी लिए भोजन सामग्री एक देश की दूसरे देश से भिन्न होती है। कहीं-कहीं पर किसी विशेष पशु का मांस खाना वर्जित है परन्तु दूसरे देश में ऐसा नहीं है। कुछ लोग मांस खाना हिंसात्मक और अनुचित समझते हैं और कुछ लोग इसको ठीक मानते हैं। इस प्रकार की भिन्नता का आधार जातिगत नहीं होता परन्तु भिन्न संस्कृति के कारण आवश्यकतायें भी भिन्न हो जाती हैं।

आवश्यकताओं का सांस्कृतिक निर्धारण[1]

मनुष्य के बालक को जीवित रहने के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस तथ्य के कारण माता अपने शिशु को सभी प्रकार से पालन-पोषण करने में संलग्न रहती है। परन्तु कुछ ऐसे भी देश हैं जहाँ

1—Cultural determination of Needs.

पर बालकों के पालन-पोषण के लिए माताएँ इस रूप में संलग्न नहीं रहती। कहीं-कहीं पर बालकों का विक्रय भी होता है। कुछ जातियाँ इतनी कठोर होती हैं कि वे अपने बालकों को टोकरी में डाल देती हैं, और उन पर बहुत कम ध्यान रखती हैं। फलतः बहुत कम बालक जीवित रह पाते हैं।

मानव व्यवहार का दूसरा रूप उलझन अथवा झगड़े के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। आपस में झगड़े का निबटारा सभी स्थानों पर एक ही तरह नहीं होता। एस्कीमो जाति अपने झगड़े का निबटारा सामान्य लड़ाई में करते हैं जिसमें एक दूसरे के विरुद्ध गालियों का प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी एक ही समाज में झगड़े का निबटारा कई रूपों में होता है। इस प्रकार यह संभव है कि किसी व्यवहार की आधाररूप आवश्यकताओं के विषय में जाना जा सके। मानव-विज्ञान[1] की खोजों के पहले यह समझा जाता था कि सभी समाजों की आवश्यकतायें एक ही समान होती हैं, परंतु अब यह मत समीचीन नहीं है। प्रत्येक समाज की संस्कृति भिन्न होती है और वातावरण तथा परिस्थिति के अनुसार उसकी आवश्यकतायें भी भिन्न होती हैं।

आवश्यकता की परिभाषा

आवश्यकता को समझने के लिए अभी तक बहुत कुछ कहा जा चुका है। उसी के आधार पर आवश्यकता की परिभाषा इस प्रकार हो सकती है। प्राणी के अन्दर आवश्यकता वह तनाव है जो कि किसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उपस्थित वातारवण को संघटित करता है तथा उसी के अनुरूप कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। किसी भी आवश्यकता के लिए कुछ ऐसे कार्य या वस्तुयें होती हैं जिनकी पूर्ति हो जाने पर तनाव कम हो जाता है। यहाँ पर यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि मनो-

1— Anthropology.

वैज्ञानिक रूप में आवश्यकता, स्थिति और व्यवस्था में कोई अन्तर नहीं है। इसका प्रयोग समयानुसार अलग-अलग अर्थ में किया जाता है। आवश्यकताओं में गुण के अनुसार भी भेद होता है। प्राथमिक आवश्यकताओं, जैसे भोजन, कामेच्छा आदि, तथा गौण आवश्यकताओं जैसे स्वतंत्रता, श्रेष्ठत्व, आदि का भेद गुण के अनुसार ही है।

आवश्यकताओं का माप[1]

गुण के अनुसार भेद होने के साथ-साथ आवश्यकताओं का एक रूप परिमाणात्मक[2] भी है। इस प्रकार आवश्यकताओं का माप करना संभव है। वास्तव में किसी भी आवश्यकता का माप सीधे रूप में नहीं किया जा सकता, इसलिए इसका माप चेतना पर पड़े हुए प्रभाव के आधार पर किया जा सकता है। आवश्यकता के अनुसार व्यवहार में भी परिवर्तन होता है। इस प्रकार आवश्यकतानुसार व्यवहार अथवा चेतना के परिवर्तन को देखकर उसकी प्रबलता का माप हो सकता है।

आवश्यकताओं के माप की एक प्रणाली अवरोध विधि है जिसके द्वारा किसी आवश्यकता की शक्ति को जाना जा सकता है। इस विधि का प्रयोग अधिकतर पशुओं की ईहाओं की प्रबलता को जानने के लिए किया गया है किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कुछ प्रयत्न करने की आवश्यकता पड़ती है। उस प्रयत्न में बाधा उपस्थित करने पर उसका रूप बदल जाता है। उस परिवर्तन के आधार पर उसका माप करना संभव है। इस विधि में किसी एक आवश्यकता की माप नहीं की जाती, परन्तु परस्पर विरोधी दो आवश्यकताओं की माप की जाती है। उदाहरणार्थ भोजन पाने की इच्छा अवरोधक अवस्था के दर्द से अधिक है तो वह बार-बार प्रयत्न

अवरोध विधि[3]

1—Measurement of Needs. 2—Quantitative. 3—Obstruction method.

करेगा। परन्तु आवश्यकताओं की तीव्रता समयानुसार कम या अधिक होती रहती है इसलिए कभी-कभी दर्द का अनुभव होने पर भोजन पाने का प्रयत्न बन्द हो जाता है। इस विधि के प्रयोग से पशुओं की विभिन्न आवश्यकताओं की प्रबलता को मापने का प्रयत्न किया गया है। अभी तक के अन्वेषण से इस बात का पता लगता है कि मातृत्व-आवश्यकता[1] की तीव्रता सबसे अधिक रहती है। इसके बाद प्यास, भूख, काम आदि आवश्यकतायें आती हैं।

आवश्यकतायें एक दूसरे से संबंधित रहती हैं। भूख की व्याकुलता से मनुष्य या पशु दोनों में ही काम की आवश्यकता कम हो जाती है। चूहों में पानी की कमी के कारण भोजन पाने की इच्छा कम हो जाती है। इसी प्रकार का संबन्ध मनुष्यों में भी पाया जाता है। अपने बालक के पालन-पोषण के समक्ष माता की अधिक आकर्षक कपड़े पहनने की इच्छा कम हो सकती है। मोटापा कम करने की इच्छा के कारण भोजन पाने की इच्छा कम हो सकती है। इस प्रकार आवश्यकताओं का माप उनकी प्रबलता के आधार पर किया जा सकता है।

सीखने की क्रिया द्वारा आवश्यकता का माप[2]

आवश्यकताओं को मापने की दूसरी विधि सीखने की क्रिया के आधार पर है जिसके द्वारा यह जाना जाता है कि किसी कार्य को करने में वह कितना सतर्क और इच्छुक है। यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि किसी कार्य को करने के लिए प्रेरणा की आवश्यकता रहती है। जिस कार्य को पूरा करने के लिए प्रेरणा जितनी ही प्रबल होगी वह कार्य उतनी कुशलता और सरलता से पूर्ण किया जा सकता है। प्रेरणा की तीव्रता के अनुसार ही किसी क्रिया को सीखने में समय लगेगा। विभिन्न प्रयोगों से यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है कि जितनी ही प्रबल प्रेरणा होगी उतनी ही शीघ्रता से कार्य सीखा

1— Maternal need. 2— Learning method.

जा सकता है। चूहों के तीन समूहों पर प्रयोग किये जाने से यह ज्ञात हुआ कि अनुपात में जिस समूह के चूहों की भूख अधिक थी उसने दूसरों की अपेक्षा अधिक तत्परता और शीघ्रता से कार्य को सीख लिया। इसी प्रकार बालकों पर भी प्रेरणा का प्रभाव पड़ता है। इनाम पाने की लालसा में बालक अधिक परिश्रम से पढ़ सकता है। साधारण जीवन में इसका अनुभव सभी को होता है। चाकलेट, बिस्कुट, पैसे आदि देकर बालकों से आसानी से काम लिया जा सकता है। इनाम की मात्रा का भी कार्य में प्रभाव पड़ता है? अधिक इनाम से कार्य करने की प्रेरणा भी अधिक हो जाती है। इसीलिए थोड़े इनाम से कार्य की पूर्ति न होने पर इनाम की मात्रा बढ़ा दी जाती है। इनाम की मात्रा के साथ-साथ उसके प्रकार का भी प्रभाव विशिष्ट होता है। पैसे की लालसा से बालक अधिक कार्य कर सकता है, परन्तु अन्य खाने की वस्तु पाने पर वह कार्य करने के लिए इतना प्रेरित नहीं हो सकता।

आवश्यकता के कुछ प्रभाव

आवश्यकता की पूर्ति प्रत्येक प्राणी चाहता है और इसके लिए उसे प्रयत्नशील होना पड़ता है। इसीलिए जिस प्रकार की आवश्यकता होगी उसी प्रकार की क्रिया होगी। इस प्रकार हमारी विभिन्न क्रियायें आवश्यकताओं से प्रभावित होती रहती हैं। उदाहरणार्थ, प्रत्यक्षीकरण[१], संवेदनशीलता[२], कल्पना[३], विचार[४] और दृढ़ता[५] आदि हमारी किसी आवश्यकता पर ही आधारित रहती हैं। मानसिक उलझन का कारण भी हमारी किसी आवश्यकता की पूर्ति न होने के कारण ही होती है। इसलिए यह आवश्यक है कि आवश्यकताओं की पूर्ति किसी न किसी रूप में हो, अन्यथा उसका प्रभाव शरीर और मन दोनों पर पड़ता है।

1—Perception. 2—Sensitivity. 3—Imagination. 4—Thougप्त
5—Persistence.

किसी वस्तु की आवश्यकता जितनी ही अधिक होगी व्यक्ति उतना ही प्रयत्नशील होगा। ऊपर सीखने की क्रिया में आवश्यकता का प्रभाव देख चुके हैं। सीखने के बाद व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है, इसलिए वहाँ वस्तु अब उसके लिए दूसरे रूप में दिखाई पड़ती है। टाइप मशीन के अंकों का रूप नये सीखने वाले के लिए सीखे हुए व्यक्ति से भिन्न होगा। इसको हम एक उदाहरण से इस प्रकार समझ सकते हैं। एक बालक कमरे में खेल रहा है। कुछ खाने की वस्तु कमरे के बाहर रखी हुई है जो कि कमरे के भीतर से दिखाई पड़ती है। जब तक बालक को भूख नहीं लगती उस समय तक उसका ध्यान उस ओर नहीं जाता। उसको देख लेने पर भी उस पर ध्यान नहीं देता। परन्तु भूख लगने पर वह उस खाने की वस्तु को पाने का प्रयत्न करता है? यहाँ पर भूख लगने पर उसे खाने की वस्तु की आवश्यकता होती है, इसीलिए उसका ध्यान उसकी ओर आकर्षित होता है और वह उसको पाने के लिए प्रयत्न करता है। इस प्रकार आवश्यकता पड़ने पर प्रत्यक्षीकरण पर प्रभाव पड़ता है।

प्रत्यक्षीकरण और कल्पना पर प्रभाव

उलझन या मानसिक अव्यवस्था का मुख्य कारण आवश्यकताओं की पूर्ति न होना ही है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति किसी न किसी रूप में करना चाहता है। जिस समय उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति का कोई प्रत्यक्ष रूप नहीं दिखाई पड़ता उस समय वह कल्पना का सहारा लेता है। कल्पना के द्वारा वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का अनुभव करता है? इसलिए वह वास्तविक जगत से दूर हट जाता है। साधारण रूप में आवश्यकता की प्राप्ति अधिक कठिन होने पर व्यक्ति कल्पना का सहारा लेता है। यदि इसी प्रकार उसका प्रयत्न सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है तो वह धीरे-धीरे भाव जगत का प्राणी बन जाता है। ऐसी स्थिति में उसकी दशा शोचनीय हो जाती है क्योंकि उसकी सभी आव-

श्यकतायें वास्तविकता से हटकर केवल काल्पनिक पूर्ति में ही लगी रहती हैं। धीरे-धीरे ऐसे व्यक्ति मानसिक रोगी बन जाते हैं। हम सभी लोग कभी न कभी कल्पना का सहारा लेकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयत्न करते हैं, परन्तु अत्यधिक कल्पना का सहारा लेने पर बाद में मानसिक रोगों के शिकार बन जाने की संभावना रहती है। भोजन की कमी होने के कारण कुछ लोग अच्छी दावतों का स्वप्न देखते हैं अथवा अच्छे भोजन की कल्पना किया करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति किसी भी रूप में उलझन में नहीं रहना चाहता। प्रत्येक उलझन का रूप मानसिक होने के कारण मन द्वारा उसकी पूर्ति की कल्पना करने पर उसे कुछ सान्त्वना मिलती है, इस प्रकार थोड़ी देर के लिए उसे उलझन से छुटकारा मिल जाता है।

संवेदनशीलता पर प्रभाव

आवश्यकता का प्रभाव मन और शरीर दोनों पर पड़ता है। यही कारण है कि आवश्यकता का अनुभव करने पर व्यक्ति उसकी पूर्ति के प्रति अधिक चेतन हो जाता है ? इसी को संवेदनशीलता कहते हैं। भूखे व्यक्ति की संवेदनशीलता गंध और स्वर के संबंध में बढ़ जाती है, क्योंकि उस समय उसे भोजन की आवश्यकता रहती है और इस आवश्यकता की पूर्ति सुस्वादु भोजन से भली प्रकार की जा सकती है। अधिक दिनों तक उपवास करने पर यह देखा गया है कि उस व्यक्ति की स्पर्श से अनुभव करने की शक्ति बढ़ जाती है। किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रवर्त्तक वस्तु के देखने पर प्रतिक्रिया होती है। इस प्रतिक्रिया के आधार पर संवेदनशीलता की माप की जा सकती है। पशुओं और बालकों पर किये गये प्रयोगों के आधार पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भूख लगने पर उनकी संवेदनशीलता बढ़ जाती है।

आवश्यकताओं की पूर्ति सर्वदा प्रथम प्रयास में ही नहीं हो जाती इसीलिए व्यक्ति को बार-बार प्रयत्न करना पड़ता है। उसके प्रयत्न उस समय तक चलते रहते हैं जब तक कि उसके उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो

जाती। उसके प्रयत्न अधिकतर आवश्यकता पर आधारित रहते हैं। यदि आवश्यकता का रूप अधिक प्रबल है तो वह अपने प्रयत्न को बराबर चलाये रखेगा? साधारण आवश्यकता पर व्यक्ति अधिक प्रयत्नशील नहीं होते। जिन व्यक्तियों की आत्मशक्ति दृढ़ नहीं होती वे लोग थोड़ी सी बाधाओं के समक्ष हार मान लेते हैं। दृढ़ स्वभाव वाले व्यक्ति अधिकतर बाधाओं के आने पर और अधिक उत्तेजित होकर कार्य करते हैं। ऐसे व्यक्ति बाद में अपने कार्यों में सफल हो जाते हैं। परीक्षा में अनुत्तीर्ण व्यक्ति अपनी त्रुटियों पर ध्यान नहीं देता। ऐसे व्यक्ति दृढ़ स्वभाव वाले नहीं होते? परन्तु कुछ लोग अपनी त्रुटियों के सुधारने में प्रयत्नशील होते हैं। किसी भी कठिन कार्य को करने के लिए दृढ़ स्वभाव होना परम आवश्यक है। किसी बड़े लक्ष्य की पूर्ति के लिए दृढ़ होना परम आवश्यक है। कार्य के पूर्ण होने पर अधिकतर लोग भूल जाते हैं, परन्तु अधूरे कार्य को सरलता से स्मरण रखा जा सकता है।

दृढ़ता पर प्रभाव

किसी वस्तु को सीखने के लिए कुछ तनाव की आवश्यकता रहती है। तनाव से एक प्रकार की मानसिक उलझन रहती है। यह मानसिक क्रिया के सीख लेने पर समाप्त हो जाती है। आवश्यकता की पूर्ति में बहुत अधिक कठिनाई होने पर व्यक्ति में उलझन की मात्रा बढ़ जाती है और वह अपने कार्य से अलग हो जाता है। जिन व्यक्तियों में सहनशीलता अधिक होती है वे लोग इन कठिनाइयों का सामना करने में अव्यवस्थित नहीं होते। कुछ लोग थोड़ी सी कठिनाई आने पर उलझन का अनुभव करने लगते हैं। किसी भी बड़े कार्य को करने के लिए सहनशीलता और धैर्य का होना परम आवश्यक है क्योंकि ऐसे कार्यों की पूर्ति प्रथम प्रयास में ही नहीं हो जाती। सहनशीलता होने पर व्यक्ति

उलझन में सहनशीलता[1]

1—Frustration Tolerance.

का मानसिक संतुलन नहीं बिगड़ता? मानसिक संतुलन बिगड़ जाने पर व्यक्ति किसी विषय पर उचित ढंग से नहीं विचार कर सकता। अचानक किसी आफत के आने पर सहनशील व्यक्ति ही उसका सामना उचित ढंग से कर सकता है। किसी स्थान पर आग लगने पर अधिकतर लोग घबड़ाहट के कारण उचित रीति से आग बुझाने के लिए प्रयत्न नहीं करते। मनोविज्ञान की प्रमुख समस्याओं में केवल सामान्य सहनशीलता की अवस्थाओं का अध्ययन करना ही नहीं है, परन्तु विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करने में उलझन का अनुभव होने पर विशिष्ट सहनशीलता के विषय में जानना भी है।

आवश्यकताओं के सम्बन्ध में वैयक्तिक विभिन्नता[1]

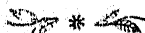
आवश्यकताओं पर परिस्थितियों और वातावरण का प्रभाव पड़ता है। इसीलिए देश, काल और समाज की भिन्नता के साथ आवश्यकताओं में भी भिन्नता पायी जाती है। गरम देश के लोगों की आवश्यकतायें ठंढे देश के लोगों की आवश्यकताओं से भिन्न होंगी। आवश्यकताओं के अनुरूप ही व्यक्तित्व का विकास होता है। किसी के व्यक्तित्व को जानने के लिए आवश्यकताओं के विषय में जानना आवश्यक है। साधारण व्यक्तियों की आवश्यकतायें भी साधारण होती हैं। एक पढ़े-लिखे व्यक्ति की आवश्यकतायें अनपढ़ व्यक्ति से बिल्कुल भिन्न होती हैं। अनपढ़ व्यक्ति के लिए उच्चकोटि के साहित्य का कोई महत्त्व नहीं। यहाँ पर यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि आवश्यकतायें एक दूसरे से संबंधित रहती हैं? कलम की आवश्यकता के साथ स्याही की भी आवश्यकता रहती है। मोटर की आवश्यकता के साथ पेट्रोल की भी आवश्यकता रहती है।

जिन आवश्यकताओं के विषय में व्यक्ति चेतन रहता है उन्हें कभी-कभी 'अहम्-आवश्यकतायें[2], भी कहते हैं, क्योंकि 'अहम्' व्यक्ति

1— Individual differences in respect of needs. 2— Ego needs.

के उस भाग को कहते हैं जो कि जानता, इच्छा करता और चाहता है। जिन आवश्यकताओं के विषय में व्यक्ति अपनी आवश्यकतायें समझता है और जिनकी पूर्ति के लिए वह प्रयत्न करता है उन्हें 'अहम्-आवश्यकताओं' की संज्ञा दी जाती है। प्रेरणा में भी 'अहम्' का विशेष महत्त्व है। जो आवश्यकतायें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं वे साधारणतया अन्य आवश्यकताओं से भिन्न समझी जाती हैं।

आवश्यकताओं की पूर्ति सरलता से हो जाने पर उनका संबंध अहम् से नहीं होता। प्राणवायु की प्राप्ति मनुष्य के लिए परम आवश्यक है परन्तु इसमें उसका अहम् कार्य नहीं करता, क्योंकि इसकी प्राप्ति सरलता से हो जाती है। यदि प्राणवायु की प्राप्ति इतनी सरल न होती और इसकी प्राप्ति के लिए दूसरों की सहायता की आवश्यकता पड़ती तो इसका रूप 'अहम्-आवश्यकता' में बदल जाता। 'अहम्-आवश्यकतायें' अधिकतर स्वार्थ-पूर्ण होती हैं, परन्तु सर्वदा नहीं। कभी-कभी व्यक्ति परोपकार के लिए भी अहम्-आवश्यकताओं का अनुभव करता है। जो व्यक्ति देश में सुख-शान्ति चाहते हैं उनकी भावनायें ऐसी आवश्यकताओं का सहारा लेती हैं।



अध्याय—१९

चिंतन (Thinking)

मनुष्य चिंतनशील प्राणी है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में वातावरण के अनुसार कार्य करने की क्षमता मनुष्य में यथेष्ट है। चिंतन शक्ति के कारण ही मनुष्य पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। इसी चिंतनशक्ति के आधार पर उसकी तर्क शक्ति का विकास होता है। जीवन के सामञ्जस्य का आधार उसकी तर्कपूर्ण सुव्यवस्था ही है। इसीलिए किसी भी क्षण मनुष्य शान्त होकर नहीं बैठता। कुछ न कुछ विचार करता ही रहता है यहाँ तक कि सुषुप्ति अवस्था को छोड़कर स्वप्न आदि के रूप में उसका विचार चक्र चलता ही रहता है। विचार शून्य अवस्था का सचेतन प्रत्यक्षीकरण उसके लिए बहुत कठिन है। चिंतन कार्य का यह व्यापार अबाध गति से चलता रहता है कभी वह सुख का अनुभव करता है और कभी दु:ख का। वस्तुतः उसके प्रत्येक कार्य का आधार चिंतन है। लेकिन चिंतन के लिए किसी भाषा की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि भाषा में विचारों को व्यक्त करने की क्षमता होती है। जिन विचारों के लिए उसे उपयुक्त शब्द नहीं मिलते उनको व्यक्त करना संभव नहीं पाता। इसीलिए मनुष्य का चिंतन किसी न किसी भाषा के माध्यम से ही होता है। आन्तरिक अनुभूति को प्रकट करने में वह इसीलिए असमर्थ रहता है कि उसको व्यक्त करने के लिए भाषा उपयुक्त नहीं है। अतः भाषा की समृद्धि श्रेष्ठ विचारों को व्यक्त करने में बड़ी सहायक होती है।

चिंतन और तर्क दोनों का आधार भाषा है। लेकिन दोनों में मूलतः भेद न होते हुए भी व्यवस्था की दृष्टि से भेद है। तर्क में चिंतन की आवश्यकता पड़ती है, लेकिन चिंतन का तर्कपूर्ण होना सर्वथा आवश्यक नहीं। तर्क चिंतन के सही और ग़लत होने का विश्लेषण करता है। चिंतन में कल्पना की भी आवश्यकता पड़ती है। कठिन समस्या के समाधान में हमें कल्पना का ही सहारा लेना पड़ता है। इस कल्पना की जाँच तर्क द्वारा होती है। तर्कपूर्ण होने पर ही कल्पना मान्य होती है। यह कल्पना गलत भी हो सकती है। ऐसी दशा में दूसरी कल्पना का सहारा लेकर समस्या का समाधान ढूँढ़ते हैं। इस प्रयास और भूल की विधि के सहारे अन्त में ठीक रास्ते पर पहुँच जाते हैं। तर्क करने में परिणाम पर पहुँचने का प्रयोजन रहता है, लेकिन चिंतन निष्प्रयोजन भी हो सकता है। तर्क की अपनी एक व्यवस्था है, लेकिन चिंतन अव्यवस्थित रूप में भी चलता रहता है। चिंतन कई प्रकार का होता है। कल्पनात्मक अथवा स्मरणात्मक चिंतन तथा विस्तृत चिंतन में भेद होता है। विस्तृत चिंतन में वस्तु के सभी रूपों पर विचार किया जाता है। लेकिन कल्पनात्मक या स्मरणात्मक चिंतन में सभी रूपों पर ध्यान नहीं रहता। विचारों का रूप जितना ही विस्तृत होगा उतना ही विभिन्न साधनों की आवश्यकता पड़ेगी। इन साधनों के बिना चिंतन का कार्य नहीं चल सकता। साधनों को भलीभाँति समझने के लिए उनका अलग-अलग विवेचन अपेक्षित है।

किसी विषय पर चिंतन करने के लिए वस्तु और उससे संबंधित वस्तुओं के विषय में जानने की आवश्यकता पड़ती है। इसी के आधार पर अपने चिंतन की वास्तविकता का पता लगता है। इन संबंधों का निरूपण कई रूपों में होता है। इन्हीं रूपों को चिंतन के साधन कहते हैं। कुछ वस्तुओं के जानने के लिए कई शब्दों की आवश्यकता पड़ती रहती है, परन्तु कहीं-कहीं पर केवल सांकेतिक चिन्हों द्वारा पूरा अर्थ समझ

चिंतन के साधन

लिया जाता है। इस प्रकार चिंतन के तीन मुख्य साधन होते हैं—वस्तु[1], प्रत्यय[2] और चिह्न[3]।

(१) वस्तु

चिंतन के लिए किसी वस्तु की आवश्यकता पड़ती है। वस्तुगत विचारों से हमें उनकी स्पष्टता का पता लगता है। वस्तुओं के तीन विभिन्न रूप होते हैं—

(अ) *विशिष्ट वस्तुएँ*[4]—किसी विशेष वस्तु का नाम लेने से उसके स्वरूप का ध्यान आ जाता है। उदाहरणार्थ, 'स्कूल' शब्द को कहते ही उससे संबंधित सभी मुख्य बातों का ध्यान आ जाता है। सामान्य कथन को समझने के लिए हमें विशिष्ट वस्तुओं के निरूपण की आवश्यकता पड़ती है।

(ब) *सामान्य वस्तुएँ*[5]—किसी त्रिकोण की कल्पना करते ही किसी विशिष्ट त्रिकोण का विचार नहीं आता। क्योंकि त्रिकोण किसी वस्तु के अन्तर्गत नहीं आता जिसका मूर्त रूप हमारे सामने हो। लेकिन ज्यामित की किसी समस्या के समाधान में हमें किसी विशिष्ट त्रिकोण को लेकर चलता पड़ता है।

(स) *गतियुक्त वस्तुएँ*[6]—किसी गेंद के विषय में विचार करने पर उसके लक्षणों के साथ उछलने का भी ध्यान आता है। 'पत्थर' के देखने पर उसके भारीपन के साथ लुढ़कने या अपने आधार से गिरने के विषय में विचार करने लगते हैं।

जब तक कि हमारे विचार प्रत्यय का रूप धारण नहीं कर लेते उस समय तक उनको व्यक्त करना संभव नहीं है। वस्तु के विचार करने पर

(२) प्रत्यय

मस्तिष्क में केवल उसकी छाया मात्र ही बनती है, लेकिन प्रत्यय के द्वारा वस्तु के विशिष्ट गुणों का ज्ञान प्राप्त होता है। यहाँ पर यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि जहाँ तक सामान्य विचारों के व्यक्त करने का संबंध

1—Objects. 2—Concepts. 3—Symbols. 4—Specific objects. 5—Generalised objects. 6—Objects with dynamic properties.

है उसके लिए किसी विशिष्ट वस्तु को न लेकर ऐसी वस्तु को लेते हैं जो कि समान रूप से अन्य वस्तुओं के लिए भी लागू होती हो। श्याम का घर, कहने पर हमें किसी सामान्य घर के विषय में विचार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु प्रत्यय में किसी व्यक्तिगत वस्तु को न लेकर सामान्य वस्तु को ग्रहण करते हैं।

चिह्नों के द्वारा चिन्तन में मितव्ययिता आती है। एक चिह्न के द्वारा वस्तु के कई गुणों का स्पष्टीकरण होता है। प्रत्ययों का प्रकाशन चिंतन में चिह्नों का प्रयोग करने से होता है। चिह्नों का प्रयोग बीजगणित में स्पष्ट रूप से मिलता है। साधारणतया भाषा को सरल बनाने के लिए कुछ ऐसे चिह्नों का प्रयोग किया जाता है जिनके द्वारा अन्य गुणों का भी आभास मिलता है। किसी सड़क के मोड़ पर लगा हुआ लाल × का चिह्न खतरे की सूचना देता है। इस चिह्न पर ध्यान जाते ही मोटर-चालक को तुरन्त यह विचार आ जाता है कि आगे कोई खतरा है, इसलिए मोटर को धीमा करना चाहिए। इस प्रकार प्रत्यय स्थान के लिये अपने विशिष्ट चिह्न होते हैं। किसी एक चिह्न को पूर्णतया समझ लेने पर उससे संबंधित सभी वस्तुओं को ध्यान में रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वरन् चिह्न का विचार करते ही सभी तत्सम्बन्धित वस्तुओं पर ध्यान अपने आप चला जाता है। चिंतन की प्रक्रिया चिन्हों के बिना ठीक ढंग पर नहीं चल सकती। वस्तु और प्रत्यय के साथ चिंतन के साधनों में चिह्नों का अपना विशिष्ट स्थान है। चिह्नों के ही आधार पर गूढ़ विचारों में संलग्न रहना संभव है।

(३) चिह्न

चिन्तन में भाषा का स्थान

चिंतन को व्यक्त करने के लिए भाषा ही उपयुक्त और सर्वश्रेष्ठ साधन है। किसी भी विचार को जब तक भाषा का रूप नहीं दिया जाता उसको स्वयं समझना और दूसरों को स्पष्ट करना संभव नहीं है। जिनके

पास भाषा का साधन नहीं हैं वे सांकेतिक भाषा का प्रयोग करते हैं। इन संकेतों को समझने वाले ही इससे लाभ उठा सकते हैं। वास्तव में मनुष्य की भाषा सांकेतिक चिन्हों का ही विकसित रूप है। अपने व्यापक क्षेत्र के कारण मनुष्य की भाषा सभी प्रकार के कार्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। इसीलिए जिसका जितना ही शब्द ज्ञान अच्छा होगा वह उतनी स्पष्टता और सरलता से अपने भावों को व्यक्त करने में समर्थ होगा। स्पष्ट है कि भाषा-विकास का पर्याप्त ज्ञान न होना चिंतन को सुचारु रूप से चलाने में पूर्ण सहायक नहीं हो सकता। कुछ लोग विचार करते समय बोलने भी लगते हैं। इससे यह ज्ञात होता कि उस समय बोलकर उस चिंतन को स्पष्ट रूप देना चाहते हैं जिससे कि समझने में सरलता होती है। पढ़ते समय जहाँ कहीं भी कठिन विषय आता है तो अधिकांश लोग जोर से बोलकर पढ़ने लगते हैं। जिन लोगों को बोलकर पढ़ने की आदत नहीं है ये भी कभी-कभी बोलकर पढ़ने लगते हैं।

इस प्रकार यह देखते हैं कि बिना भाषा के चिन्तन एक प्रकार से असंभव ही है। चिंतन में भाषा के चार मुख्य कार्य हैं :—

(१) भाषा के द्वारा ही एक व्यक्ति अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाने में सफल होता है। जिनको अधिक शब्द ज्ञान नहीं है वे अपने भावों को उसी रूप में व्यक्त नहीं कर पाते, अथवा यदि अन्य व्यक्ति का शब्द ज्ञान पर्याप्त नहीं है तो वह दूसरे के विचारों को उसी रूप में नहीं समझ पाता।

(२) भाषा के द्वारा अन्य व्यक्ति को किसी कार्य के लिए प्रेरित किया जा सकता है। उत्साहपूर्ण राष्ट्रीय गीतों से देश-प्रेम की भावना प्रबल होती है। किसी के अचानक 'आग' कहने पर, उस स्थान पर आग न होते हुए भी, लोग भागने या उससे बचने के लिए प्रेरित होते हैं।

(३) मानसिक उलझन के समय सुन्दर विचारों से सान्त्वना मिलती है। अपनी मानसिक अनुभूतियों को भाषा के माध्यम द्वारा दूसरों से

स्पष्ट किया जा सकता है। अपने मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को दूसरों से स्पष्ट करके कम किया जा सकता है। इसका अनुभव जीवन में किसी क्षण प्रत्येक व्यक्ति को होता है।

(४) चिंतन में भाषा का स्थान इस बात से ही स्पष्ट हो जाता है कि बिना किसी भाषा को माध्यम बनाये किसी विषय पर विचार ही नहीं किया जा सकता। मानव जीवन का सर्वतोमुखी विकास भाषा के विकास के अनुरूप ही हो सका है। जिस देश की भाषा का जितना ही विकास होता है वह देश उतना ही उन्नत समझा जाता है।

उपर्युक्त भाषा के गुणों के अतिरिक्त चिंतन के विभिन्न रूपों का समन्वय और एकत्रीकरण भी भाषा पर ही आधारित है। जिस विषय को हम फिर से स्मरण करना चाहते हैं उसे भाषा के माध्यम द्वारा ठीक प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं। उससे संबंधित सभी वस्तुओं को एक स्थान पर लाने के लिए भाषा की सहायता परम आवश्यक है। अपने किसी विचार को स्थायी रूप प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि यह उसे किसी भाषा के रूप में निबद्ध कर दें। पुस्तकों में वर्णित विचारों का यही रूप है। भाषा के रूप में निबद्ध किए हुये विचारों का फिर से प्रयोग किया जा सकता है। इसका भी अपना एक विशेष ढंग होता है।

भाषा की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए यह देखना भी आवश्यक है कि उसके प्रयोग में किस प्रकार सतर्क रहना चाहिए। जिस शब्द के कई अर्थ निकलते हैं उसके प्रयोग में विशेष ध्यान देना पड़ता है। कुछ शब्दों में अर्थ का निरूपण परिस्थिति के अनुसार किया जाता है। भोजन करते समय किसी के 'सैन्धव' कहने पर 'नमक' के स्थान पर 'घोड़ा' लाना हास्यास्पद ही होगा *। यहाँ पर केवल शब्द का आधार न लेकर उसके आशय पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। आशय से भिन्न अर्थ निकालना कभी भी ठीक नहीं समझा जाता।

---

* संस्कृत के "सैन्धव" शब्द का अर्थ नमक तथा अश्व (घोड़ा) दोनों होता है।

चिन्तन करने के ढङ्ग[1]

प्रत्येक विचार किसी नये सिद्धान्त की खोज के लिए पूर्व अनुभव के आधार पर किया जाता है। प्रथम प्रकार के चिंतन को व्यावहारिक[2] और दूसरे प्रकार के चिंतन को अन्वेषणात्मक[3] कहते हैं। पहाड़ पर धुआँ देखते ही हम यह अनुमान लगाते हैं कि वहाँ अग्नि होगी। इसका आधार हमारा पूर्व अनुभव है क्योंकि हमने कई बार यह अनुभव किया है कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। इस प्रकार धुआँ और अग्नि का व्याप्ति[4] संबंध एक सिद्धान्त का रूप ले लेता है। इस सिद्धान्त का कभी बाध नहीं होता। व्याप्ति संबंध का एक बार भी बाध होने पर अनुमान निश्चयात्मक नहीं हो सकता। व्यावहारिक विचार में वस्तु स्थिति का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। अन्वेषणात्मक चिंतन में हम भविष्य के लिए एक सिद्धान्त को उपस्थित करने का प्रयत्न करते हैं। इसके लिए विभिन्न कल्पनाओं का सहारा लेना पड़ता है। आधुनिक नये-नये अन्वेषण इसी रीति के अनुसार होते हैं। परन्तु नये सिद्धान्तों को उचित ढंग पर रखने की क्षमता व्यक्ति की अपनी बुद्धि-शक्ति पर निर्भर रहती है जिसके आधार पर वह नये सिंद्धान्त की खोज में विभिन्न कल्पनायें करता है। किसी समस्या के समाधान के लिए यह आवश्यक है कि उससे संबंधित सभी वस्तुओं पर विचार किया जाय, और यह उसी व्यक्ति के द्वारा संभव है जिसकी बुद्धि सूक्ष्म और प्रखर है।

समस्या और उसका समाधान

जब किसी इच्छित वस्तु के पाने में कोई बाधा उपस्थित होती है तब उसको दूर करना ही हमारे लिए समस्या बन जाती है। आवश्यक उप-

1—Kinds of reasoning. 2—Deductive reasoning. 3—Inductive reasoning. 4—Generalization.

करणों की सहायता से हम समस्या के समाधान की ओर प्रेरित होते हैं। साधारणतया समस्या के समाधान में बाधा पहुँचने पर मनुष्य एक प्रकार की उलझन अनुभव करता है। किसी तीव्र इच्छा की पूर्ति न हो सकने के कारण कुछ लोग मानसिक बीमारियों से ग्रसित हो जाते हैं। ये मानसिक बीमारियाँ कभी-कभी उग्र रूप धारण कर लेती हैं। इच्छा की पूर्ति अथवा उसका मार्गान्तरीकरण ही ऐसी मानसिक बीमारियों को अच्छा कर सकता है।

किसी समस्या के समाधान के लिए कभी-कभी केवल चिंतन की ही आवश्यकता पड़ती है। कुछ में चिंतन और शारीरिक कार्य दोनों से सहायता लेना पड़ता है। समस्या के समाधान में अपने पूर्व अनुभवों को भी प्रयोग में लाया जाता है। इसके साथ-साथ समस्या से संबन्धित सभी बातों पर भी ध्यान रखने की आवश्यकता होती है। किसी आवश्यक वस्तु की उपेक्षा से समस्या के समाधान में बाधा पहुँचती है। समस्या से संबन्धित सभी बातों को समझने का सामर्थ्य भी व्यक्ति में होना चाहिए। जिस व्यक्ति में परिस्थिति को समझने का सामर्थ्य नहीं है वह उसका समाधान नहीं कर सकता। परिस्थिति के अन्तर्गत वे सभी बातें आ जाती हैं जिनके सहयोग से समस्या के समाधान में सहायता मिलती है। जब कभी परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान नहीं होता और समस्या का समाधान कठिन प्रतीत होने लगता है तो मनुष्य उससे बचने का प्रयत्न करने लगता है। व्यक्तिगत समस्याओं को छोड़कर सामाजिक समस्याओं में संलग्न व्यक्ति अपनी मान-मर्यादा को ध्यान में रखकर प्राण-पण से उसके समाधान का प्रयत्न करता है। इसीलिए व्यक्तिगत और सार्वजनिक समस्याओं की परिस्थितियों में बहुत अन्तर रहता है।

समस्या के समाधान के लिए स्पष्ट चिंतन की आवश्यकता रहती है लेकिन इसमें कुछ बाधायें भी खड़ी हो जाती हैं। समस्या के समाधान में कुछ वस्तुयें सामने रहती हैं और किसी परिणाम की इच्छा की जाती है।

लेकिन इसमें बाधा यह होती है कि (१) उपस्थित वस्तुयें पर्याप्त न हों, जिनके अध्ययन के आधार पर समस्या के समाधान की ओर अग्रसर होते हैं, अथवा (२) कुछ ऐसी वस्तुयें सामने आती हैं जिनका समस्या से कोई सम्बन्ध नहीं होता तथा वे बीच में पड़कर बाधक बन जाती हैं; अथवा (३) उपस्थित वस्तुओं में सामञ्जस्य न हो, अर्थात् उनके अलग-अलग रहने में समस्या को समझने में एकरूपता नहीं आ पाती। इन बाधाओं के रहते हुए समस्या का समाधान पाना अत्यन्त कठिन है। किसी अपराध के पता लगाने में इन बातों पर विशेष ध्यान देना पड़ता है।

प्रयास-और-त्रुटि[1] तथा परिज्ञान[2]—

समस्या का समाधान अचानक नहीं हो जाता। उसके लिए कई बार प्रयत्न करना पड़ता है। किसी विषय को जानने के लिए उसके अनुरूप अपनी कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। एक कल्पना के ठीक न होने पर उससे अच्छी कल्पना का सहारा लेते हैं। लेकिन प्रत्यक्ष समस्या के लिए हमें शारीरिक प्रयत्न करना पड़ता है। पहली बार असफल होने पर दुबारा प्रयत्न करना पड़ता है। इसका स्पष्ट उदाहरण थॉर्नडाइक के प्रयोग में मिलता है। एक बिल्ली पिंजड़े में बन्द है। उसके बाहर खाना रखा है। पिंजड़े का दरवाजा एक ऐसे बटन के दबाने से खुलता है, जिसको बिल्ली आसानी से दबा सकती है। बिल्ली बाहर जाने के लिए पिंजड़े में इधर-उधर कई बार पंजे मारती है। ऐसा करने से एक बार बटन पर भी उसका पंजा पड़ जाता है और दरवाजा खुल जाता है। दुबारा प्रयोग किये जाने पर दरवाजा खोलने में उसे पहले से कम समय लगता है। कई बार प्रयोग करने के बाद बिल्ली ने आसानी से दरवाजा खोलना सीख लिया। चूँकि इस विधि में पहले ही प्रयत्न में समस्या का समाधान नहीं होता; उसके लिए कई बार प्रयास करना पड़ता

1—Trial and error. 2—Insight.

है, उसमें भूलें भी होती हैं, इसीलिए इसका नाम प्रयास-और-त्रुटि विधि पड़ गया। कुछ समस्याओं के समाधान के लिए मनुष्य भी प्रयास और-त्रुटि की विधि को अपनाता है। जब तक उसे अपनी समस्या का समाधान नहीं मिलता वह अपने प्रयत्न में लगा रहता है।

लेकिन प्रत्येक समस्या प्रयास-और-त्रुटि की विधि से ही हल नहीं हो सकती, उसे परिज्ञान[1] के द्वारा भी हल किया जाता है। परिज्ञान विधि का उदाहरण बनमानुष पर किए गये प्रयोग में मिलता है। कटघरे के बाहर केले रखे हुए हैं, लेकिन बनमानुष बिना किसी लम्बी लकड़ी की सहायता के उनको नहीं पा सकता। उसके पास दो-तीन छोटी-छोटी लकड़ियाँ पड़ी हैं जिनको जोड़ कर वह एक बड़ी लकड़ी बना सकता है। छोटी लकड़ी से केले पाने में असमर्थ होकर वह उनको जोड़ने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार बड़ी लकड़ी बन जाने से वह केले को आसानी से पा जाता है। बिना परिज्ञान के केले पाना कठिन था। इसलिए प्रयास और त्रुटि के साथ-साथ परिज्ञान का होना भी अपेक्षित है।

बिना परिज्ञान के प्रयास-और-त्रुटि से ही समस्या का समाधान पाना उसी प्रकार होगा, जैसे यदि तुम्हारी घड़ी बन्द हो जाती है तो तुम उसे उठाकर देखते हो, उसमें कुछ न देखते हुये फिर उसी प्रकार रख देते हो और उसे फिर से चलते हुये पाते हो।[2] लेकिन परिज्ञान सदैव ठीक ही नहीं होता, परन्तु कभी-कभी उससे दूसरे परिणाम भी निकल आते हैं। जब तक समस्या की सभी बातों को ठीक से नहीं समझ लिया जाता उसके विषय को सभी कल्पना में समाधान के लिए अनुपयुक्त ही होती हैं। इसीलिए प्रयास-और-त्रुटि के साथ-साथ उचित परिज्ञान से सहायता लेना समस्या को बहुत आसान बना देता है। अतः प्रयास-और-त्रुटि तथा परिज्ञान को एक दूसरे का पूरक मानना अनुपयुक्त न होगा।

1—Insight. 2—Boring, Langfeld and Weld. "Foundations of Psychology"—P. 204.

जिन लोगों की यह धारणा है कि इन दोनों विधियों में आपस में विरोध है वे अन्तरवृत्ति और वाह्य कार्यों की अनुरूपता के वास्तविक तथ्य को नहीं समझते। किसी समस्या के समाधान में परिज्ञान का मुख्य स्थान रहता है। केवल प्रयास करते रहने से सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है।

दोनों के सहयोग से प्रयोग-और त्रुटि के स्थान पर प्रयोग-और सफलता के चिन्ह दिखाई पड़ने लगते हैं। समस्या के समाधान होने तक चिंतन की क्रिया बराबर अपना कार्य करती रहती है, लेकिन उसका समाधान मिलने पर चिंतन का कार्य समाप्त हो जाता है। कभी-कभी उपयुक्त परिज्ञान के न होने के कारण मनुष्य समस्या को ही छोड़ बैठता है, अथवा बराबर प्रयास ही करता रहता है। उसका प्रयास इसी आशा पर चलता है कि कभी तो सफलता मिलेगी ही। यद्यपि इस अंध प्रयास से सफलता की आशा बहुत कम रहती है, फिर भी 'कुछ न करने' से 'कुछ करना' अच्छा ही है। यदि समस्या का समाधान पाने की उत्कट इच्छा है तो मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार सभी रीतियों को प्रयोग में लाता है।

अशुद्ध चिंतन[1]

साधारणतया मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार ठीक सोचने का प्रयत्न करता है लेकिन इसमें कुछ आन्तरिक मनोवृत्तियाँ तथा वाह्य वातावरण के प्रभाव बाधक होते हैं। समस्या का समाधान बहुत कठिन होने पर अधिकांश व्यक्ति उससे बचने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन जिनकी आत्म-शक्ति प्रबल होती है वे इन कठिनाइयों को पार कर समाधान पाने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए समुचित समाधान पाने के लिए अशुद्ध चिंतन से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। अशुद्ध चिंतन के विभिन्न प्रकार निम्नलिखित हो सकते हैं।

1—Incorrect thinking.

किसी ठीक विचार को तर्कसंगत होना चाहिए। तार्किक दृष्टि ठीक न होने का अर्थ है विचार की बौद्धिक क्षेत्र में अमान्यता; फलतः कोई भी परिणाम ठीक नहीं माना जा सकता। यद्यपि तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान का क्षेत्र अलग-अलग है, लेकिन दोनों एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं। तर्कयुक्त बात को सभी स्वीकार करते हैं। हेत्वाभास पर आधारित परिणाम तर्कयुक्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसे चिंतन में समस्या के सभी पहलुओं पर ध्यान नहीं दिया जाता। इसको एक उदाहरण से इस प्रकार समझा जा सकता है। मान लीजिए एक संस्था का संरक्षक अपने यहाँ समय पर अनुपस्थित रहने वाले सदस्यों की संख्या कम करना चाहता है। इसके लिए वह अपनी बुद्धि के अनुसार एक विधि को प्रयोग में लाता है। कुछ दिनों पश्चात् अनुपस्थित रहने वालों की संख्या कम होने लगती है। इससे वह यह निष्कर्ष निकालता है कि प्रयोग की गयी विधि ठीक है। परन्तु यह निष्कर्ष एकांगी दृष्टिकोण पर आधारित है। अनुपस्थित रहने वालों की संख्या में कमी के कई कारण हो सकते हैं। एक विशेषज्ञ इन सभी बातों पर विचार करने के पश्चात् ही किसी परिणाम पर पहुँचेगा। इस नयी विधि का ठीक प्रभाव जानने के लिए संरक्षक को अपने सदस्यों को विभागों में बाँटकर एक भाग के साथ नयी विधि का प्रयोग करना और दूसरे भाग को साधारण रूप में चलने देना चाहिए। यदि नयी विधि और पुरानी विधि वाले भागों में कोई अन्तर नहीं आता तो नयी विधि को ठीक मान लेना तर्कयुक्त नहीं है। इससे यह ज्ञात होता है कि नयी विधि जब तक विभिन्न रूपों में ठीक नहीं होती उसे उपयुक्त मानना ठीक नहीं है। किसी एक ही उदाहरण के आधार पर सामान्य परिणाम पर पहुँचना उचित नहीं है।

(१) हेत्वाभास[1]

मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार ठीक ही सोचने का प्रयत्न करता है लेकिन कुछ कठिन समस्याओं का समाधान पाने के लिए उसे ऐसी

1— Fallacy.

कल्पनाओं का सहारा लेना पड़ा है जिनका कि उसके पास कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं रहता। कभी-कभी वस्तु का ज्ञान तो हो जाता है, परन्तु उसके वास्तविक आधार को जानना व्यक्ति के

(२) दोषयुक्त परिज्ञान[1]

लिये कठिन होता है, इसका मुख्य कारण दोषयुक्त परिज्ञान ही है प्रयास और त्रुटि विधि की कल्पनाएँ अक्सर दोषयुक्त परिज्ञान ही होती हैं, क्योंकि उनकी वास्तविकता का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं रहता। दोषयुक्त परिज्ञान का निर्णय सदैव परीक्षा के हेतु रखना चाहिए। प्रमाणरहित होने के कारण ही यह अशुद्ध चिंतन का रूप बन जाता है। जिस दोषयुक्त परिज्ञान पर मनुष्य स्थिर रहता है उसे अन्ध विश्वास[2] कहा जाता है। बहुत से लोग इसी मूढ़ अन्ध विश्वास के आधार पर अपनी अन्तर प्रवृत्तियों को सान्त्वना प्रदान करते हैं। व्यापक आधार न होने के कारण दोषयुक्त परिज्ञान अशुद्ध चिंतन बन जाता है।

मनुष्य का व्यवहार स्वभावतया हर समय स्वभाव किसी न किसी अभिलाषा से प्रेरित रहता है। जिसकी जो इच्छा होती है उसका चिंतन भी उसी कामना को पूर्ण करने के लिए होता है।

(३) सकाम चिन्तन[3]

यही कारण है कि सकाम चिंतन में व्यक्ति निष्पक्ष भाव नहीं रख पाता, क्योंकि निष्पक्ष होने में उसकी कामना की पूर्ति सरलता से नहीं हो पाती। जहाँ कहीं विरोध उत्पन्न होता है, वह अपने पक्ष की स्थापना के लिए पूर्ण प्रयत्न करता है। इसके उदाहरण राजनीति, न्यायालय, सामाजिक व्यवहार व सम्बन्ध आदि में पाये जा सकते हैं। वकील अपने पक्ष को प्रबल बनाने के लिए सभी प्रकार के प्रयत्न करता है। वैज्ञानिक अपनी गत त्रुटियों को स्वीकार करने की अनिच्छा से वास्तविकता को छिपाने का प्रयत्न करता है। चिंतनशील व्यक्तियों को अहंकार उनके आगे रहता है। ऐसे व्यक्ति

1— Hunches. 2— Superstition. 3— Wishful thinking.

घमंडी भी होते हैं। कुछ लोग इसी प्रवृत्ति के कारण दूसरों की हानि की भी परवाह नहीं करते।

सभी भाषाओं में कुछ ऐसे शब्द होते हैं जिनके एक से अधिक अर्थ निकाले जाते हैं। ऐसे शब्दों के प्रयोग में सावधानी से काम लेना पड़ता है। इससे चिंतक को सतर्क रहना पड़ता है, तथा सुनने वाले को भी अर्थ निकालने में समय और परिस्थिति को ध्यान में रखना पड़ता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम भाषा पर अविश्वास करें। किंचित सतर्क रहने पर यह कठिनाई दूर की जा सकती है। भोजन करते समय "सैन्धव" माँगने वाला व्यक्ति नमक की ही इच्छा करता है; नमक के स्थान पर घोड़ा लाने वाला व्यक्ति मूर्ख ही समझा जायेगा, क्योंकि उसने समय और परिस्थिति पर ध्यान न देकर कार्य किया है। अतः शब्द हेत्वाभास अशुद्ध चिंतन का कारण होता है।

(४) शब्द हेत्वाभास[1]

असफलता के मुख्य कारणों में एक व्यक्ति का प्रेरणाहीन होना भी है। किसी भी चिंतन में अभ्यास, परिश्रम और दृढ़ता की आवश्यकता पड़ती है। कठिन समस्याओं के समाधान में जब तक कि व्यक्ति प्रेरणायुक्त नहीं होता, समाधान पाने के लिए अनवरत परिश्रम करना कठिन है। प्रेरणा के सहारे उसे एक प्रकार का आन्तरिक सुख मिलता रहता है। त्रुटियों का कारण अधिकतर सूक्ष्म चिंतन का न होना ही रहता है, और सूक्ष्म चिंतन उसी समय संभव है जब कि व्यक्ति किसी प्रेरणा से युक्त है। परीक्षा में सर्वप्रथम उत्तीर्ण होने पर व्यक्ति किसी का प्रिय पात्र बन सकता है, ऐसी इच्छा की प्रबलता के कारण वह कठिन परिश्रम की ओर प्रेरित होता है। प्रेरणा अधिकतर अपने से श्रेष्ठ वस्तु से ही प्राप्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करता

(५) प्रेरणा[2]

1—Word fallacies. 2—Motivation.

है, और इसके लिए वह अपने से श्रेष्ठ व्यक्तियों के कार्यों से प्रेरणा प्राप्त करता है।

मनुष्य का चिंतन उसकी बुद्धि के अनुसार ही होता है, और उसकी बुद्धि का विकास वातावरण पर आधारित रहता है। शुद्ध वातावरण में रहने वाले व्यक्ति पर उसका प्रभाव भी उसी रूप में पड़ता है। इसीलिए अपने यहाँ सतसंगति पर बहुत ज़ोर दिया गया है। कभी कभी चिंतन में त्रुटियों का कारण व्यक्ति की अज्ञानता न होकर वातावरण होता है। उसके ऊपर वातावरण का इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि वह उसी के अनुरूप चिंतन करने के लिए बाध्य हो जाता है। वातावरण का प्रभाव चिंतन के साथ-साथ व्यवहार पर भी पड़ता है।

(६) वातावरण का प्रभाव[1]

समस्या का समाधान पाने के लिए कल्पनाओं का सहारा लेना पड़ता है लेकिन मौन कल्पनाओं के कारण व्यक्ति समस्या समाधान के लिए उचित कल्पना का विचार नहीं कर पाता। इन मौन कल्पनाओं का ज्ञान व्यक्ति को नहीं रहता। परन्तु इनका प्रभाव चिंतन में बना रहता है। इसके कारण परिस्थिति का सम्पूर्ण विश्लेषण नहीं हो पाता फलस्वरूप परिणाम भी अशुद्ध होता है। इसलिए मौन कल्पनाओं को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए, अन्यथा शुद्ध चिंतन ठीक प्रकार से नहीं चल सकता।

(७) मौन कल्पनायें[2]

एक ही विधि का प्रयोग सभी समस्याओं के समाधान के लिए नहीं किया जा सकता। समस्या की समानता के कारण अधिकांश व्यक्ति उसकी आन्तरिक भिन्नता को न समझकर पूर्व अनुभवित विधि को ही प्रयोग में लाते हैं, लेकिन परिणाम अशुद्ध होता है? इसका मुख्य कारण यह है कि प्रत्येक समस्या का अपना समय और रूप अन्य समस्याओं से

(८) गलत विधि का प्रयोग[3]

1—Atmosphere effect, 2—Tacit assumptions. 3—Faulty transfer of method.

भिन्न होता है। स्कूल के विद्यार्थी अधिकतर गलत विधि का प्रयोग करते हुए पाये जाते हैं, क्योंकि एक प्रश्न के हल करने में प्रयोग करना उनके अनुसार ठीक ही होता है। अधिकांश बालक परिज्ञान[1] को ध्यान में न रखकर क्रियात्मक परिश्रम पर ही ध्यान देते हैं। परिज्ञान की सहायता से गलत विधि का प्रयोग बहुत कुछ कम हो सकता है। क्रियात्मक परिश्रम में ही लगा हुआ बालक चिंतन शक्ति से हीन हो जाता है।

प्रत्येक समस्या का समाधान व्यक्ति के अपने दृष्टिकोण के आधार पर होता है। एक वैज्ञानिक का दृष्टिकोण कलाकार के दृष्टिकोण से भिन्न होगा। जिस विधि का प्रयोग वह करना चाहता है एकांगी दृष्टिकोण के कारण बहुत संभव है कि वह विधि उसके लिए उपयुक्त न हो। वह अपनी ही विधि का प्रयोग करना चाहेगा। असफलता का कारण अधिकतर पूर्व अभ्यस्त विधियों का प्रयोग ही है। नयी विधियों के प्रयोग से समाधान पाने की संभावना अधिक हो जाती है, क्योंकि इस नयी समस्या के लिए पुरानी विधियाँ सर्वाङ्गीण रूप में उपयुक्त सिद्ध नहीं होती। चोरी आदि की समस्याओं का पता लगाने के लिए कुछ लोग सुव्यवस्थित तर्क[3] और कुछ लोग परिज्ञान[4] उपयुक्त समझते हैं। इस प्रकार अलग-अलग व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न विधियाँ होती हैं जिनके द्वारा वे किसी समस्या का समाधान पाने की ओर अग्रसर होते हैं।

(९) अभ्यस्त विधियों का प्रयोग[2]

यह बात स्पष्ट है कि कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अच्छे विचारक होते हैं। अपने कार्यों में कुछ लोग अधिक सतर्कता दिखलाते हैं। इस वैयक्तिक भिन्नता का चिन्तन में भी प्रभाव पड़ता है। जिसकी बुद्धि जितनी ही विकसित होगी वह उतना ही समस्या का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन करने के योग्य होगा। ऐसे व्यक्तियों की आत्म शक्ति बहुत प्रबल होती है।

(१०) वैयक्तिक भिन्नता[5]

1— Insight. 2—Habitual methods of attack. 3—Systematic logic. 4—Insight. 5—Individual differences.

ये लोग कठिनाई का सामना करने से घबड़ाते नहीं, अपितु वे अधिक दृढ़ता से उसका समाधान पाने के लिये प्रेरित होते हैं। इसके विपरीत दुर्बल आत्मशक्ति वाले कठिन समस्याओं से भागने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे व्यक्तियों का चिन्तन अशुद्ध हो जाता है।

शुद्ध चिंतन

वास्तव में शुद्ध चिंतन इतना सरल नहीं है जितना कि साधारण रूप में समझा जाता है। उपर्युक्त अशुद्ध चिंतन की विधियों को हटा कर ही शुद्ध चिंतन करना संभव हो सकता है। मनोविज्ञान की यह प्रमुख समस्या है कि किस प्रकार चिंतन की योग्यता प्राप्त हो सकती है। अच्छे चिन्तन के गुणों को विकसित करने से यह समस्या हल हो सकती है। तर्क शिक्षा मनोविज्ञान तथा अन्य सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञानों की सहायता से शुद्ध चिन्तन करना संभव हो सकता है। तर्क द्वारा हमें चिंतन की वास्तविकता का पता लगता है। मनोविज्ञान की सहायता से उसकी आन्तरिक गति विधियों को जान लेते हैं। वास्तव में अच्छे चिन्तन के लिए निम्नलिखित बातों की आवश्यकता रहती है—

(१) समस्या के समाधान में प्रबल रुचि का होना।

(२) किसी विशेष समस्या के हल करने में तीव्र प्रेरणा।

(३) वस्तुओं के आपसी सम्बन्ध को शीघ्र ही समझ लेने की शक्ति जिसके आधार पर परिज्ञान[1] संभव हो सकता है।

(४) समस्या की विभिन्न अवस्थाओं को तत्परता और परिज्ञान के द्वारा समझने की शक्ति।

इन बातों को ध्यान में रखने से चिंतन शुद्ध होने की अधिक संभावना होती है। परन्तु ये सभी बातें प्रत्येक व्यक्ति में समान रूप में

1— Insight.

नहीं पायी जाती। इसके अतिरिक्त समस्या के समाधान में समय पर भी विशेष ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है। प्रत्येक व्यक्ति की समान योग्यता न होने के कारण समस्या का समाधान पाने का समय भी योग्यतानुसार कम या अधिक होगा। किसी अरुचिकर समस्या के समाधान में समय बहुत ही महत्वपूर्ण है। उसमें इतना समय लगाना चाहिये जितने से उसका मन ऊब न जाय, अन्यथा अरुचि उत्पन्न होने से समस्या का समाधान कठिन हो जायेगा। साथ ही प्रर्याप्त समय देने पर भी ध्यान रखना जिससे कि किसी परिणाम पर पहुँचा जा सके।

चिन्तन के लिए सभी आवश्यक बातों पर ध्यान देना अपेक्षित है। एकांगी दृष्टिकोण से निर्णय पर पहुँचना प्रामाणिक सिद्धान्त नहीं बना सकता। चिन्तन को महत्वपूर्ण बनाने के लिए तार्किक सिद्धान्तों के प्रयोग करने की आवश्यकता पड़ती है। इस विषय में जिनका ज्ञान अधूरा है उन्हें ठीक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

चिंतन में प्रेरणा के महत्व को नहीं भूलना चाहिए। जब तक प्रेरणा नहीं होगी ठीक चिंतन करना संभव नहीं है। रुचि का आधार प्रेरणा है। अधिकतर चिंतन एकांत अवस्था में होता है उस समय प्रेरणा-शक्ति के द्वारा चिंतन में सहायता मिलती है। कठिन समस्या के समाधान में चिंतन करते-करते यदि कोई ठीक मार्ग समझ में न आये तो उसे कुछ देर के लिये स्थगित कर देना लाभप्रद होगा। कभी-कभी ऐसा करने से परिज्ञान के द्वारा कोई युक्ति समझ में आ जाती है। इस प्रकार यदि अशुद्ध चिंतन को रोकने के लिए उपर्युक्त विधियों को प्रयोग में लाया जाय तो समस्या के समाधान में सरलता और शुद्ध चिंतन होने की सम्भावना बढ़ जाती है।



अध्याय—२०

स्वप्न

जाग्रत अवस्था में कल्पना के संसार में विचरण करना और निद्रा काल में स्वप्न देखने में अन्तर है। मनुष्य सुषुप्ति अवस्था को छोड़कर किसी भी समय विचार शून्य नहीं होता। कोई न कोई विचार उसके मस्तिष्क में बना रहता है, यद्यपि सभी विचारों के विषय में उसको ज्ञान नहीं रहता। साधारण जीवन में दो ही अवस्थायें देखने में आती हैं—जाग्रत और सुषुप्ति। जाग्रत काल में व्यक्ति बाह्य और आन्तरिक कार्यों के प्रति चेतन रहता है। सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि भी हृदय-स्थान में लय हो जाती है। परन्तु इन दो अवस्थाओं के अतिरिक्त तीसरी अवस्था भी देखने में आती है। इसको स्वप्न की अवस्था कहते हैं। स्वप्न की अवस्था में बुद्धि अपना कार्य करती रहती है। सभी व्यक्तियों को किसी न किसी समय स्वप्न की अवस्था में रहना पड़ता है। स्वप्न निद्रावस्था में ही होता है, इसलिये निद्रा के विषय में थोड़ा जान लेना अधिक उपयुक्त होगा।

जाग्रत अवस्था में कार्य करते रहने पर शरीर के अवयवों को आराम करने की आवश्यकता पड़ता है। निद्रा के द्वारा शरीर के अवयव आराम प्राप्त करते हैं। इस अवस्था में व्यक्ति बाह्य बातों से बिल्कुल अनभिज्ञ रहता है। व्यवहार-वादियों की दृष्टि से निद्रा कार्यों की कमी और सीमा है। परन्तु जाग्रत काल और निद्रावस्था का यह भेद ठीक नहीं है क्योंकि जाग्रत-काल में भी कभी ऐसा समय आता है जब कि

व्यक्ति शान्त रहता है, तथा इसके विपरीत सुषुप्तावस्था में उसका अन्तर्मन कार्य में संलग्न रह सकता है। क्लेपारडे के अनुसार निद्रा एक जैविक आवश्यकता[1] है जिसके द्वारा शरीर के अवयवों को थकान से बचाया जा सकता है। साधारण अवस्था में जब व्यक्ति के विचार, वाणी, शरीर के अवयव शान्त हो जाते हैं तब उसे निद्रा की अवस्था में पाते हैं। कुछ लोगों के अनुसार निद्रा की अवस्था उस समय आती है जब कि मस्तिष्क से रक्त का आना बन्द हो जाता है। इस प्रकार इन सभी विचारों पर ध्यान रखने से निद्रावस्था के तथ्य को समझने में सहायता मिल सकती है।

स्वप्न की अवस्था और स्वरूप

स्वप्न का सम्बन्ध मानव जीवन की बाह्य क्रियाओं तथा अचेतन मन के भावों से है। स्वप्न का आधार व्यक्ति के विभिन्न अनुभव हैं। इसीलिए अपने व्यक्तित्व के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए स्वप्न पर विचार करना आवश्यक है। कुछ लोगों का कथन है कि स्वप्न के विषय में अधिक विचार करना उचित नहीं है; परन्तु आधुनिक मनोविश्लेषण के सिद्धान्त से यह विचार ठीक नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार अपने आन्तरिक मनोभावों को समझने के लिए स्वप्नों के अर्थ को समझना परम आवश्यक है। इसके अध्ययन से आत्मज्ञान में वृद्धि होती है। बहुत से मानसिक रोगों की चिकित्सा स्वप्नों के आधार पर आसानी से की जा सकती है।

प्रतिदिन के कार्यों की भाँति स्वप्न का भी क्रम बराबर चलता रहता है, परन्तु सभी स्वप्नों का ज्ञान नहीं हो पाता। जिन स्वप्नों का सम्बन्ध किसी विशेष घटना से होता है उनका विशेष प्रभाव मन पर पड़ता है। यही कारण है कि विचित्र स्वप्नों का रूप हमें स्मरण रहता है। साधारण जीवन की अनेक घटनायें मस्तिष्क पर अपना प्रभाव डालती हैं। जिन घटनाओं का प्रभाव हमारा चेतन मन ग्रहण नहीं कर पाता, उनकी छाप

1— Biological Need.

हमारे अचेतन मन पर पड़ती है। चेतन मन से अचेतन मन का क्षेत्र अधिक व्यापक है। अधिक समय बीत जाने पर भी अचेतन मन में विशेष घटनाओं का प्रभाव उसी रूप में बना रहता है। यही कारण है कि स्वप्नों का अर्थ समझना कठिन है, क्योंकि इनका सम्बन्ध पुरानी घटनाओं से भी रहता है।

स्वप्न अवस्था में जाग्रत अवस्था की भाँति ही विभिन्न रचनायें बनती बिगड़ती रहती हैं; परन्तु दोनों में मुख्य भेद यह है कि जाग्रत अवस्था में किसी वस्तु को लेकर रचना-निर्माण करते हैं परन्तु स्वप्न काल की सभी रचनाओं का काल्पनिक आधार रहता है। जाग्रत अवस्था में आने पर उनकी कोई सत्ता नहीं रहती, केवल स्मृति पटल पर ही उनकी छाप दिखाई पड़ती है। स्वप्नों के आधार जाग्रत अवस्था के अनुभव हैं। जिन वस्तुओं की कल्पना जाग्रत अवस्था में नहीं होती वे स्वप्न में नहीं प्रकट होती। प्रत्येक स्वप्न का संबंध व्यक्ति के जीवन की किसी घटना से होता है। स्वप्न जगत की सृष्टि और चेतन अवस्था की काल्पनिक सृष्टि में बहुत कुछ साम्यता रहती है। वास्तविक जगत में जिस वस्तु का घटित होना असम्भव है उन्हें हम कल्पना या स्वप्न की सृष्टि में देख सकते हैं। मनुष्य किसी भी समय शान्त अवस्था में नहीं रहता। किसी कार्य में संलग्न रहने पर उसे कार्य की ओर ध्यान लगाना पड़ता है, परन्तु उससे अलग होने पर वह अन्य विचारों में फँस जाता है। कल्पना या स्वप्न दोनों ही अवस्थाओं में व्यक्ति की अन्तर्चेतना जाग्रत रहती है जो कि दोनों अवस्थाओं का अनुभव करती रहती है। उसे भारतीय मनीषियों ने शुद्ध चेतन आत्मा कहा है। इस शुद्ध चेतन आत्मा में बाह्य या आन्तरिक जीवन के विकारों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस चेतन आत्मा के अतिरिक्त जो वस्तु बाह्य या आन्तरिक जगत के विकारों से प्रभावित होती रहती है उसे जीव या व्यावहारिक आत्मा की संज्ञा दी जाती है।

फ्रायड ने स्वप्न के अनुभवों में भेद करते हुए उसके 'स्पष्ट तत्त्व'[1] और 'गुप्त तत्त्व'[2] दो रूप दिये हैं। जिस रूप में स्वप्न का अनुभव होता है वह उसका स्पष्ट तत्त्व है। लेकिन प्रत्येक स्वप्न का अपना विशिष्ट अर्थ रहता है। इस विशिष्ट अर्थ को मनोविश्लेषण विधि से जाना जाता है। इसे स्वप्न का गुप्त तत्त्व कहते हैं। वास्तव में स्वप्न किसी निश्चित विधि के अनुसार नहीं आते। स्वप्न और भ्रम[3] की समानता इसी रूप में है कि दोनों अवस्थाओं में व्यक्ति के भाव और विचार संवेदनात्मक और प्रत्यक्ष रूप में प्रतीत होते हैं। स्वप्न की अवस्था में व्यक्ति स्वयं उन तत्त्वों को सत्य मान कर प्रभावित होता है जिनका सम्बन्ध उसके वर्तमान या पूर्व जीवन से हो सकता है। कभी कभी किसी ऐसी वस्तु का संकेत स्वप्न में मिलता है जिसकी वास्तविकता जाग्रत अवस्था में असम्भव प्रतीत होती है लेकिन इसका भी कोई न कोई आधार रहता है, यद्यपि व्यक्ति को उसका स्पष्ट ज्ञान नहीं रहता। बाल्य जीवन के विशिष्ट अनुभव भी स्वप्न में विकृत रूप में आ जाते हैं।

प्रत्येक स्वप्न की अपनी एक भाषा होती है। भारतीय जीवन में इसके महत्व को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। अच्छे या बुरे स्वप्नों का क्या अर्थ हो सकता है, आज भी इसको बताने के लिए बहुत से लोग मिल जाते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी स्वप्नों की भाषा को समझने का प्रयत्न किया है। इन स्वप्नों के आधार पर कुछ सूक्ष्म दृष्टि वाले भविष्य के घटनाओं की पूर्व कल्पना करते हैं। यद्यपि इसका कोई वैज्ञानिक आधार स्पष्ट नहीं मिलता परन्तु अनुभवों के द्वारा इस पर किसी निश्चित सिद्धान्त की स्थापना करना संभव हो सकता है; लेकिन इस प्रकार के सिद्धान्त का वैज्ञानिक रूप नहीं हो सकता। वस्तु जगत से सीधा सम्बन्ध न होने के कारण किसी निश्चित सिद्धान्त की स्थापना संभव नहीं है।

1— Manifest content. 2— Latent content. 3 — Hallucination.

जिस प्रकार बाह्य अनुभवों को पूर्ण रूप से स्मृति से हटाना संभव नहीं है उसी प्रकार स्वप्नों का न आना भी सम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि स्वप्न वाह्य और आन्तरिक अनुभवों का किसी न किसी रूप में प्रकाशन करते हैं। साधारण रूप में सभी व्यक्ति स्वप्न देखते हैं; लेकिन अधिक स्वप्नों का देखना बुरा माना जाता है। अधिक स्वप्नों को देखने का मुख्य कारण है मानसिक असंतुलन। जिस समय मस्तिष्क अशांत रहता है उस समय अधिक स्वप्न आते हैं। स्वप्न का सम्बन्ध अचेतन मन से अधिक रहता है। यही कारण है कि हम अपनी इच्छानुसार स्वप्न नहीं देख सकते। वाह्य जीवन की विशिष्ट घटनाओं के कारण स्वप्नों का रूप भी विचित्र हो जाता है। भयंकर स्वप्नों का शरीर और मन दोनों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। बुरे स्वप्नों के समाप्त हो जाने पर भी जाग्रत अवस्था में आने पर चित्त कुछ समय के लिये अशांत रहता है। शरीर और मन के विकारों के कारण इस प्रकार के बुरे स्वप्न आते हैं। इस प्रकार के भयंकर स्वप्नों को हटाने के लिए उनके कारण को जानना आवश्यक है। इस प्रकार के स्वप्नों का कारण कोई विशेष घटना होती है, कभी कभी व्यक्ति का चेतन मन अपनी गलती को जानते हुए भी अचेतन मन में उसकी गहरी छाप होने के कारण उससे छुटकारा नहीं पा सकता। ऐसी अवस्था में बुद्धि के द्वारा विपरीत भावना को दृढ़ बनाने की आवश्यकता पड़ती है। किसी विशेष व्यक्ति से अत्यधिक घृणा होने के कारण मृत्यु आदि घटनाओं के रूप स्वप्न आते हैं। इसको हटाने के लिए मित्र-भाव को दृढ़ बनाने की आवश्यकता रहती है।

स्वप्नों का अध्ययन प्रारम्भिक काल से ही मनोरंजन का विषय रहा है। प्राचीन काल में स्वप्नों के आधार पर लोग भविष्य की बातें बताते थे। आधुनिक काल में भी कहीं-कहीं पर इसका रूप देखने को मिलता है। कुछ लोग इसी के आधार अपना जीवन-यापन करते थे। वास्तव में स्वप्नों के आधार पर किसी

स्वप्न के विभिन्न सिद्धान्त[1]

1— Different Theorics of Dreams.

निश्चित सिद्धान्त की स्थापना नहीं की जा सकती। मुख्य समस्या तो यह है कि स्वप्नों के अर्थ को किस प्रकार उचित रूप में समझा जा सकता है। मूलतः स्वप्नों की समस्या का सीधा संबंध नाड़ी-विज्ञान से है, लेकिन इनके अर्थ को समझने के लिए मनोविज्ञान का भी आधार लेना परम आवश्यक है।

नाड़ी-विज्ञान सिद्धान्त के अनुसार स्वप्न अर्द्ध-जाग्रत अवस्था है। इस अवस्था में कुछ नाड़ी-तन्तु विघटित दशा में रहते हैं जो कि अन्तर्मन के भावों के विरुद्ध प्रतिक्रिया करते रहते हैं। इससे ज्ञानेन्द्रियों पर भी प्रभाव पड़ता है। जिन उत्तेजकों[1] के द्वारा नाड़ी-तन्तुओं में प्रतिक्रिया होती है वे शरीराङ्गों की क्रियाशीलता तथा बाह्य वातावरण में ध्वनि, प्रकाश, तापक्रम आदि हैं। प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार की प्रतिक्रिया क्यों होती है। इसका यही कारण हो सकता है कि नाड़ी-तन्तु किसी प्रकार की प्रतिक्रिया में तत्पर रहते हैं। इस प्रकार की प्रतिक्रिया का नाड़ी-विज्ञान के आधार पर वर्णन किया जा सकता है, लेकिन यहाँ पर इसके मनोवैज्ञानिक रूप पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

स्वप्नों के विषय में फ्रांस के लेखक डिलेज ने अपने स्वप्नों के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को संक्षेप में इस प्रकार लिखा है। स्वप्न असंतुलित अवस्था की स्थापना का दीर्घ प्रयत्न है। अर्थात् स्वप्न उस समय की क्रियाशीलता है जिसका समाधान जाग्रत अवस्था में नहीं हो सका था। समस्या का सैद्धान्तिक या व्यावहारिक रूप हो सकता है। दोनों ही अवस्थाओं में मस्तिष्क अपूर्ण कार्य के कारण शान्त होकर नहीं बैठ सकता। यही कारण है कि निद्रावस्था में भी मस्तिष्क अपना कार्य करता रहता है। कभी-कभी ऐसी समस्याओं का समाधान भी स्वप्न में मिल जाता है। इस सिद्धान्त का सम्बन्ध नाड़ी-विज्ञान के सिद्धान्त से हो

1— Stimuli.

सकता है क्योंकि इसमें भी नाड़ी-तन्तु असन्तुलित अवस्था में रहते हैं तथा उत्तेजक के मिलने पर प्रतिक्रिया करते हैं। इस प्रकार कोई भी समस्या मस्तिष्क के लिए उलझन है और स्वप्न उस समस्या का समाधान पाने के लिए एक साधन। इस दृष्टिकोण से डिलेज का सिद्धान्त मनोरंजक प्रतीत होता है।

हार्टन ने मनःनाड़ी-विज्ञान के सिद्धान्त[1] पर स्वप्नों के दूसरे सिद्धान्त का निर्देश किया है। हार्टन के सिद्धान्तानुसार स्वप्न 'प्रयास और भूल का आत्मज्ञान'[2] है। अर्थात् स्वप्न उत्तेजक को देखने और समझने के प्रयत्नों की एक धारा है। इस प्रकार के प्रयत्न सफल अथवा आंशिक रूप में सफल होते हैं। उत्तेजक के पूर्ण ज्ञान होने पर व्यक्ति जाग्रत अवस्था में आ जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि व्यक्ति गीले पैरों से सो जाता है तो स्वप्न में उसे बरफ पर चलने का अनुभव होता है। जब उसे अपने पैरों के ठण्डे होने का पूर्व ज्ञान हो जाता है तो वह जाग पड़ता है। हार्टन के इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति बाह्य कार्यों से प्रेरित होकर अपने अन्तर्मन पर उसी के अनुरूप छाया देखता है। चलती हुई गाड़ी पर सोने वाला व्यक्ति भूचाल आने का स्वप्न देखता है। जागने पर उसे ज्ञात होता है कि वह चलती हुई गाड़ी पर सो रहा था। यहाँ पर चलती हुई गाड़ी के धक्कों और भूचाल के विचार में गहरा सम्बन्ध है। कभी-कभी व्यक्ति किसी ऐसी आवाज से जाग पड़ता है जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति जागने के कुछ देर पहले उसी आवाज के अनुरूप कोई स्वप्न देखता रहता है। यदि व्यक्ति स्वप्न में अपने को लड़ाई के मैदान में पाता है और इसी बीच किसी भयंकर ध्वनि को सुनता है। ध्वनि सुनकर वह चौंक कर जाग्रत अवस्था में आ जाता है। जागने पर उसे किसी वस्तु के गिरने की तीव्र ध्वनि सुनाई पड़ती

1—Psychoneurological theory. 2—Apperception of trial and error.

है। उसे ऐसा अनुभव होता है कि वह इसी ध्वनि के कारण जाग पड़ा है। इस बाहरी ध्वनि और स्वप्न की भयंकर ध्वनि, जिसके भय से उसकी निद्रा टूट जाती है, में गहरा सम्बन्ध है। हार्टन के मतानुसार इस बाहरी ध्वनि से प्रेरित होकर स्वप्न की अवस्था में जागने से कुछ देर पहले होने वाली ध्वनि उत्पन्न होती है। हार्टन इस सिद्धान्त की व्याख्या नाड़ी-विज्ञान के आधार पर करते हैं।

सिगमण्ड फ्रायड द्वारा प्रतिपादित स्वप्न-विज्ञान का सिद्धान्त अपना विशिष्ट महत्व रखता है। फ्रायड का यह सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार प्रतिपादित किया जा सकता है। स्वप्न बाल्यावस्था की दबी हुई काम-इच्छाओं की सांकेतिक पूर्ति है। फ्रायड ने स्वप्न के गुप्त और स्पष्ट तत्वों में भेद किया है। स्वप्न के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए उसके गुप्त तत्व को समझने की परम आवश्यकता है। इस गुप्त तत्व का आधार दबी हुई काम-इच्छायें हैं जो कि स्वप्न में स्पष्टतया सांकेतिक रूप में प्रकट होती हैं। इस प्रकार की काम-इच्छायें वास्तव में अविकसित अवस्था में रहती हैं। इन दबी हुई काम-इच्छाओं का स्वप्न में विकृत रूप दिखाई पड़ता है। यह विकृत अवस्था शरीर के कुछ विकृत करने वाले अंगों के कारण उत्पन्न होती है। यही कारण है कि स्वप्न के वास्तविक अर्थ को मनोविश्लेषण की विधि के द्वारा काफी समय के बाद समझा जा सकता है।

फ्रायड का यह सिद्धान्त वास्तव में एकांगी दृष्टिकोण पर आधारित है। इसके द्वारा सभी प्रकार के स्वप्नों पर प्रकाशन नहीं डाला जा सकता। 'इच्छा' का तात्पर्य केवल काम संबंधी न होकर आवश्यकता[1] या ईहा[2] के रूप में भी हो सकता है। इसके अन्तर्गत काम सम्बन्धी ईहा के अतिरिक्त अन्य प्रकार की ईहायें भी आ सकती हैं। इस प्रकार स्वप्न को अपूर्ण आवश्यकताओं का प्रकाशन कह सकते हैं। इन आवश्य-

1—Need. 2—Drive.

कताओं के अन्तर्गत कामुक, सामाजिक, पोषक, अहम् संबंधी, झगड़े वाली आदि सभी आवश्यकतायें आ सकती हैं।

स्वप्न को समझने के लिए फ्रायड द्वारा प्रतिपादित विकृत यन्त्र-रचना[1] भी महत्वपूर्ण है। इस यन्त्ररचना में जमाव[2], प्रभाव का स्थानान्तरण[3], नाटक रूप में परिवर्तन[4], और गौण-विस्तार[5] हैं। जमाव का अर्थ है कि स्वप्न एक ही समय में विभिन्न प्रकार आवश्यक-ताओं या विचारों को दिखा सकता है। प्रभाव का स्थानान्तरण का अर्थ है स्वप्न के भावों का बदलना, अर्थात् स्वप्न के जिस भाग को मुख्य माना जा सकता है उसका स्वप्न के वास्तविक अर्थ से संबंध न हो और स्वप्न की साधारण बातों का स्वप्न के अर्थ से गहरा संबंध हो। नाटक रूप में परिवर्तन का अर्थ है दृष्टि के सामने दिखाई पड़ना। उदाहरणार्थ, एक स्त्री स्वप्न में अपना गंजा सिर देखती है और जागने पर सिर में पीड़ा का अनुभव करती है। यहाँ पर पीड़ा का स्वप्न की अवस्था में स्पष्ट अवलोकन होता है। वास्तव में स्वप्न व्यक्ति की मानसिक स्थितियों का प्रकाशन है। गौण-विस्तार का अर्थ है कि स्वप्न-कर्त्ता अपने स्वप्न के तत्व को अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है। वह स्वप्न की अवस्थाओं को तर्कपूर्ण देखना चाहता है। यह विशेषतया स्वप्न के बताने के समय किया जाता है। वास्तव में स्वप्न को बिना अधिक तर्कपूर्ण बनाये दूसरों से बताना असंभव है।

'स्वप्न मानसिक उलझनों का प्रकाशन है'। इस सिद्धान्त का प्रति-पादन कई लेखकों ने किया है? विशेष रूप से राइवर्स ने इस पर अधिक प्रकाश डाला है। फ्रायड के अनुसार स्वप्न दबी हुई इच्छाओं का प्रकाशन है। ये दबी हुई इच्छायें मानसिक उलझन का परिणाम हैं। इस उलझन के दो रूप हैं। पहला चेतन इच्छा जो कि जाग्रत व्यक्तित्व

1—Distorting mechanisms. 2—Condensation. 3—Displacement of affect. 4—Dramatization. 5—Secondary elaboration.

को मान्य है और दूसरा अचेतन या दबी हुई इच्छा जो कि सरलता से मान्य नहीं है। दूसरे शब्दों में स्वप्न नैतिक मन[1] और प्राथमिक इच्छाओं का प्रकाशन है। इस प्रकार एक ही स्वप्न कई विभिन्न मानसिक उलझनों के कारण हो सकता है जिसके कई विभिन्न रूप हो सकते हैं। इन विभिन्न उलझनों का ज्ञान मनोविश्लेषण विधि के द्वारा किया जा सकता है।

स्वप्न के कारण

स्वप्न मानव जीवन की बाह्य एवं आभ्यान्तरिक क्रियाओं का विकृत रूप में प्रकाशन है। साधारण जीवन में किसी विशेष घटना का मस्तिष्क की अचेतन अवस्था में नये भावों का प्रवेश होता है जिसका ज्ञान व्यक्ति के चेतन मन को नहीं रहता। विभिन्न कार्यों या इच्छाओं की अपूर्ति मस्तिष्क में एक प्रकार की उलझन उत्पन्न कर देती है। इस उलझन की अवस्था में व्यक्ति अधिक समय तक नहीं रहता। बाह्य जीवन में उन इच्छाओं की पूर्ति संभव न होने के कारण उनकी काल्पनिक पूर्ति स्वप्न की अवस्था में होती है। इस पूर्ति का कोई वास्तविक रूप नहीं रहता, परंतु इससे व्यक्ति के अचेतन मन को संतोष प्राप्त होता है। इस प्रकार स्वप्न के दो मुख्य कारण हो सकते हैं—शारीरिक अथवा मानसिक उत्तेजना। शारीरिक अव्यवस्था के कारण व्यक्ति की मानसिक अवस्था पर भी प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि किसी कष्टदायक बीमारी में व्यक्ति अधिक स्वप्न देखता है। इस प्रकार के स्वप्न भयानक होते हैं। मानसिक उत्तेजना का संबंध व्यक्ति के मस्तिष्क से सीधा रहता है। शरीर की उत्तेजनाओं के दो रूप होते हैं। पहला शरीर में स्थित व्याधियाँ तथा दूसरा बाह्य पदार्थों का प्रभाव ? इसी प्रकार मानसिक उत्तेजनाओं के भी दो रूप हैं। पहला जाग्रत अवस्था के

1—Super-Ego.

विभिन्न प्रकार के अनुभव तथा दूसरा आभ्यान्तरिक इच्छायें। इन दोनों अवस्थाओं का व्यक्ति के मस्तिष्क पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। इन अवस्थाओं को स्पष्ट रूप से समझने के लिए इनका अलग-विवेचन करना अपेक्षणीय है।

यदि किसी मनुष्य को किसी प्रकार का शारीरिक कष्ट है तो उसका मानसिक संतुलन ठीक नहीं रहता। ऐसी अवस्था में उसको भयंकर स्वप्न आते हैं। साधारणतया बीमारी की अवस्था में व्यक्ति निराशा का अनुभव अधिक करता है। जिनका हृदय दृढ़ होता है उन्हें निराशा भी कम होती है, लेकिन दुर्बल हृदय वाले व्यक्ति निराशाजनक भावों से भर जाते हैं। निराशा की अवस्था में व्यक्ति के स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। इसका प्रभाव स्वप्न की अवस्था में स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। इस प्रकार के स्वप्नों में अधिकतर किसी विचित्र घटना के चित्र सामने आते हैं। यही कारण है कि रोगी को आशा दिलायी जाती है तथा उसका वातावरण भी ऐसा रखा जाता है जिससे कि उसके भावों में विकार न उत्पन्न हो सके। ऐसी दशा में बालकों की अवस्था अधिक शोचनीय हो जाती है, क्योंकि उनका हृदय अधिक दुर्बल होता है और वे किसी बात को सरलता से नहीं समझ सकते।

शारीरिक उत्तेजना का स्वरूप

साधारण जीवन में किसी बीमारी का स्पष्ट रूप उसी समय दिखाई पड़ता है जब कि उस बीमारी के लक्षण अधिक विकसित रूप में हो जाते हैं। कोई भी बीमारी अचानक नहीं आती। किसी विशेष बीमारी के लक्षण धीरे-धीरे विकसित होते हैं और जब शरीर उनको छिपाने में असमर्थ हो जाता है तब स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाते हैं। परन्तु हमारे अचेतन मन को सूक्ष्म लक्षणों का भी ज्ञान रहता है। यही कारण है कि कभी-कभी आने वाली बीमारी का ज्ञान स्वप्न के द्वारा हो जाता है, क्योंकि उन सूक्ष्म लक्षणों का अचेतन मन पर प्रभाव पड़ता है और फलस्वरूप स्वप्नों में उनका प्रकाशन होता है। परन्तु इन लक्षणों का वही

रूप स्वप्न में संभव है कि न दिखाई पड़े, क्योंकि स्वप्न की अपनी भाषा अलग रहती है। यदि किसी को कोई भयंकर रोग होने वाला है तो स्वप्न में उसे उस रोग का स्पष्ट रूप दिखाई पड़ सकता है अथवा सांकेतिक रूप में वह ऐसे स्वप्न देखता है जिसमें वह स्वयं किसी भारी कठिनाई में फँस गया है जिससे उसका छुटकारा पाना कठिन है। इस प्रकार के स्वप्नों में भयंकर आकृतियाँ सामने आती हैं जिनसे व्यक्ति को स्वप्न की अवस्था में बड़ा डर लगता है। कभी-कभी कोई भयंकर राक्षस दिखाई पड़ता है और ऐसा प्रतीत होता है कि वह अभी आकर गला दबोच देगा, अथवा छाती में बैठकर मार डालने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रकार के स्वप्न देखते समय उसके गले से आवाज तक नहीं निकलती, या कभी-कभी बचाने के लिए बहुत जोर से चीख पड़ता है। इन स्वप्नों का कारण शरीर के विकार होते हैं। शारीरिक अव्यवस्था से मानसिक संतुलन भी बिगड़ जाता है। इसका ज्ञान साधारण अवस्था में व्यक्ति के चेतन मन को नहीं रहता, परन्तु उसका अचेतन मन इसको जान लेता है। अचेतन मन का क्षेत्र चेतन मन के क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक है। जिन बातों का ज्ञान चेतन मन को नहीं रहता उसका ज्ञान अचेतन मन को रहता है। शारीरिक विकार एक प्रकार की उत्तेजना करते हैं जिसको अचेतन मन सरलता से ग्रहण कर लेता है तथा स्वप्नों के रूप में प्रकट करता है।

दूसरे प्रकार की शारीरिक उत्तेजना परिस्थितियों के कारण होती है। परिस्थिति का तात्पर्य है व्यक्ति के रहने की अवस्था। सभी व्यक्तियों का रहन-सहन शुद्ध और स्वच्छ वातावरण में नहीं होता। अस्वच्छ अवस्था में रहने पर मन में उस गंदगी का गहरा प्रभाव पड़ता है। जिस कमरे में कभी सूर्य का प्रकाश नहीं पड़ता, चारों तरफ दीवालों पर मकड़ों के जाले लटक रहे हैं, सील के कारण फर्श चप-चप कर रहा है, गर के सारी चीजें इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं और साथ ही घर के रसोईघर से धुआँ आकर भर जाता है ऐसे स्थान पर रहने वाले व्यक्ति का मन शुद्ध

रहना असंभव है। शरीर पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। स्वच्छ स्थान पर रहने वाला व्यक्ति ऐसे स्थान पर नहीं रह सकता। इस स्थान की वायु गंदे वातावरण के कारण विषैली हो जाती है। इसी विषैली वायु में साँस लेते रहने से मस्तिष्क के तंतुओं में विकार उत्पन्न हो जाता है। जाग्रत अवस्था में व्यक्ति ऐसे स्थान से उठकर भागने का प्रयत्न करता है। परन्तु निद्रा अवस्था में इसका प्रभाव उसके अचेतन मन पर पड़ता है। जाग्रत अवस्था में चेतन मन को ज्ञान हो जाता है लेकिन निद्रा अवस्था में चेतन मन क्रियाशील नहीं रहता। अचेतन की इस अवस्था के कारण बुरे स्वप्न होते हैं। जागने पर ऐसी अवस्था में व्यक्ति एक प्रकार के घुटन का अनुभव करता है। इसलिए सोने का स्थान स्वच्छ रहना बुरे स्वप्नों को रोकने के लिए परम आवश्यक है। स्वच्छ स्थान रहने से मस्तिष्क में किसी प्रकार के विकार उत्पन्न नहीं होते।

इसके अतिरिक्त सोने का स्थान शान्त होना चाहिये। विशेष आवाज आते रहने पर व्यक्ति के अचेतन मन में इसका प्रभाव पड़ता है। विभिन्न आवाजों का प्रभाव भी अलग-अलग होता है। मान लीजिये कि कोई व्यक्ति सुन्दर संगीत का रसास्वादन करते करते सो गया। ऐसी दशा में उसका आन्तरिक मन प्रफुल्लित रहता है। चेतन मन के शान्त हो जाने पर अचेतन मन इस ध्वनि को ग्रहण करता है जिसका प्रकाशन स्वप्नों में होता है। इस अवस्था के स्वप्न अधिकतर अच्छे होते हैं। इसके विपरीत कर्णकटु आवाज का प्रभाव अचेतन मन पर बुरा पड़ता है, फलस्वरूप बुरे स्वप्न आते हैं। सोते समय व्यक्ति यदि किसी कष्ट का अनुभव करता है तो उसका भी प्रकाशन स्वप्नों के द्वारा होता है। अधिक ठण्ड या गरम का अनुभव करने पर व्यक्ति के अचेतन मन में उत्तेजना होती है। उत्तेजना के कारण स्वप्न होता है स्वप्न से जागकर वह अपने कष्ट का निवारण करता है। इसी प्रकार सोते समय की जैसी अवस्था होगी वैसा ही अनुभव उसे स्वप्न में मिलेगा। पैरों में यदि अधिक ठण्डक का अनुभव हो रहा है तो व्यक्ति को बरफ में चलने का स्वप्न होने

की संभावना है। साधारण अवस्था में व्यक्ति के मन में जैसा प्रभाव पड़ता है, अवस्थानुसार उसका रूप बदल जाता है। इस प्रकार शारीरिक उत्तेजना परिस्थिति के अनुसार अथवा शरीर के विकारों के कारण हो सकती है।

शरीर की अपेक्षा मानसिक अवस्थाओं का अचेतन मन पर अधिक गहरा प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि स्वप्न का मुख्य कारण मानसिक उत्तेजनायें ही होती है। शारीरिक उत्तेजनाओं का भी प्रभाव पहले मानसिक अवस्था पर पड़ता है और इसके बाद अचेतन मन उसको ग्रहण करता है। शारीरिक उत्तेजना की भाँति मानसिक उत्तेजना के भी दो रूप हैं—आन्तरिक इच्छाओं के कारण तथा बाह्य वातावरण के प्रभाव के कारण।। आन्तरिक इच्छाओं का रूप बाह्य वातावरण के प्रभाव की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होता है। वास्तव में स्वप्न और बाह्य अनुभवों का निकट संबंध है। दूसरे शब्दों में बाह्य अनुभवों के आधार पर ही स्वप्नों की रूप रेखा बनती है। जिस प्रकार का बाह्य अनुभव होगा उसी प्रकार स्वप्न का निर्माण होगा। बाह्य अनुभव से यहाँ पर तात्पर्य है जाग्रत अवस्था के अनुभव। मान लीजिये कि आप किसी ऐसे उपन्यास को पढ़ते-पढ़ते सो जाते हैं जिसका कथानक बहुत ही भयावना तथा साहसी कार्यों से भरा पड़ा है। ऐसी दशा में उन विचित्र भयानक घटनाओं का विकृत रूप स्वप्नों में दिखाई पड़ेगा। इसीलिए भारतीय संस्कृति में यह विचार मिलता है कि सोते समय अपना चित्त शुद्ध करके ईश्वर का स्मरण करते हुए सोना चाहिए। सोते समय के जैसे भाव रहेंगे, स्वप्न भी उसी प्रकार के आयेंगे। ईश्वर का ध्यान करने का यही तात्पर्य है कि मन अशुद्ध विचारों से हटकर शुद्ध विचारों में लग जाय। कभी-कभी स्वप्न कई प्रकार के अनुभवों से मिलकर बनते हैं। ऐसे स्वप्नों का तात्पर्य समझने में कठिनता होती है, क्योंकि इन स्वप्नों का आधार कई उत्तेजनायें होती हैं। यह आवश्यक नहीं कि आज का कोई

मानसिक उत्तेजना का स्वरूप

विशेष अनुभव आज ही रात में स्वप्न में प्रकट हो। स्वप्न कभी-कभी वर्षों पहले अनुभव का प्रकाशन करता है। अधिक दिनों के अनुभव का प्रकाशन वास्तव में अचेतन मन के सूक्ष्मतम स्तर से निकल कर होता है। किसी विशेष समय ही आने का मुख्य कारण है उस समय की घटना और पूर्व घटना का निकट संबंध। यदि इस समय की किसी घटना और पूर्व घटना में समानता होगी तो दोनों मिलकर अधिक प्रबल रूप धारण कर लेंगी। फलस्वरूप चेतन मन के लिए इस प्रकार के स्वप्न विचित्र प्रतीत होंगे और इनके वास्तविक अर्थ को समझने में कठिनता पड़ेगी।

मनोवैज्ञानिकों में स्वप्नों के कारण के विषय में मतभेद है, लेकिन उपर्युक्त मूल कारणों को सभी मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकृत किया है। फ्रायड का इस विषय में अपना एक विशिष्ट सिद्धान्त है। इनके अनुसार सभी स्वप्नों का कारण हमारी दबी हुई इच्छायें हैं। इन इच्छाओं में काम-भावना प्रधान रहती है। काम-इच्छाओं का साधारण जीवन में प्रकाशन नहीं हो पाता। इसीलिए ये अपना स्थान अचेतन मन में बना लेती हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसका रहन-सहन सामाजिक नियमों के अनुसार ही चलता है। समाज के कुछ अपने नियम रहते हैं। इन्हीं को नैतिक नियम भी कह सकते हैं। समाज के अनुसार चलने वाले व्यक्ति को इन नैतिक नियमों का पालन करना परम आवश्यक है। परंतु मानव स्वाभाव की कुछ अपनी आन्तरिक इच्छायें होती हैं जिनकी पूर्ति वह स्पष्ट रूप में नहीं करना चाहता, अथवा उसका अन्तर्मन अपनी किसी विशेष इच्छा की पूर्ति के लिए अनैतिक कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। नैतिक इच्छाओं की पूर्ति व्यक्ति खुले रूप में कर सकता है क्योंकि समाज ऐसी इच्छाओं की पूर्ति ठीक समझता है, लेकिन अनैतिक इच्छाओं की पूर्ति व्यक्ति गुप्त रूप से करना चाहता है। इस प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति न होने पर उसके मन में एक उत्तेजना होती है जिसका प्रकाशन स्वप्न की अवस्था में होता है। अधिक उलझन का अनुभव व्यक्ति उस समय करता है जब कि उसका नैतिक मन किसी कार्य को न

करने के लिए रोकता है परन्तु इच्छा के प्रबल होने के कारण वह उसकी पूर्ति करना चाहता है। इस अन्तर्द्वन्द्व में फँसा हुआ व्यक्ति बेचैन हो जाता है। इस प्रकार की अतृप्त वासनायें संतुष्टि प्राप्त करने के लिए स्वप्न का सहारा लेती हैं। परन्तु इस अवस्था में भी नैतिक मन शान्त नहीं रहता। उसके डर से स्वप्न की रचना विचित्र रूपों में प्रकट होती है। इस प्रकार स्वप्नों के सहारे अतृप्त वासनायें काल्पनिक तृप्ति से संतोष पाती रहती हैं। फ्रायड ने कामवासना को मुख्य स्थान दिया है। किसी प्रकार के स्वप्न की व्याख्या कामवासना के आधार पर की जा सकती है।

परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कामवासना को ही प्रधान रूप देकर अन्य इच्छाओं के प्रभाव को न मानना एकांगी दृष्टिकोण है। कामवासना के अतिरिक्त अन्य प्रकार की इच्छायें भी स्वप्नों का कारण होती हैं। यद्यपि अन्य इच्छाओं की अपेक्षा साधारण रूप में कामवासना की इच्छा अधिक प्रबल होती है, लेकिन कभी-कभी अन्य इच्छाओं का रूप अधिक प्रबल होता है। ईर्ष्या, लोभ, बदला लेने की भावना इतनी प्रबल हो सकती है कि इसके समक्ष काम-भावना का महत्व गौण हो जाता है। इन भावनाओं को व्यक्ति सदैव अनुभव नहीं करता। संभव है कि किसी के प्रति व्यक्ति का ईर्ष्या भाव हो और उसका चेतन मन उसे अनुभव न करता हो। इस दशा में व्यक्ति अपने इस ईर्ष्या भाव को नहीं जान पाता, परन्तु उसके अचेतन में यह भाव स्पष्ट रहता है। इस प्रकार के भावों से हमारे अचेतन मन में उद्विग्नता रहती है। व्यक्ति का अन्तर्मन इस प्रकार के भावों से जटिल ग्रन्थि का निर्माण कर लेता है। पहाड़ों से गिरना, राक्षसों से लड़ना, किसी भयंकर तूफान में फँसना, अपने किसी प्रियजन की मृत्यु आदि विभिन्न प्रकार के भयंकर स्वप्न हैं जिनका कारण इस प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ ही हैं। स्वप्नों का रूप जाग्रत अवस्था के भावों के अनुसार ही बनता है। जिस प्रकार के भाव जाग्रत अवस्था में रहेंगे उसी प्रकार के अथवा विकृत रूप में स्वप्न के भाव रहेंगे। घृणा के भावों

का प्रकाशन किसी घृणात्मक स्वप्न के देखने से होता है। जाग्रत के भावों और स्वप्न के भावों में इतना ही अन्तर रहता है कि जाग्रत के भावों का आधार स्पष्ट दृष्टिगत होता है, परन्तु स्वप्न की रचना काल्पनिक होती है, यद्यपि इस कल्पना का आधार दृश्यमान जगत के ही पदार्थ हैं।

यहाँ पर यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि जाग्रत अवस्था के भावों का उसी रूप में प्रकाशन स्वप्न में नहीं होता। कभी-कभी स्वप्न के भाव जाग्रत अवस्था के भावों के विपरीत होते हैं। यदि किसी व्यक्ति में घृणा के भाव हैं और वह किसी से अपने प्रति किये गये व्यवहार के विरुद्ध बदला लेना चाहता है। स्वप्न में उसे ऐसा प्रतीत होता है कि कोई अन्य व्यक्ति उसे मारना चाहता है। उसके विरोध में वह दुर्बल दिखाई पड़ता है। जाग्रत काल में वह धन को एकत्र करने की इच्छा करता है और स्वप्न में वह देखता है कि उसका धन किसी ने चुरा लिया है। वास्तव में इस प्रकार के विपरीत भावों का कारण उसके अचेतन मन का भाव है। एक ओर वह धन एकत्र करने की इच्छा तो करता है परन्तु दूसरी ओर उसका अचेतन मन चोरी हो जाने के भय से बेचैन रहता है। यद्यपि यह भाव चेतन मन के लिए गौण होता है, परन्तु अचेतन मन में इसका रूप स्पष्ट रहता है। साधारण जीवन में इन गुप्त भावों का ज्ञान नहीं रहता, परन्तु इनका प्रकाशन स्वप्न के द्वारा समयानुसार होता रहता है।

कुछ लोगों का कथन है कि स्वप्नों के कारण निद्रा में बाधा पहुँचती है। यद्यपि देखने में तो ऐसा जान पड़ता है कि स्वप्न के कारण नींद खुल जाती है। तथा उसके कारण सोना कठिन हो जाता है। परन्तु इस अवस्था को समझने के लिए अतृप्त इच्छाओं की ओर ध्यान देना होगा। जिन इच्छाओं की पूर्ति जाग्रत अवस्था में नहीं हो पाती वे किसी न किसी रूप में स्वप्न की अवस्था में पूर्ण होती हैं। मानव मस्तिष्क जब तक अपनी इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर लेता उस समय तक वह शान्त नहीं रह सकता। निद्रावस्था में उनकी काल्पनिक पूर्ति होती है। यदि इस रूप

में इच्छाओं की पूर्ति न हो तो व्यक्ति का सोना असम्भव है। जब तक उसका मन इच्छाओं से भरा रहेगा नींद का आना कठिन है। जब इच्छायें काल्पनिक रूप से स्वप्न में पूर्ण हो जाती हैं तब नींद सरलता से आ जाती है। जीवन में उत्तेजनायें बनती और शान्त होती रहती हैं। यदि स्वप्न को निद्रा का बाधक माना जाय तो उत्तेजनाओं का रूप उसी प्रकार बना रहेगा। वास्तव में उत्तेजनाओं के शान्त होने पर ही नींद आ सकती है। स्वप्न के द्वारा इनको शान्ति मिलती है इसलिए स्वप्न को निद्रा में बाधक मानना भूल है। स्वप्न में इनकी पूर्ति किसी न किसी रूप में हो सकती है परन्तु इनसे बचने के लिए जाग्रत अवस्था में रहकर विपरीत भावों को दृढ़ करने की आवश्यकता पड़ती है। घृणा के भाव को दबाने के लिए प्रेम के भाव को दृढ़ करना चाहिए। इस प्रकार के विपरीत भाव को दृढ़ करने पर उत्तेजनाओं का विकास कम हो जायेगा।

आदेशात्मक स्वप्न और उनका महत्व

प्रचीन काल में स्वप्नों के आधार पर भविष्य की घटनाओं को जाना जाता था। आजकल भी कहीं कहीं पर स्वप्नों के आधार पर भविष्य की घटनाओं का उल्लेख किया जाता है। जब कभी हमारा मन किसी जटिल समस्या का समाधान नहीं पाता और चित्त अधिक बेचैन होकर किसी बाहरी सहायता की आशा करता है उस समय किसी अदृष्ट शक्ति के द्वारा उसे उस समस्या का समाधान स्वप्न की अवस्था में मिल जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब कि लोगों ने अपने कठिन प्रश्नों का समाधान स्वप्न की अवस्था में पाया है। साधारण बातों का ज्ञान हमारे चेतन मन को रहता है परन्तु जटिल समस्याओं के समाधान के लिये अचेतन मन ही अधिक कार्य करता है। वास्तव में इस प्रकार के स्वप्न हमारी आन्तरिक इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। साधारण रूप में हमें अपने विचारों की शक्ति का ज्ञान नहीं रहता, परन्तु इनका प्रभाव

असीम है। सहस्त्रों मील दूर रेडियो लहरों की तरह इनका प्रभाव कार्य करता है। भारतीय योग दर्शन में इसकी शक्ति का उल्लेख मिलता है। योगियों के पास कुछ ऐसी शक्तियाँ आ जाती हैं जिनके द्वारा वे दूसरों के विचारों को जानने में समर्थ होते हैं। दक्षिण प्रदेश के महर्षि रमण के पास एक अमरीकी व्यक्ति अपने प्रश्नों के उत्तर पूछने के लिए गया। उस समय महर्षि समाधि में थे। प्रतीक्षा करते करते उसे नींद आ गयी। नींद में उसने स्वप्न देखा और उसे ऐसा ज्ञात हुआ कि महर्षि ने उसके सारे प्रश्नों का उत्तर दे दिया है। जागने पर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। इस प्रकार के अनेक उदाहरण देखने में आते हैं। यद्यपि इस सिद्धान्त की कोई वैज्ञानिक व्याख्या अभी तक नहीं की जा सकी है, परन्तु जिन लोगों ने स्वयं ऐसे अनुभव किये हैं उनके लिए किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी इस बात को मानने लगे हैं कि मस्तिष्क में आया हुआ कोई विचार नष्ट नहीं होता। साधारण अवस्था में चेतन मन उसका अनुभव करता है, परन्तु सूक्ष्म भावों का ग्रहण अचेतन मन के द्वारा होता है।

कठिन परिस्थितियों में पड़ा हुआ व्यक्ति जब अपने को असहाय अवस्था में पाता है तब उसे आन्तरिक चेतना से सहायता मिलती है क्योंकि वाह्य चेतना की अपेक्षा अचेतन मन का स्तर अधिक सूक्ष्म होता है। एडलर के कथनानुसार मनुष्य अपनी विक्षिप्त दशा में समस्या के विभिन्न रूपों पर विचार करता है। हमारे बहुत से निर्णय चेतन मन के भावों और अचेतन मन की वृत्तियों की सहायता से होते हैं। किसी समस्या के समाधान के लिए जो व्यक्ति तर्क-वितर्क में फँसा रहता है वह किसी निर्णय पर शीघ्रता से नहीं पहुँच सकता। फलस्वरूप कभी-कभी गलत निर्णय हो जाता है। कुछ समस्याओं का समाधान अचेतन मन की प्रेरणा के आधार पर शीघ्रता से हो सकता है। साधारणतया जब जाग्रत अवस्था में अचेतन मन की प्रेरणा नहीं मिल पाती तब स्वप्न की अवस्था में प्रेरणा प्राप्त होती है। जब बाह्य कार्यों और

आन्तरिक मन में विरोध दिखाई पड़ता है उस समय इस प्रकार के स्वप्न आते हैं।

युङ्ग का सिद्धान्त इस क्षेत्र में अपना विशिष्ट महत्व रखता है। फ्रायड ने स्वप्न का मुख्य कारण कामवासना की अतृप्ति बताया था, परन्तु युङ्ग के अनुसार स्वप्न वर्तमान मानसिक दशा और उसकी आवश्यकता का प्रकाशन है। किसी विशेष घटना से संबंध होने, पर स्वप्न भी उसी से संबंधित होते हैं। युङ्ग स्वयं अपने अनुभव के आधार पर लिखते हैं कि रोगियों की मनोविश्लेषण विधि से चिकित्सा करते समय उन्हें आदेशात्मक स्वप्न होते हैं। इससे रोगी की बीमारी के मूल कारण को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। इसी के आधार पर उन्होंने अनेक रोगियों को अच्छा किया है। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार हम अपने स्वप्नों का अध्ययन कर अपने जीवन को उचित रीति से चलाने में समर्थ हो सकते हैं। कभी-भी स्वप्नों की बात को सत्य मानकर लोग अनेक भावी दुर्घटनाओं से बच जाते हैं। वास्तव में अपने आन्तरिक भाव को समझना सरल नहीं हैं, परन्तु इस ओर विशेष ध्यान देने पर उनकी भाषा समझ में आने लगती है। बहुत से स्वप्नों का आधार नैतिक नियम होते हैं जो कि हमें किसी बुरे काम को करने से रोकते हैं। परन्तु अधिकांश लोग अपने इन आन्तरिक भावों का उल्लंघन कर बुरे कामों में लग जाते हैं। ऐसे ही लोगों में मानसिक उलझनें अपनी जड़ जमा लेती हैं। युङ्ग ने स्वप्न के बाद जागने पर आने वाले विचारों पर भी महत्व दिया है। जागने के बाद उसी समय आने वाले विचार अधिकतर स्वप्न से संबंधित रहते हैं इसीलिए स्वप्न के अर्थ को समझने के लिए उनसे भी सहायता मिल सकती है। इस प्रकार किसी भी स्वप्न के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए उसके अन्तर्गत भावों तथा संबन्धित सभी भावों का अध्ययन करने की आवश्यकता पड़ती है।

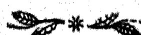
स्वप्नों का निराकरण

स्वप्नों पर हमारा कोई अधिकार नहीं रहता। हमारा अधिकार चेतन मन की अवस्था तक ही रहता है और स्वप्न हमारे अचेतन मन से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए हम अपनी इच्छानुसार स्वप्न नहीं देख सकते। कभी-कभी जाग्रत अवस्था के अनुभवों और स्वप्न के अनुभवों में कोई साम्य नहीं दिखाई पड़ता। कुछ स्वप्न जाग्रत अवस्था के भावों से बिल्कुल विपरीत होते हैं। अब यहाँ पर विचार यह करना है कि क्या स्वप्नों का बिल्कुल निराकरण किया जा सकता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार स्वप्नों का निराकरण संभव है। जिस प्रकार जाग्रत अवस्था के विचारों को एकदम रोकना संभव है उसी प्रकार स्वप्न को रोकना भी संभव है। इसके लिए कठिन अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है। यौगिक साधना में इस प्रकार विचारों का निरोध किया जाता है। विचारों पर नियंत्रण रखने के लिए शरीर की अवस्था को ठीक रखना आवश्यक है। मानसिक शुद्धि और सतत परिश्रम के द्वारा इस पर नियंत्रण रखा जा सकता है। गीता में भी भगवान कृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश दिया है कि निश्चय ही मन पर नियंत्रण पाना कठिन है परन्तु अभ्यास के द्वारा वैराग्य ग्रहण किया जा सकता है। वास्तव में आत्मा में महान शक्ति है। इसी आत्मशक्ति के द्वारा कोई भी कार्य सरलता से किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति में दृढ़ संकल्प का बहुत महत्व है। विचारों की दृढ़ता कठिन से कठिन काम सरल बना सकती है। इस आत्मशक्ति के द्वारा स्वप्नों का निराकरण भी किया जा सकता है।

स्वप्नों का निराकरण करना संभव है परन्तु इससे उनके कारण को नष्ट करना संभव नहीं है। वास्तव में साधारणतया सभी को स्वप्न आते हैं। अधिक स्वप्न या पूर्ण निरोध दोनों ही स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकर हैं। ब्राउन के अनुसार स्वप्न हमें नींद आने में सहायता करते हैं। इस विचार का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसलिए किसी भी रूप में स्वप्नों का बिल्कुल निराकरण करना ठीक नहीं है। कुछ लोग ऐसा

कहते हैं कि उन्हें स्वप्न नहीं होते। परन्तु इस कथन में प्रामाणिकता नहीं है। वास्तव में हम अपने सभी स्वप्नों को नहीं जान पाते। जिन लोगों ने यह धारणा बना ली है कि हमें स्वप्न आते ही नहीं, उन्हें स्वप्न आने पर उनका स्मरण ही नहीं रहता और उन्हें ऐसा प्रतीत होता है।

स्वप्नों के अर्थ को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने कार्यों पर विशेष ध्यान रखें। हमारे बहुत से स्वप्न हमारी त्रुटियों को स्पष्ट करते रहते हैं। आत्मचिंतन करने वाला व्यक्ति इन्हें सरलता से समझ सकता है। जो व्यक्ति अपने को पूर्ण समझता है उसके लिए ऐसे स्वप्न कोई महत्त्व नहीं रखते। परन्तु जिन्हें अपने सुधार की चिंता रहती वे इस प्रकार के स्वप्नों से अधिक लाभ उठा सकते हैं। साधु जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति यदि बुरे स्वप्न देखता है तो उसे अपने कार्यों तथा विचारों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। हो सकता है कि वह अपने भावों को दमन करता हो जिसका प्रकाशन स्वप्न में स्पष्ट रूप से होता है। विरोधी भावना को दृढ़ करने से भी बुरे स्वप्नों को कम किया जा सकता है। कुछ कुछ लोग ईर्ष्या, द्रोह, और घृणा के भावों के कारण बुरे स्वप्न देखा करते हैं, उन्हें प्रतिक्षण मित्र भाव को दृढ़ करने का अभ्यास करना चाहिए। यह दृढ़ विचार करना चाहिए कि संसार का प्रत्येक प्राणी उसका मित्र है। किसी भी जीव के साथ उसका द्रोह नहीं है। प्रारम्भिक अवस्था में इस विचार को हमारा चेतन मन ग्रहण करता है परन्तु अभ्यास करते करते अचेतन मन पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। अचेतन मन पर प्रभाव पड़ते ही विरोधी भाव नष्ट होने लगते हैं तथा उस प्रकार के स्वप्न आने भी कम हो जाते हैं। चेतन मन के भाव अचेतन मन के प्रबल भावों के समक्ष दब जाते हैं। इस प्रकार अचेतन मन के भावों के निर्देश के अनुसार चलने पर मानव अपने जीवन की अनेक कठिन समस्याओं का समाधान पा सकता है।



LIST OF REFERENCE BOOKS

1—Allport	:	Personality.
2—Andrews	:	Methods of Psychology.
3—Ballard	:	The New Examiner.
4—Bhatia	:	Intelligence Testing and National Reconstruction.
5—Boring and Others	:	Psychology—A Factual Text Book.
6—Boring and Others	:	Foundations of Psychology.
7—Cattell	:	A Guide to Mental Testing.
8—Cattel R. B.	:	Your Mind and Mine.
9—Cole	:	General Psychology.
10—Collins	:	Experimental Psychology.
11—Drever and Collins	:	Performance Tests of Intelligence.
12—Freud. S.	:	New Introductory Lectures on Psycho-Analysis.
13—Glover	:	Psycho-Analysis.
14—Guilford	:	General Psychology.
15—Guthrie and Edwards	:	Psychology—A First Course In Human Behaviour.
16—Hilgard	:	Theories of Learning.
17—James	:	Text Book of Psychology.
18—Jha B. N.	:	Educational Psychology.
19—Johnson D.M.	:	Essentials of Psychology.

20—Lewin.K. : Principles of Topological Psychology.

21—Mcdougall. W. : An Outline of Psychology.

22—Murphy : Briefer General Psychology.

23—Murphy : Personality.

24—Murphy : Histor iacal Introduction to Modern Psychology.

25—Nunn N.L. : Psychology.

26—Pelterman : The Gestalt Theory.

27—Piaget : The Psychology of Intelligence.

28—Shukla L. R. : Saral Manovigyan.

29—Sohan Lall : Mental Measurement.

30—Sohan Lall : The Allahabad Intelligence Test.

31—Stagner : Personality.

32—Thomson : Some Recent Work in Factorial Analysis.

33—Termon and Merrill : Measuring Intelligence.

34—Vernon : The Measurement of Abilities.

35—Vernon : The Structure of Human Abilities.

36—Woodworth R. S. : Contemporary Schools of Psychology.

37—Woodworth R. S. : Psychology—A Study of Mental Life.



शब्द सूची

A

Abilities = योग्यतायें।

Abnormal = असामान्य।

Absolute threshold = पूर्ण सीमा।

Achromatic = वर्ण विहीन।

Acid = खट्टा।

Acquired = उपार्जित।

Acquisitiveness = संग्रह-शीलता।

Adaptation = अनुशीलन।

Aesthetic = सौन्दर्यात्मक।

Affarent (Sensory) Neurones = ज्ञानवाही नाड़ी तन्तु।

Affection = भावना।

After Image = अनुबिम्ब या उत्तर प्रतिमा।

After Sensation = अनुसंवेदना।

Amplitude = विस्तार।

Analysis of Consciousness = चेतना का विश्लेषण।

Animal Psychology = जन्तु मनोविज्ञान।

Anthropology = मानव-विज्ञान।

Aphasia = वाक्-भ्रंश।

Appreciation of trial and error = प्रयास और भूल का आत्मज्ञान।

Aptitude = प्रवणता।

Arithmetical Progression = योगात्मक क्रमवृद्धि, अंकगणित के क्रम से विकासगति।

Artistic = कलात्मक।

Association = साहचर्य।

Associationism = साहचर्य-वाद।

Associative = साहचर्यात्मक।

Associative Neurone = संयोजक नाड़ी तन्तु।

Atmosphere Effect = वातावरण का प्रभाव।

Attainment = संप्राप्ति।

Attending = अवधान क्रिया ।

Attention = अवधान या ध्यान ।

Aurity = विस्तार ।

Autonomous Nervous System = स्वतन्त्र नाड़ी मंडल ।

Auto Suggestion = आत्म-निर्देश ।

Auditory = श्रवणात्मक ।

Automatic = स्वतः ।

Average = साधारण, औसत ।

Axone = ऐक्सोन ।

B

Backwardness = पिछड़ापन ।

Balancing = संतुलन ।

Behaviour = व्यवहार ।

Behaviour as dependent on the environment = वातावरण पर आधारित व्यवहार ।

Behaviourist = व्यवहारवादी ।

Belongingness = परिग्रह ।

Biological = जैविक ।

Biological needs = जैविक आवश्यकताओं ।

Biology = जीव विज्ञान ।

Blind Spot = अन्ध विन्दु ।

Bodily Tissues = शरीर तत्व, तन्तुओं ।

Brain = मस्तिष्क ।

Brightness = दीप्ति सातत्य ।

C

Cardiac Cell = हृत्पेशी कोषाणु ।

Casual Labour = साधारण मजदूरी ।

Catharsis = रेचन ।

Cavity = विवर ।

Cell = कोषाणु ।

Cell Body = कोषाणु शरीर ।

Censor = प्रतिबन्धक ।

Central Nervous System = केन्द्रीय स्नायु समवाय ।

Cerebro Spinal System = मस्तिष्क सुषुम्ना नाड़ी तन्त्र ।

Cerebrum = वृहद् मस्तिष्क ।

Change = परिवतन ।

Choroid Coat = मध्य आवरण ।

Chronological Age = वास्तविक आयु ।

Clinical Psychology = चिकित्सा मनोविज्ञान ।

Cochlea = शंख ।

Coefficient of Correlation = अनुबन्धक गुणक ।

Collective Unconscious = सामूहिक अचेतन ।

Colour Blindness = वर्णान्धता ।
Colour Mixer = वर्ण सम्मिश्रण ।
Complementary = परिपूरक ।
Conation = संकल्प शक्ति का प्रयत्न ।
Concept = प्रत्यत्त, प्रत्यय ।
Concrete = मूर्त्त ।
Condensation = सिकुड़ना, जमाव ।
Conditioning = सापेक्षीकरण, सम्बद्धता ।
Conditioned Reflex = सम्बद्ध प्रत्यावर्तन ।
Conditioned response = अभिसन्धानित प्रतिक्रिया ।
Cone = कोन ।
Cognition = प्रज्ञा ।
Cornea = कनीनिका ।
Conscious mind = चेतन मन ।
Consciousness = चेतना ।
Connect = संयुक्त ।
Constant = अचल राशि ।
Constancy = सातत्य ।
Constrained Association = आबद्ध साहचर्य ।
Contiguity = सामीप्य ।
Convergence = संसरण ।
Convoluted = घुमावदार ।
Correlation = अनुबंधन ।
Cortex = कोर्टक्स ।
Cranio Sacral = कापालिक अनुत्रिका ।
Cranio Sacral Nervous System = कापालिक अनुत्रिका नाड़ी तन्त्र ।
Cranial Neurones = कापालिक नाड़ियाँ ।
Cranium = कपाल ।
Criteria = कसौटी ।
Cultural determination of Needs = आवश्यकताओं का सांस्कृतिक निर्धारण ।

D

Dark Adaptation = अंधकार अनुशीलन ।
Day Dream = दिवा-स्वप्न ।
Deductive reasoning = व्यावहारिक तर्क ।
Deficient (mental) = बुद्धू ।
Dendrite = डेन्ड्राइट ।
Dependent Variable = परतन्त्र चलराशि ।

Derived needs = अर्जित आवश्यकतायें ।
Descriptive = वर्णात्मक ।
Deterioration = अपकर्ष ।
Determinant = निर्धारक ।
Development = उपकर्ष ।
Diagnosis = निदान कार्य ।
Differentiation = विभेदन ।
Displacement of affect = प्रभाव का स्थानान्तरण ।
Dissociation = पृथक्करण ।
Distraction = ध्यान भंग होना ।
Distribution = वितरण ।
Distributed & Massed practice = वितरित और एकत्रित अभ्यास ।
Distorting Mechanisms = विकृत यन्त्र-रचना ।
Double Personality = द्विव्यक्तित्व ।
Dramatization = नाटक रूप में परिवर्तन ।
Drives = इच्छायें या ईहायें ।
Duration = सत्ताकाल ।
Dynamic Psychology = गत्यात्मक मनोविज्ञान ।

E

Ear-Cavity = कर्ण कुहर ।
Ear-Drum = कान का पर्दा ।
Ear-External = वाह्य कर्ण ।
Ear-Inner = अन्तः कर्ण ।
Ear Middle = मध्य कर्ण ।
Educational Psychology = शिक्षा मनोविज्ञान ।
Effectors = प्रभावक ।
Ego needs = अहम् आवश्यकतायें ।
Electro-Chemical = विद्युत रासायनिक ।
Embroyonic Stage = बुदबुदावस्था ।
Emotion = संवेग ।
Emotional Maturity = संवेगात्मक परिपक्वता ।
Empathy = समानुभूति ।
Endocrine Glands = एन्डोक्रीन ग्रन्थियाँ ।
Enforced – बाध्य ।
Environment = परिवेश या वातावरण ।
Equilibrium = शक्ति संतुलन ।
Ethics = नीति विज्ञान ।

Experimental Neurosis = प्रयोगजन्य व्यतिक्रम ।
Experimental Psychology = प्रयोगात्मक मनोविज्ञान ।
Explanatory Principle = व्याख्यात्मक सिद्धान्त ।
Extensity = व्यापकता ।
Exteroceptors = वाह्य ग्राहक ।
Extinction = विनाश ।
Extroverted = वहिर्मुखी ।
Eye Ball = नेत्र गोलक ।

F

Facilitation = आवृत्तिकरण ।
Faculty Psychology = शक्ति मनोविज्ञान ।
Fallacy = हेत्वाभास ।
Faulty transfer of method = ग़लत विधि का प्रयोग ।
Feeling = भावना ।
Fertilised Cell = गर्भ कोषाणु ।
Fetel = भ्रूण ।
Field = क्षेत्र ।
Fissures = दरारें ।
Fissures of Rollands = रोलैन्डो की दरारें ।
Fissures of Sylvius = साइलवियस की दरारें ।
Fluctuation = चांचल्य ।
Forgetting = विस्मरण ।
Fraternal = दो डिम्बजन्य ।
Free Association = स्वतन्त्र साहचर्य ।
Frequency = आवृत्ति ।
Frontal Lobe = अग्रिम खंड ।
Frustration tolerance = उलझन में सहनशीलता ।
Functional = क्रियात्मक ।

G

Generalisation = व्यापकता ।
Generalization = व्याप्ति ।
Generalized Object = सामान्य वस्तुएँ ।
Genius = प्रतिभाशाली ।
Geometrical progression = ज्यामिति-क्रमविकास ।
Germinal period = बीजकाल ।
Gregariousness = यूथचारिता ।
Guidance = निर्देशन ।

H

Habitual methods of attack = अभ्यस्त विधियों का प्रयोग ।

Hallucination = मरीच्चिका, भ्रम ।

Higher animals = उच्चकोटि के जीवों ।

Homogeniety = सजातीयता ।

Hormones = आभ्यान्तर-रस ।

Hunches = दोषयुक्त परिज्ञान ।

Hunger Drive = भूख ईहा ।

Hypnosis = सम्मोहन ।

I

Identical = एक डिम्बजन्य ।

Ideo Motor Action = विचार क्रिया ।

Illumination = प्रकाश ।

Image = प्रतिमा ।

Imagery = प्रतिमा ।

Image-Eidetic = आइडेटिक प्रतिमा ।

Image-Hypnogogic = सम्मोहन प्रतिमा ।

Image-Imagination = काल्पनिक प्रतिमा ।

Image-Memory = स्मृति प्रतिमा ।

Imagery-Auditory = ध्वनि प्रतिमा ।

Imagery-Gastitutory = स्वाद प्रतिमा ।

Imagery Motile = गत्यात्मक प्रतिमा ।

Imagery-Oilfactory = गंध प्रतिमा ।

Imagery-Taxtile = स्पर्श प्रतिमा ।

Imagination = कल्पना ।

Imagination-Aesthetic = सौन्दर्यात्मक कल्पना ।

Imagination-Artistic = कलात्मक कल्पना ।

Imagination-Creative = विधायक कल्पना ।

Imagination-Fantastic = तरंगात्मक कल्पना ।

Imagination-Pragmatic = कृत्य साधक कल्पना ।

Imagination-Reproductive = पुनरुत्पादन कल्पना ।

Imagining = कल्पना क्रिया ।

Incentives = प्रवर्तक ।

Incipient Movement = अप्रत्यक्ष चेष्टा ।

Incorrect thinking = अशुद्ध चिंतन ।

Incubation = धारणा ।

Independent Effector = स्वतंन्त्र प्रभावक ।

Independent Variable = स्वतन्त्र चल राशि।
Indirect = परोक्ष।
Individual differences = वैयक्तिक भिन्नता।
Individual differences in respect of needs = आवश्यकताओं के सम्बन्ध में वैयक्तिक विभिन्नता।
Inducement = उद्दीप्त।
Inductive reasoning = अन्वेषणात्मक तर्क।
Industrial Psychology = औद्योगिक मनोविज्ञान।
Inferiority Complex = हीनता का भाव, हीनत्व-ग्रन्थि।
Inhibition = निरोध।
Innate = जन्मजात, प्रान्तरिक।
Inner Ear = अन्त: कर्ण।
Inner Flame = अन्तर्ज्योति।
Insane = विक्षिप्त।
Insight = अन्तर्दृष्टि, परिज्ञान।
Instincts = मूल प्रवृत्तियाँ।
Institutional = कार्य के अयोग्य किसी संस्था में रखने योग्य।
Intensity = तीव्रता।
Integrate = संश्लिष्ट।
Intelligence = बुद्धि।
Intelligence Quotient = बुद्धि लब्धि।
Intelligence Test = बुद्धि परीक्षा।
Interference = बाधा।
Internal Process = आन्तरिक प्रक्रिया।
Interoceptor = अन्तर्ग्राहक।
Introverted = अन्तर्मुखी।
Introspection = अन्तर निरीक्षण।
Invention = अन्वेषण।
Item Analysis = प्रकरण चयन।
Iris = आँख का तारा।

K

Kinds of reasoning = चिंतन करने का ढङ्ग।

L

Learning = सीखना।
Learning Method = सीखने की क्रिया द्वारा आवश्यकता का माप।
Lens = लेन्स।
Light Adaptation = प्रकाश अनुशीलन।
Liquidation = विलयन।

Liver = यकृत ।

M

Manifest content = स्पष्ट तत्त्व ।

Maternal need = मातृत्व आवश्यकता ।

Maturation = परिपक्वता ।

Measurement of Needs = आवश्यकताओं का माप ।

Mechanical = यांत्रिक ।

Medulla = शुषुम्ना शीर्षक ।

Membrane = झिल्ली ।

Memory = स्मृति ।

Mental Age = मानसिक आयु ।

Mental Philosophy = मानसिक दर्शन ।

Mental Objects = मानसिक पदार्थ ।

Mind = अन्तःकरण ।

Modification = संशोधन ।

Morala = कलल ।

Motivation = प्रेरणा ।

Motivational = प्रेरणात्मक ।

Motor = क्रियात्मक ।

Motor Area = चेष्टा क्षेत्र ।

Motor Neurone = क्रिया वाही नाड़ी तन्तु ।

Motor Organs = कर्मेन्द्रियाँ ।

Movement = गति ।

Muscles = मांस पेशियाँ ।

N

Needs = आवश्यकतायें ।

Negative after Image = विषमानुबिंब ।

Nervous System = स्नायु समवाय ।

Neural Activity = स्नायविक गति ।

Neural Impulse = स्नायु आवेग ।

Neural Net = स्नायु जाल ।

Neurotic = सनकी ।

Noise = शोर ।

Non Verbal = अशाब्दिक ।

Non-vital = साधारण ।

Normal = सामान्य ।

Normative = आदर्श निर्धारक ।

Novelty = नवीनता ।

Nymphomania = रति-संबन्धी-उत्कट-इच्छा ।

O

Objects = वस्तु ।

Objects with dynamic properties = गतियुक्त वस्तुएँ ।

Obstruction method= अवरोध विधि ।
Organic sensations = आवयविक संवेदनाएँ ।
Original stimulus = मौतिक उत्तेजना ।
Ovaries in the female= डिम्ब ।
Ovum = डिम्ब ।

P

Pancreas = क्लोम ।
Parietal Lobe = शिखा खंड ।
Perception = प्रत्यक्ष, प्रत्यक्षीकरण ।
Performance Test = कौशल प्रदर्शक परीक्षा ।
Peripheral Nervous System = संयोजक नाड़ी मंडल ।
Persistence = दृढ़ता ।
Personal identity = वैयक्तिक समानता ।
Personality = व्यक्तित्व ।
hi-Phenomenon = फाई-व्यापार ।
Phobia = अकारण भय ।
Physical = शारीरिक ।
Physics = भौतिक विज्ञान ।
Physiology = शरीर विज्ञान ।
Physiological = शारीरिक ।
Plateau of Learning = सीखने का पठार ।
Point of inner limit of sensation = संवेदना की सीमा का अतिक्रमण बिन्दु ।
Positive = विधायक ।
Positive after Image = समानुबिम्ब ।
Preconscious = चेतनोन्मुख ।
Prejudice = पक्षपात ।
Preparatory Set = प्रस्तुतकारी विन्यास ।
Primary = प्राथमिक ।
Prism = समपार्श्व ।
Projection = आरोपण व्यापार ।
Projective = अभिक्षेपक ।
Propagation = प्रचारण ।
Propensities = स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ ।
Propriocepter = पूर्वान्त-ग्राहक ।
Proximity = सामीप्य ।
Psychiatry = मानसिक विकृति विशेषज्ञता ।

Psycho Analysis = मनः विश्लेषण ।
Psychological = मनोवैज्ञानिक ।
Psychology of Individual difference = व्यक्तिगत अन्तर का मनोविज्ञान ।
Psychoneurological theory = मन - नाड़ी - विज्ञान के सिद्धान्त ।
Psycho-Physical Parallelism = शरीरात्म समानान्तरता ।
Pugnacity = युयुत्सा ।
Purity = शुद्धता ।

Q

Quantitative = परिमाणात्मक ।

R

Range of Sensibility = संवेदनात्मक-विस्तार ।
Rareness = दुष्प्राप्यता ।
Rating Scale = मूल्यकरण का परिमाण ।
Rational = बौद्धिक ।
Raw Score = प्राप्तांक ।
Readiness = तत्परता ।
Reasoning = तर्कना ।
Recall = पुनरावर्तन ।
Receptors = ग्राहक ।
Re-education = पुनः शिक्षा ।
Reciprocal = व्युत्क्रम ।
Reciprocal Innervation = अन्योय शक्ति प्रदान ।
Recitation = आवृत्तिकरण ।
Recognition = पहचान ।
Reconstruction = पुनः निर्माण ।
Red Green Blindness = नीला पीला वर्णान्धता ।
Reflex Action = सहज क्रिया या प्रक्षिप्त क्रिया ।
Reflex Circle = प्रक्षप्ति वृत्त ।
Reflex Response = प्रतिक्रिया ।
Refractory Period = संज्ञा शून्यता का समय ।
Reinforcement = सहायक-सामग्री ।
Relation of environment to needs = वातावरण का आवश्यकताओं से सम्बन्ध ।
Relative or differential threshold = सम्बन्धित सीमा ।
Relearning = पुनः सीखना ।
Reliable = विश्वसनीय ।
Remembering = स्मरण ।
Repitition = आवृत्ति ।

Repression = दमन ।
Reproductive Organs = जननेन्द्रियों ।
Response = प्रतिक्रिया ।
Response Mechanism = प्रतिक्रिया यन्त्र ।
Retention = धारण ।
Retina = अन्तः पटल ।
Retroactive Inhibition = विपरीत विलयन ।
Rod = छड़ ।
Rod Vision = छड़ दृष्टि ।

S

Salivery Glands = रालवाही ग्रन्थियाँ ।
Saturation = सिक्तता ।
Satyriasis = रति-सम्बन्धी-उत्कट-इच्छा ।
Saving Method = बचत का उपाय ।
Secondary = गौण ।
Secondary Colour = गौण रंग ।
Secondary Elaboration = गौण-विस्तार ।
Selerotic Coat = वाह्य आवरण ।
Self Assertion = महत्व प्रदर्शन ।
Semi-Skilled Work = अर्ध दस्तकारी का कार्य ।
Sensation = संवेदना ।
Sense Organs = ज्ञानेन्द्रिय ।
Sensitivity = संवेदनशीलता ।
Sensory = संवेदात्मक ।
Sensory Cells = संवेदना कोषाणु ।
Set = मानसिक विन्यास ।
Sex = काम ।
Sex drive = काम ईहा ।
Sex Functions = काम-क्रियाओं ।
Sex Glands = काम ग्रन्थियाँ ।
Shade = आभा ।
Similarity = समानता ।
Simple Reflex Arc = साधारण प्रक्षिप्त चाप ।
Simultaneous Contrast = समकालीन विरोध ।
Situation = परिस्थिति ।
Skilled Work = दस्तकारी का कार्य ।
Smooth = एकसार ।

Smooth Muscle Cell = स्निग्ध पेशी कोषाणु ।
Social = सामाजिक ।
Social Psychology = सामाजिक मनोविज्ञान ।
Someosthetic = देहात्मक ।
Somnambulism = निद्रा-विचरण ।
Spatial = देशीय ।
Species = विशेष जाति ।
Specific Objects = विशिष्ट वस्तुएँ ।
Spectrum = वर्णपट ।
Speech Area = वाणी क्षेत्र ।
Sperm = शुक्राणु ।
Spinal Chord = सुषुम्ना नाड़ी ।
Spindle = ढरकी ।
Spontaneous = स्वतः निष्प्रयत्नात्मक ।
Standardise = मान निरुपित ।
Statistical = गणनात्मक ।
Statistics = अंक विज्ञान ।
Sterotyped = रूढ़ ।
Stimuli = उत्तेजकों ।
Stimulus = उत्तेजना ।
Strangeness = विचित्रता ।
Stream of Consciousness = चेतना की धारा ।
Striped Muscle = रेखा युक्त पेशी ।
Striped Muscle Cell = रेखा युक्त पेशी कोषाणु ।
Structural = रचनात्मक ।
Subject = विषय ।
Substitute Adjustment = प्रतिरूप समायोजन ।
Substitute Satisfaction = प्रतिरूप संतोष ।
Succesive Contrast = क्रमिक विरोध ।
Suggestion = निर्देश ।
Summation = समष्टि करण ।
Super-Ego = नैतिक मन ।
Superior = उत्तम ।
Superstition = अन्ध विश्वास ।
Supporting Set = सहायक विन्यास ।
Surplus Energy = अतिरिक्त शक्ति ।
Sweat glands = प्रस्वेद ग्रन्थियाँ ।
Symbols = चिन्ह ।
Symbolism = संकेत ।

Sympathetic Nervous System = माध्यमिक या अनुकम्पिका नाड़ी मंडल ।
Systematic Logic = सुव्यवस्थित तर्क ।
Symmetry = सगति ।
Synapse = साइनैप्स ।
System = समवाय ।

T

Tear Glands = अश्रु ग्रन्थियाँ ।
Temporal Lobe = पार्श्व खण्ड ।
Testes in the male = अण्ड-कोष ।
Thalamus = थैलेमस ।
The Physiological basis of behaviour = व्यवहार का शारीरिक आधार ।
Theory of Evolution = विकास सिद्धान्त ।
Thinking = चिंतन ।
Thought = विचार ।
Threshold = सीमा ।
Threshold of Sensation = सीमान्तक परिमाण ।
Tone = नाद ।
Topographical Psychology = स्थानीय क्षेत्र मनोविज्ञान ।
Traits = लक्षण ।
Transference of Learning = सीख का स्थानान्तरण ।
Transference-Negative = विपरीत स्थानान्तरण ।
Transference-Positive = अनुरूप स्थानान्तरण ।
Transparent = पारदर्शी ।
Trial and Error = प्रयत्न और भूल, प्रयास-और-त्रुटि ।
Tropism = ट्रापिज़्म ।
Try Out = आरम्भिक परीक्षण ।

U

Unconscious = अचेतन ।
Upper limit of sensation = संवेदन सीमा का अंतिक्रमण बिन्दु ।

V

Valid = प्रमाणिक ।
Verbal = शाब्दिक ।
Verification = परीक्षा ।
Vertebral Column = मेरु दण्ड ।
Vestibule = ड्योढ़ी ।
Vibrations = स्पन्दन ।
Visual = दृश्यात्मक ।

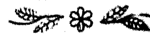
Visual Imagery = दृष्टि प्रतिमा।
Vital = प्राणभूत।
Vital Force = प्राणशक्ति।
Vocational Guidance = व्यवसाय निर्देशन।
Volitional = प्रयत्नात्मक।
Voluntary (Movement) = ऐच्छिक (गति)।

W

White Matter = श्वेत पदार्थ।
Will = इच्छा।
Wishful Thinking = सकाम चिन्तन।
Word-association = शब्द-सम्बन्ध।
Word Fallacies = शब्द हेत्वाभास।

Y

Yellow Blue Blindness = नीला पीला वर्णान्धता।



प्रश्न

१—'मनोविज्ञान से हमारा तात्पर्य उस विधायक-विज्ञान से है जिसके अन्तर्गत हम सम्पूर्ण मानव की क्रियाओं का अध्ययन करते हैं।' मनोविज्ञान की इस परिभाषा को स्पष्टता पूर्वक समझाओ।

२—क्या मनोविज्ञान विज्ञान है? उसको क्यों एक विधायक-विज्ञान समझा जाता है?

३—मनोविज्ञान के अन्तर्गत मानव का कौन सा पक्ष आता है? उसमें किस प्रकार की मानवीय क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है?

४—मानसिक क्रिया के कौन से तीन अंग माने गये हैं? उनके पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करो।

५—उत्तेजना से क्या अर्थ समझते हो? वह किस प्रकार परिस्थिति से भिन्न होती है? उदाहरण देकर समझाओ।

६—प्रतिक्रिया से क्या अर्थ समझते हो? वह किस प्रकार उत्तेजना से भिन्न होती है?

७—मनोविज्ञान का अन्य विज्ञानों से क्या सम्बन्ध है? यह कहना कहाँ तक ठीक है कि मनोविज्ञान जीव विज्ञान तथा समाज-विज्ञानों के मध्य में पड़ता है तथा इनको, एक सामूहिक प्रयत्न द्वारा मानव का संगठित स्वरूप सबके सामने रखना सिखाता है?

८—मनोविज्ञान के विषय-विस्तार का वर्णन करो। अब किस प्रकार इसकी सीमाएँ पहले से अधिक व्यापक हो गई हैं?

९—मनोविज्ञान का क्या उद्देश्य है? इसकी पूर्ति के मार्ग में क्या कठिनाइयाँ हैं?

१०—अन्तर्निरीक्षण से क्या अर्थ समझते हो ? उसके गुण तथा दोषों की व्याख्या करो।

११—क्या आधुनिक मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए अन्तर्निरीक्षण की रीति पर्याप्त है, यदि नहीं तो क्यों ?

१२—निरीक्षण की रीति का वर्णन करो ? यह रीति किन दशाओं में सबसे अधिक सफलता पूर्वक प्रयोग की जा सकती है ? इसके कुछ प्रमुख दोषों की व्याख्या करो।

१३—प्रयोगात्मक रीति से क्या अर्थ समझते हो ? यह कहना कहाँ तक ठीक है कि आधुनिक मनोविज्ञान का अध्ययन करने के लिए यह रीति पूर्णतः पर्याप्त है ?

१४—मनोविज्ञान-अध्ययन की विभिन्न रीतियों पर संक्षेप में विचार करो ? इनमें से कौन सी रीति सबसे अधिक उपयुक्त समझते हो और क्यों ?

१५—मानवीय प्रतिक्रिया-यन्त्र का संक्षिप्त वर्णन करो ? मनोवैज्ञानिक अध्ययन में कौन सा भाग सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और क्यों ?

१६—प्रतिक्रिया-यन्त्र के विकास का संक्षिप्त वर्णन करो। विकास-परम्परा में अपने से नीचे के प्राणियों की अपेक्षा मानवीय प्रतिक्रिया-यन्त्र में क्या विशिष्टता होती है ?

१७—मनोवैज्ञानिक प्रक्रियों में ग्राहकों का क्या महत्व है वे कितने प्रकार के होते हैं ? चित्र की सहायता से स्पष्टतापूर्वक समझाओ।

१८—स्नायु-समवाय से क्या अर्थ समझते हो ? मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में उसका क्या स्थान है ?

१९—स्नायु-समवाय को संयोजक कह कर पुकारना कहाँ तक ठीक है ? उसकी स्वाभाविक क्रियाओं का वर्णन करो।

२०—चित्र की सहायता से नाड़ी-तन्तु की बनावट समझाओ ? मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में उनका क्या महत्व है और क्यों ?

२१—'साइनेप्स' से क्या अर्थ समझते हो ? उसका नाड़ी-तन्तु से क्या सम्बन्ध होता है ? क्या दो डेन्ड्राइट के बीच साइनेप्स हो सकता है, यदि नहीं तो क्यों ?

२२—नाड़ी-तन्तुओं के विभिन्न भेदों का वर्णन करो और समझाओ कि मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में इनमें से हर एक का अलग-अलग क्या महत्व है।

२३—स्नायु-समवाय के विभागों का संक्षिप्त वर्णन करो ? उनके पारस्परिक अन्तर तथा तुलनात्मक विशिष्टता को स्पष्टता पूर्वक समझाओ।

२४—संयोजक-नाड़ी-मंडल से क्या अर्थ समझते हो ? यह स्नायु-समवाय के किस विभाग के अन्तर्गत आता है और समझाओ कि मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में क्या स्थान रखता है ?

२५—चित्र द्वारा मस्तिष्क-सुषुम्ना-नाड़ी-तन्त्र की बनावट समझाओ ? उसके विभिन्न भागों के तुलनात्मक महत्व का वर्णन करो।

२६—चित्र द्वारा मस्तिष्क की बनावट तथा उसके विभिन्न भागों का स्पष्टता-पूर्वक वर्णन करो। इसके किस भाग का तथा किस प्रकार हमारे संवेगात्मक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है ?

२७—लघुमस्तिष्क के स्थान तथा महत्व का वर्णन करो। उसको क्षति पहुँ-चने से प्राणी के व्यवहार पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

२८—वृहद्मस्तिष्क से क्या अर्थ समझते हो ? उसके विभिन्न खंडों का वर्णन करो और यह बताओ कि प्रत्येक का मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में क्या स्थान है ?

२९—वृहद्मस्तिष्क के संवेदनात्मक व्यापारों का क्या अर्थ समझते हो ? प्रत्येक का वर्णन स्पष्टता पूर्वक करो।

३०—'कार्टेक्स' का क्या अर्थ समझते हो ? उसके व्यापार का वर्णन करते हुए मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में उसका महत्व समझाओ।

३१—वृहद्मस्तिष्क के साहचर्यात्मक व्यापारों का वर्णन करो ? कार्टेक्स के किस भाग से इनका विशिष्ट सम्बन्ध है तथा उसको क्षति पहुँचाने से व्यवहार पर क्या प्रभाव पड़ता है।

३२—'स्वतन्त्र-नाड़ीमंडल' का वर्णन करो। उसका मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से क्या सम्बन्ध है, स्पष्टतापूर्वक समझाओ।

३३—प्रभावकों के प्रकार तथा महत्व का संक्षिप्त वर्णन करो।

३४—'संवेदना' से क्या अर्थ समझते हो? उसका उत्तेजना से क्या सम्बन्ध है?

३५—संवेदना के विभिन्न धर्मों की विशद व्याख्या करो?

३६—संवेदनाएँ कितने प्रकार की होती हैं? अन्तरावयव संवेदनाओं को स्पष्टतापूर्वक समझाओ।

३७—चित्र की सहायता से नेत्र की बनावट का वर्णन करो।

३८—रेटिना अथवा अन्तः पटल की बनावट का वर्णन करो और यह समझाओ कि इसके द्वारा प्रकाश तथा अंधकार-अनुशीलन किस प्रकार सम्भव होता है।

३९—दृष्टि-संवेदना में रङ्ग, दीप्ति और सिक्तता का क्या महत्व है? वर्ण शंकु की सहायता से इस तथ्य का निरूपण करो।

४०—वर्णान्धता से क्या अर्थ समझते हो? विभिन्न प्रकार की वर्णान्धता का स्पष्टतापूर्वक वर्णन करो।

४१—प्राथमिक तथा गौण रङ्गों के बीच क्या अंतर होता है? प्रयोगात्मक तथ्यों के आधार पर स्थिर किए गए विभिन्न नियमों की व्याख्या करो।

४२—अनुबिम्ब तथा समकालीन विरोध के मध्य क्या अन्तर है? प्रत्येक के सम्बन्ध में कुछ साधारण प्रयोगों का वर्णन करो।

४३—चित्र खींचकर श्रवणेन्द्रिय की बनावट समझाओ। श्रवण संवेदना में कान के प्रत्येक भाग का अलग अलग क्या महत्व होता है, स्पष्टता पूर्वक समझाओ।

४४—ध्वनि के स्तर, घोष और टिम्बर से क्या समझते हो, प्रत्येक का वर्णन स्पष्टता पूर्वक करो।

४५—स्वाद तथा गन्ध संवेदना में क्या सम्बन्ध है ? उसके विविध अंगों की व्याख्या करो।

४६—देहात्मक संवेदना अन्य संवेदनाओं से किस प्रकार भिन्न होती है ? उसके विभिन्न अंगों की स्पष्ट व्याख्या करो।

४७—त्वचात्मक संवेदनाओं को कितने अंगों में विभाजित किया जा सकता है ? प्रत्येक का वर्णन करो।

४८—मानवीय व्यवहार की व्याख्या करने के लिए तुम कौन सा सुत्र अधिक उपयुक्त समझते हो, उ→ प्र या उ →प्रा→प्र, और क्यों ?

४९—अपने आप होने वाली तथा ऐच्छिक क्रियाओं में क्या अन्तर होता है ? उदाहरण देकर समझाओ।

५०—चित्र द्वारा साधारण प्रक्षिप्त चाप को समझाओ। इसको मनोवैज्ञानिक व्यवहार की इकाई मानना कहाँ तक अत्युक्तिपूर्ण है।

५१—सापेक्षित क्रिया का क्या अर्थ है ? प्रक्षिप्त-वृत-क्रिया में उसका कितना हाथ रहता है ? उदाहरण देकर समझाओ।

५२—विचार-क्रिया और समानुभूति में क्या अन्तर है ? उदाहरण देकर समझाओ।

५३—इच्छा-शक्ति किसे कहते हैं ? उसका प्रेरणा से क्या सम्बन्ध है ? यह कहना कहाँ तक ठीक है कि "इच्छा शक्ति कोई मौलिक तथ्य न होकर प्रेरणात्मक द्वन्द्वों के परिणाम का वाह्य स्वरूप मात्र होती है ?" उदाहरण देकर समझाओ।

५४—ऐच्छिक क्रिया किसे कहते हैं ? उसकी निश्चयात्मक दशाओं पर विचार करो।

५५—मूल-प्रवृतियों से क्या अर्थ समझते हो ? प्रक्षिप्त-चाप से वे किस प्रकार भिन्न होती हैं, स्पष्टता पूर्वक समझाओ।

५६—मानवीय मूल-प्रवृतियों के विषय में एक संक्षिप्त निबन्ध लिखो।

५७—निम्न के विषय में संक्षिप्त टिप्पणी लिखो :—

प्रतिक्रिया-समय, सरल-प्रतिक्रिया, संवेदनात्मक तथा क्रियात्मक प्रतिक्रियाएँ, शाब्दिक प्रतिक्रिया, स्वतन्त्र तथा आबद्ध साहचर्य्य ।

५८—अवधान-क्रिया से क्या अर्थ समझते हो ? उदाहरण देकर समझाओ।

५९—अवधान-क्रिया में व्यक्ति की क्या दशा होती है ? इससे सम्बन्धित विभिन्न मनोवैज्ञानिक तथ्यों की व्याख्या करो।

६०—मानसिक विन्यास का अवधान-क्रिया से क्या सम्बन्ध है ? उदाहरण द्वारा उसका महत्व समझाओ।

६१—अवधान और रुचि में क्या सम्बन्ध है ? यह कहना कहाँ तक ठीक है कि अवधान-क्रिया होने के लिए रुचि का होना आवश्यक है।

६२—अवधान-क्रिया के विभिन्न अंगों का वर्णन करो। उनके बीच के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए प्रत्येक से सम्बन्धित एक उदाहरण दो।

६३—अवधान के विस्तार से क्या अर्थ समझते हो ? इससे सम्बन्ध रखने वाले किसी एक प्रयोग का वर्णन करो।

६४—अवधान-क्रिया के वस्तुगत निर्धारकों का वर्णन करो। क्या वे सब अथवा उनमें से कुछ किसी एक निर्धारक के अन्तर्गत माने जा सकते हैं ? अपने विचार का समर्थन करो।

६५—अवधान-क्रिया के व्यक्तिगत निर्धारकों से क्या अर्थ समझते हो ? वे किस प्रकार वस्तुगत-निर्धारकों से भिन्न होते हैं ? इनमें से कुछ प्रमुख निर्धारकों का वर्णन करो।

६६—प्रत्यक्ष-क्रिया का संवेदना तथा अवधान-क्रिया से अन्तर स्पष्ट करते हुए उसकी परिभाषा की व्याख्या करो।

६७—भ्रान्ति, मरीचिका और प्रत्यक्ष-क्रिया में अन्तर समझाते हुए प्रत्यक्ष-क्रिया का विश्लेषण करो और यह बताओ कि प्रत्यक्ष-क्रिया का कल्पना से क्या सम्बन्ध है।

प्रश्न

६८—प्रत्यक्ष-क्रिया के निर्धारक अंगों से क्या तात्पर्य है ? उदाहरण देकर समझाओ कि उनमें आपस में क्या सम्बन्ध है।

६९—भ्रान्ति किसे कहते हैं ? कुछ साधारण भ्रान्तियों का वर्णन करो और बताओ कि उनसे समग्रता का नियम प्रतिपादित करने में क्या सहायता मिलती है।

७०—प्रत्यक्ष-क्रिया के रचनात्मक अंगों को पृथक् करने, उनका वर्णन करने तथा उनके सम्पादन के नियमों को स्थिर करने से जो 'संगठन के नियम' बने हैं उदाहरण सहित संक्षेप में उनकी व्याख्या करो।

७१—'समग्रता के नियम' से क्या तात्पर्य है ? उदाहरण देकर समर्थन करो।

७२—'चित्र और पृष्ट-भूमि का नियम' उदाहरण देकर भली प्रकार समझाओ। तत्सम्बन्धित अन्य उपनियमों की भी व्याख्या करो।

७३—'सातत्य के नियम' का महत्व प्रदर्शित करते हुए विभिन्न प्रकार के सातत्य की व्याख्या करो।

७४—प्रत्यक्ष-क्रिया के क्रियात्मक निर्धारकों की व्याख्या करो और बताओ कि वे किस प्रकार रचनात्मक निर्धारकों से भिन्न होते हैं।

७५—'अन्तर-प्रत्यक्ष' से क्या तात्पर्य है ? इससे संबन्धित प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक नियम की व्याख्या करो।

७६—'कल्पना क्रिया' से क्या तात्पर्य है ? वह किस प्रकार प्रत्यक्ष-क्रिया से भिन्न होती है, उदाहरण देकर समझाओ।

७७—कल्पना और स्मृति में क्या सम्बन्ध है ? क्या स्मृति को पुनुरुत्पादक कल्पना कह सकते हैं ? क्यों ?

७८—चार्ट द्वारा समझाओ की कल्पना कितने प्रकार की होती है तथा उसके विभिन्न प्रकारों में क्या पारस्परिक अन्तर है ?

७९—प्रतिमा का अवधान तथा प्रत्यक्ष क्रियाओं से क्या सम्बन्ध होता है ? उसकी सीमांओं का संक्षेप में वर्णन करो।

८०—प्रतिमा-क्षेत्र में स्थित व्यक्तिगत अन्तर की व्याख्या करो तथा बताओ कि तुममें किस प्रकार की प्रतिमाओं का बाहुल्य है।

८१—प्रतिमाओं के कितने भेद किए गए हैं ? प्रत्येक का वर्णन करते हुए उनके पारस्परिक अन्तर की व्याख्या करो।

८२—प्रतिमाओं का जीवन में क्या उपयोग होता है ? प्रयोगात्मक समर्थन द्वारा इस तथ्य की व्याख्या करो।

८३—खेल में कल्पना की महत्ता प्रदर्शित करते हुए खेल के विभिन्न सिद्धान्तों की संक्षिप्त समालोचना करो।

८४—कल्पना का जीवन में क्या उपयोग होता है ? संक्षेप में बताओ कि कल्पना-विहीन जीवन कैसा होता ?

८५—अन्वेषण-क्रिया को किस प्रकार कल्पना की कोटि में रक्खा गया है ? अन्वेषण से पूर्व की क्रिया के विभिन्न अंगों की व्याख्या करो।

८६—उदाहरणों की सहायता से कल्पना और कला के घनिष्ट सम्बन्ध की व्याख्या करो। यह कहना कहाँ तक ठीक प्रतीत होता है कि 'कल्पना कला की जननी होती है' ?

८७—सीखने की क्रिया से क्या तात्पर्य है ? जीवन में उसका क्या महत्व है, स्पष्टता पूर्वक समझाओ।

८८—'प्रयत्न और भूल का सीखना' किसे कहते हैं ? इसके अन्तर्गत आने वाले विभिन्न नियमों की संक्षिप्त व्याख्या करो।

८९—'एकत्रित तथा वितरित अभ्यास, से क्या तात्पर्य है ? किस प्रकार का अभ्यास सीखने में अधिक सहायक होता है। और क्यों ?

९०—सापेक्षीकरण के सिद्धान्त की विशद व्याख्या करो और बतलाओ कि इसके द्वारा सीखने में सहायक सामग्री का क्या महत्व है।

९१—सापेक्षीकरण की दिशा, व्यापकता तथा उच्चत्तर की व्याख्या उदाहरणों की सहायता से करो और बताओ कि अच्छी आदतों के निर्माण में इनका किस प्रकार प्रयोग किया जा सकता है।

९२—विपरीत सापेक्षीकरण किसे कहते हैं ? शिक्षा में उसका उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है ?

६३—"अन्तर्दृष्टि द्वारा सीखने" के मूल में प्रत्यक्ष-क्रिया का कौन सा सिद्धान्त आता है ? उदाहरण देकर समझाओ कि सीखने में अन्तर्दृष्टि का क्या स्थान है ?

६४—चित्र खींचकर सीखने की तिर्यक् रेखा की व्याख्या करो ? सीखने की क्रिया पठारों का क्या महत्व है ? उनको पार करने के लिए क्या करना होता है ? क्या 'सीखने की शारीरिक सीमा अथवा सामग्री' से उनका कुछ सम्बन्ध है ?

६५—'समग्र या खण्ड के सीखने' के क्या तात्पर्य हैं ? तुम किस प्रकार के सीखने को अच्छा समझते हो और क्यों ?

६६—धारण के माप करने के क्या उपाय हैं ? उदाहरण देकर समझाओ।

६७—धारण में वैयक्तिक और वस्तुगत भेदों को स्पष्ट कर समझाओ।

६८—विस्मरण के क्या कारण हैं ? उदाहरण देकर स्पष्ट करो। विपरीत विलयन के क्या कारण हैं ?

६६—सीख के स्थानातंरण के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करो।

१००—स्मृति में उन्नति करने के उपाय अपने विचारों के साथ प्रकट करो।

१०१—संवेग के समय व्यक्ति की दशा का वर्णन करो और उस वर्णन के आधार पर संवेग की परिभाषा करो।

१०२—संवेग के सिद्धान्त क्या हैं ? जेम्स-लैगें सिद्धान्त के बारे में तुम्हारा क्या विचार है ?

१०३—संवेगों में व्यक्ति की आन्तरिक शारीरिक क्रियाओं का वर्णन करो।

१०४—संवेगों के नियंत्रण की क्यों आवश्यकता है ? इसके लिए तुम कौन से उपाय निर्धारित करोगे ?

१०५—व्यक्तित्व को प्राणी—वातावरण क्षेत्र क्यों कहा जाता है ?

१०६—व्यक्तित्व का माप करने के लिए तुम कौन से उपाय काम में लाओगे ? सभी उपायों के बारे में अपने विचार भी प्रकट करो।

१०७—व्यक्तित्व के क्या निर्धारक हो सकते हैं? उदाहरण देकर समझाइये।

१०८—'व्यक्तित्व के प्रकार' से तुम क्या समझते हो ? अन्तर्मुखी प्रकार के व्यक्तित्व के लक्षणों का वर्णन करो।

१०९—व्यक्ति के जीवन में वृद्धि और परिपक्वता का क्या कार्य रहता है समझा कर लिखो।

११०—वृद्धि और परिपक्वता के मुख्य स्तरों का वर्णन करो।

१११—वृद्धि और परिपक्वता के बिना क्या सीखना सम्भव हो सकता है उदाहरण देकर समझाओ।

११२—बुद्धि से तुम क्या समझते हो ? बुद्धि जन्मजात होती है या वातावरण से निर्धारित होती है इस पर अपना विचार प्रकट करो।

११३—बुद्धि के विषय में प्रो० स्पियरमैन और प्रो० थर्सटन के मतों का वर्णन करो।

११४—'g' और 's' से तुम क्या समझते हो उदाहरण देकर समझाओ।

११५—बुद्धि किस प्रकार मापी जा सकती है ? बुद्धि परीक्षण क्या है, उदाहरण देकर समझाओ।

११६—बुद्धि परीक्षण के इतिहास का संक्षेप में वर्णन करो।

११७—अल्फ्रेड बिने और टर्मन-मेरिल के बुद्धि परीक्षण सम्बन्धी कार्यों पर प्रकाश डालो।

११८—मानसिक आयु से तुम क्या समझते हो ?

११९—बुद्धि लब्धि से तुम क्या समझते हो ? यह कैसे प्राप्त किया जाता है उदाहरण देकर समझाओ।

१२०—भिन्न भिन्न प्रकार के बुद्धि परीक्षणों का वर्णन करो। अशाब्दिक बुद्धि परीक्षण से क्या लाभ है ?

१२१—अनुबन्धक-गुणक क्या है ? उदाहरण देकर समझाओ।

१२२—प्रचलित बुद्धि परीक्षणों में विश्वसनीयता से तुम क्या समझते हो ?

१२३—बुद्धि परीक्षणों का मान निरूपित कैसे किया जाता है ?

१२४—भारत में बुद्धि परीक्षणों पर जो कार्य हुआ है उसका वर्णन करो।

१२५—वंशानुक्रम से तुम्हारा क्या तात्पर्य है विस्तार पूर्वक वर्णन करो।

१२६—वंशानुक्रम के कार्य में 'जीन' का क्या महत्व है ? उदाहरण देकर समझाओ।

१२७—'कोषाणुओं की अनवरतता' तथा 'प्राकृतिक चुनाव' से तुम क्या समझते हो ?

१२८—मेन्डेल के सिद्धान्त का विस्तार पूर्वक वर्णन करो।

१२९—वातावरण से व्यक्ति कितना प्रभावित होता है ? विस्तार पूर्वक वर्णन करो।

१३०—व्यक्ति के जीवन में कुटुम्ब तथा स्कूल का जो महत्व है उसकी व्याख्या करो।

१३१—वंशानुक्रम और वातावरण के प्रश्न की आधुनिक स्थिति का सिंहावलोकन करो।

१३२—चेतना का क्या स्वरूप है ? चेतना की अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।

१३३—साहचर्य का क्या तात्पर्य है ?

१३४—अचेतन मन की प्रबल वासनाओं पर फ्रायड, एडलर और युंग के विचारों का वर्णन कीजिए।

१३५—सांकेतिक भावों की स्थिति और उपयोगिता का वर्णन कीजिए।

१३६—कुछ मानसिक रोगों और उनकी चिकित्सा का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

१३७—आवश्यकता किसे कहते हैं ? प्रमुख आवश्यकताओं पर प्रकाश डालिए।

१३८—आवश्यकताओं की माप की विविध विधियों का उल्लेख कीजिए।

१३९—व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर आवश्यकताओं का क्या प्रभाव पड़ता है ?

१४०—चिन्तन किसे कहते हैं? चिन्तन के कितने साधन हैं? सबसे विशुद्ध कौन साधन है ?

१४१—चिन्तन करने के विविध ढंगों का सोदाहरण वर्णन कीजिए।

१४२—चिन्तन में भाषा का स्थान निर्दिष्ट कीजिए।

१४३—स्वप्न क्या है ? स्वप्न के विभिन्न सिद्धान्तों का उदाहरण सहित वर्णन कीजिए।

१४४—स्वप्न के क्या कारण हैं ?

१४५—स्वप्न की उपयोगिता का मूल्यांकन कीजिए।

